खण्ड – 01

इकाई1.काव्यशास्त्रीय परम्परा एवं आचार्य मम्मट का अवदान

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 काव्यशास्त्रीय परम्परा एवं आचार्य मम्मट का अवदान

1.4 सारांश

1.5 शब्दावली

1.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.8 उपयोगी पुस्तकें

1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

काव्यशास्त्र से सम्बन्धित खण्ड एक की यह पहली इकाई है। इस इाकई के अध्ययन से आप बता सकते हैं कि काव्यशास्त्रीय परम्परा का उद्‌भव किस प्रकार हुआ । इसमें मनुष्य के जीवन की प्रेरणादायी बातों का उल्लेख हुआ है। काव्यशास्त्रीय परम्परा में वैदिक साहित्य से लेकर विक्रम से लगभग 500 वर्ष पूर्व पाणिनि के काल तक अलङ्‌कार शास्त्र की स्थिति पर विचार किया जाता है ।

परन्तु इस काल में अलङ्‌कार शास्त्र के मौलिक तत्त्वों का पर्याप्त मात्रा में उल्लेख मिलते हुए भी उसका सुश्लिष्ट शास्त्रीय निरूपण प्राप्त नहीं होता है। उसका शास्त्रीय निरूपण मुख्यतः भरतमुनि से प्रारम्भ होता है। भरतमुनि का काल प्रायः विक्रम से 2 शताब्दी पूर्व से लेकर 2 शताब्दी बाद तक के बीच में विभिन्न विद्वानों द्वारा नियत किया गया है। इस प्रकार विक्रम से दो शताब्दी पूर्व से लेकर 18 वीं शताब्दी तक के पण्डितराज जगन्नाथ, आशाधर भट्ट और अलङ्‌कार कौस्तुभकार विश्वेश्वर पण्डित तक अलङ्‌कार शास्त्र के साहित्य का निर्माण होता रहा है।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप काव्यशास्त्रीय परम्परा एवं आचार्य मम्मट का काव्यशास्त्रीय अवदान जानकर –

- कालविभाग के विषय में बता सकेंगे ।
- प्रारम्भिक काल के विषय में बता सकेंगे।
- रचनात्मक काल के विषय में बता सकेंगे।
- व्याख्याकाल के विषय में बता सकेंगे ।

1.3 काव्यशास्त्रीय परम्परा एवं आचार्य मम्मट का अवदान

काल विभाजन

वैदिक साहित्य से लेकर विक्रम से लगभग 500 वर्ष पूर्व पाणिनि के काल तक अलङ्‌कार शास्त्र की स्थिति पर पिछली पंक्तियों में विचार किया। परन्तु इस काल में अलङ्‌कार शास्त्र के मौलिक तत्त्वों का पर्याप्त मात्रा में उल्लेख मिलते हुए भी उसका सुश्लिष्ट शास्त्रीय निरूपण प्राप्त नहीं होता है। उसका शास्त्रीय निरूपण मुख्यतः भरतमुनि से प्रारम्भ होता है। भरतमुनि का काल प्रायः विक्रम से 2 शताब्दी पूर्व से लेकर 2 शताब्दी बाद तक के बीच में विभिन्न विद्वानों द्वारा नियत किया जाता है। इस प्रकार विक्रम से दो शताब्दी पूर्व से लेकर 18वीं शताब्दी तक के पण्डितराज जगन्नाथ, आशाधर भट्ट और अलङ्‌कार कौस्तुभकार विश्वेश्वर पण्डित तक अलङ्‌कार शास्त्र के साहित्य का निर्माण होता रहा है। विक्रम से पूर्व द्वितीय शताब्दी से लेकर 18वीं शताब्दी तक लगभग 2 हजार वर्ष के बीच में अलङ्‌कार शास्त्र का इतिहास फैला हुआ है। इस काल का विभाजन कई प्रकार से विद्वानों ने किया है। अधिकांश विद्वानों ने इस काल को चार भागों में विभक्त किया है –

1. प्रारम्भिक काल (अज्ञात काल से लेकर भामह तक)

2.रचनात्मक काल (भामह से लेकर आनन्दवर्धन तक, अर्थात् 600 विक्रमी से 800 विक्रमी तक)

3.निर्णयात्मक काल (आनन्दवर्धन काल से लेकर मम्मट तक, अर्थात् 800 विक्रमी से 1000 विक्रमी तक)

4.व्याख्या काल (मम्मटकाल से जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर पण्डित तक, अर्थात् 1000 विक्रमी से 1750 विक्रमी तक)

1.प्रारम्भिक काल

इन चार काल विभागों में पहला–प्रारम्भिक काल है। यह अज्ञात काल से प्रारम्भ होकर 7वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भामह तक आता है। इस काल में मुख्य रूप से भरत और भामह दो ही मुख्य आचार्य पाये जाते हैं। भरत का 'नाट्यशास्त्र' ग्रन्थ साहित्य शास्त्र का मुख्य ग्रन्थ है उसमें रस और नाटक के सूक्ष्म तत्त्वों का विवेचन बहुत सुन्दर रूप से किया गया है। परन्तु वह सब मूलभूत है, बीज भूत है। आगे उसका विस्तार अन्य आचार्यो ने किया है। 'नाट्यशास्त्र' के 16वें अध्याय में केवल 4 अलङ्कार, 10 गुण और 10 दोषों का ही विवेचन किया गया है जो अलङ्कार शास्त्र की दृष्टि से एक रूप रेखामात्र ही कहा जा सकता है।

भरत के बाद मेधावी रुद्र आदि उनके कुछ टीकाकार हुए हैं पर उनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते हैं। उनके बाद वास्तव में भामह ही अलङ्कार शास्त्र के प्रथम आचार्य पाये जाते हैं और उनका 'काव्यालङ्कार' ग्रन्थ अलङ्कार शास्त्र का मुख्य ग्रन्थ कहा जा सकता है। इसमें इन्होंने भरत के चार अलङ्कारों के स्थान पर 38 स्वतन्त्र अलङ्कारों का विवेचन किया है। भट्टिकाव्य के निर्माता भट्टि ने इसी के आधार पर अपने ग्रन्थ में अलङ्कारों का निरूपण किया है।

2.रचनात्मक काल

साहित्य शास्त्र का दूसरा महत्त्वपूर्ण काल रचनात्मक काल है जो भामह (600 विक्रमी) से लेकर आनन्दवर्धन (800 विक्रमी) तक 200 वर्षों में फैला हुआ है। इस रचनात्मक काल में साहित्य शास्त्र के आगे कहे जाने वाले अलङ्कार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, रस सम्प्रदाय तथा ध्वनि सम्प्रदाय चारों मुख्य सम्प्रदायों के मौलिक ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। इन चारों सम्प्रदायों के मौलिक साहित्य का निर्णय करने वाले आचार्य इस काल में ही हुए हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं –

1. अलङ्कार सम्प्रदाय – भामह, उद्भट, रुद्रट
2. रीति सम्प्रदाय – दण्डी, वामन
3. रस सम्प्रदाय – लोल्लट, शङ्कुक और भट्टनायक आदि
4. ध्वनि सम्प्रदाय – आनन्दवर्धन

यह काल साहित्य शास्त्र की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसमें जहाँ एक ओर भामह, उद्भट तथा रुद्रट ने काव्य के बाह्य अलङ्कारों का निरूपण किया, वहाँ दूसरी ओर दण्डी और वामन ने काव्य की रीति और उसके गुणों की विवेचना की। भरत नाट्यशास्त्र प्रसिद्ध 'रससूत्र' की व्याख्या करने वाले लोल्लट, शङ्कुक और भट्टनायक आदि ने नाट्यशास्त्र पर टीका लिखकर 'रससिद्धान्त' को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया और इसी काल में आनन्द वर्धनाचार्य ने अपना 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ लिखकर ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना की।

3.निर्णयात्मक काल

आनन्दवर्धन से लेकर मम्मट तक साहित्य शास्त्र का तीसरा महत्त्वपूर्ण काल है जो निर्णयात्मक काल के नाम से प्रसिद्ध है। यह काल 800 विक्रमी से लेकर 1000 विक्रमी तक दो सौ वर्षो के बीच फैला हुआ है। 'ध्वन्यालोक' की प्रसिद्ध टीका 'लोचन' एवं 'नाट्यशास्त्र' की 'अभिनवभारती' टीका के निर्माता अभिनवगुप्त, वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक, व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट इस युग के ग्रधान आचार्य हैं। इनमें से कुन्तक पाँचवे वक्रोक्ति सम्प्रदाय के संस्थापक हैं और महिम भट्ट ध्वनि सिद्धान्त के कट्टर विरोधी हैं। कुन्तक का 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ वक्रोक्ति सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला उत्कृष्ट ग्रन्थ है और महिमभट्ट का 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ ध्वनि सिद्धान्त का आमूल खण्डन करने वाला उच्च कोटि का ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त रुद्रभट्ट, भोजराज तथा धनिक धनञ्जय भी इसी काल के उज्ज्वल रत्न हैं।

4.व्याख्या काल

साहित्य शास्त्र का चौथा महत्त्वपूर्ण काल व्याख्या काल के नाम से प्रसिद्ध है जो मम्मट से लेकर जगन्नाथ और विश्वेश्वर पण्डित तक अर्थात् 1000 से लेकर 1750 तक लगभग 7) सौ वर्षों में फैला हुआ है। यह सबसे लम्बा काल है। इसमें अनेक आचार्य हुए जिनमें से हेमचन्द्र, विश्वनाथ और जयदेव आदि ने काव्य की सर्वाङ्गपूर्ण विवेचना की है और साहित्य के सम्पूर्ण विषयों को लेकर अपने ग्रन्थों की रचना की है। रुय्यक तथा अप्पय्यदीक्षित आदि ने केवल अलङ्कारों के विवेचन में ही अपनी शक्ति का व्यय किया है। शारदातनय, शिङ्गभूपाल तथा भानुदत्त आदि ने इस सिद्धान्त के विवेचन में श्लाघनीय प्रयत्न किया है। गौडीय, वैष्णव आचार्य रूपगोस्वामी का सहयोग भी इस कार्य में श्लाघनीय रहा है। राजशेखर, क्षेमेन्द्र, अमरचन्द्र आदि ने कवि शिक्षा के विषय पर अपने ग्रन्थों का निर्माण किया है। इस काल के आचार्यों का वर्गीकरण हम विविध सम्प्रदायों के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रकार कर सकते हैं –

1. ध्वनि सम्प्रदाय – मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, हेमचन्द्र तथा विद्याधर, विद्यानाथ, जयदेव तथा अप्पय्यदीक्षित आदि।
2. रस सम्प्रदाय – शारदातनय, शिङ्गभूपाल, भानुदत्त, रुपगोस्वामी आदि।
3. कवि–शिक्षा – राजशेखर, क्षेमेन्द, अरिसिंह, अमरचन्द्र, देवेश्वर आदि।
4. अलङ्कार सम्प्रदाय – पण्डितराज जगन्नाथ, विश्वेश्वर पाण्डेय आदि।

प्रकारान्तर से कालविभाग

यह एक शैली से काल विभाजन किया गया है, जिसमें साहित्य शास्त्र के दो हजार वर्ष के लम्बे इतिहास को चार भागों में विभक्त किया है। दूसरे विद्वानों ने ध्वनि सिद्धान्त को साहित्य शास्त्र का मुख्य सिद्धान्त मानकर इस काल को तीन भागों में विभक्त किया है –

1. पूर्व ध्वनिकाल – प्रारम्भ से आनन्दवर्धन (800 विक्रमी) तक
2. ध्वनिकाल – आनन्दवर्धन (800 विक्रमी) से मम्मट (1000 विक्रमी) तक
3. पश्चात ध्वनिकाल – मम्मट (1000 विक्रमी) से जगन्नाथ (1750 विक्रमी) तक

साहित्य शास्त्र के सम्प्रदाय

कालविभाग के उपर्युक्त प्रकरण में ध्वनिसम्प्रदाय, रससम्प्रदाय आदि कुछ सम्प्रदायों की चर्चा आयी है। इन सम्प्रदायों की स्थापना काव्यात्मभूत तत्त्व के विषय में मतभेद के कारण हुई है। जो लोग रस को काव्य का आत्मा मानते हैं वे रस सम्प्रदाय के अन्तर्गत हैं। जो अलङ्कारों को ही काव्य का आत्मा मानते हैं वे अलङ्कार सम्प्रदाय के अनुयायी कहे जाते हैं। इसी प्रकार 'रीतिरात्मा काव्यस्य', रीति को ही काव्य का आत्मा मानने वाले रीति सम्प्रदाय के अन्तर्गत आते हैं। 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः', ध्वनि को काव्य का आत्मा मानने वाले ध्वनि सम्प्रदाय के अनुयायी तथा 'वक्रोतिः काव्यजीवितम्', वक्रोक्ति को काव्य का आत्मा मानने वाले वक्रोक्ति सम्प्रदाय के अनुयायी कहे जाते हैं। इस प्रकार साहित्य शास्त्र में प्रायः (1) रस सम्प्रदाय, (2) अलङ्कार सम्प्रदाय, (3) रीति सम्प्रदाय, (4) वक्रोक्ति सम्प्रदाय तथा (5) ध्वनि सम्प्रदाय ये पॉच सम्प्रदाय पाये जाते हैं। भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक लगभग दो हजार वर्षों में साहित्य शास्त्र में जितने आचार्य हुए हैं वे प्रायः इन्हीं सम्प्रदायों में से किसी–न–किसी सम्प्रदाय में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं।

1.रस सम्प्रदाय

इन पाँचों सम्प्रदायों में से सबसे मुख्य तथा प्राचीन सम्प्रदाय कदाचित् रस सम्प्रदाय है। रस सम्प्रदाय के संस्थापक भरतमुनि हैं। यद्यपि राजशेखर ने अपनी 'काव्य मीमांसा' में भरत से भी पहले नन्दिकेश्वर को रस सिद्धान्त का प्रतिष्ठापक माना है, किन्तु नन्दिकेश्वर का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इसलिए उपलब्ध साहित्य के आधार पर साहित्य शास्त्र के पितामह भरत को ही रस सम्प्रदाय का संस्थापक माना जाता है। रस के विषय में सबसे पहिला विवेचन भरत के 'नाट्य शास्त्र' में ही पाया जाता है।

भरतमुनि का 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' यह प्रसिद्ध रस सूत्र ही रस सिद्धान्त का प्राणभूत है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसी के आधार पर रस का विवेचन किया है। इसलिए भरतमुनि को ही रस सम्प्रदाय का आदिप्रवर्तक मानना होगा।
भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' के छठे अध्याय में रसों का और सातवें अध्याय में भावों का बहुत विस्तार के साथ सिवेचन किया है। यही रस सिद्धान्त का आधार है।

भरतमुनि के रस सिद्धान्त के व्याख्याकार के रूप में भट्टनायक, भट्टलोल्लट, शङ्कुक, अभिनव गुप्त आदि पाँच आचार्य बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके मतों की चर्चा प्रकृत ग्रन्थ 'काव्य प्रकाश' में की गयी है। उनके मतों का अन्तर क्या है इसे 'काव्यप्रकाश' की प्रकृत टीका में दिखलाया गया है, उसे वहीं से देखना चाहिये। 'काव्यप्रकाश' का यह सारा विवरण भरत नाट्यशास्त्र की 'अभिनव भारती' टीका के आधार पर दिया है।

2.अलङ्कार सम्प्रदाय

रस सम्प्रदाय के बाद दूसरा स्थान अलङ्कार सम्प्रदाय का है। कालक्रम से भरत के बाद होने वाले दूसरे आचार्य भामह इस अलङ्कार सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके व्याख्याकार 'भामह विवरण' के निर्माण उद्भट और उनके बाद हुए दण्डी, रुद्रट आदि और पश्चाद्वर्ती प्रतिहारेन्दुराज तथा जयदेव आदि अनेक आचार्य इस अलङ्कार सम्प्रदाय के अन्तर्गत आ जाते हैं। अलङ्कार सम्प्रदाय के अनुयायी भी रस की सत्ता मानते हैं किन्तु उसे प्रधानता नहीं देते हैं।उनके मत में काव्य का प्राणभूत जीवनाधायक तत्त्व अलङ्कार ही है।अलङ्कार विहीन काव्य की कल्पना वैसी ही है जैसे उष्णताविहीन अग्नि की कल्पना।'चन्द्रालोक' के निर्माता जयदेव ने काव्य प्रकाशकार के काव्य लक्षण में आये 'अनलङ्कृति पुनः क्वापि', अर्थात् 'कहीं–कहीं' अलङ्कारहीन शब्दार्थ भी काव्य हो सकते हैं' इस अंश पर कटाक्ष करते हुए लिखा है –

'अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।।'

अर्थात् काव्य प्रकाशकार जो अलङ्कारविहीन शब्द और अर्थ को काव्य मानते हैं, वे उष्णताविहीन अग्नि की सत्ता क्यों नहीं मानते ? अलङ्कार सम्प्रदायवादी, काव्य में अलङ्कारों को ही प्रधान मानते हैं और इसका अन्तर्भाव रसवदलङ्कारों में करते हैं। रसवत्, प्रेय, ऊर्जास्विन् और समाहित, चार प्रकार के रसवदलङ्कार माने जाते हैं। भामह और दण्डी दोनों ने इन रसवदलङ्कारों के भीतर ही रस का अन्त अन्तर्भाव किया है –

'रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृङ्गारादिरसं यथा।–भामह, काव्यालङ्कार 3–6
'मधुरे रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।'–दण्डी, काव्यादर्श 3–51

3.रीति सम्प्रदाय

कालक्रम में अलङ्कार सम्प्रदाय के बाद रीति सम्प्रदाय का स्थान आता है। रीति सम्प्रदाय के संस्थापक भामह के बाद होने वाले वामन हैं। वामन ने काव्य में अलङ्कार की प्रधानता के स्थान पर रीति की प्रधानता का प्रतिपादन किया है। ''रीतिरात्मा काव्यस्य'' यह उनका प्रमुख सिद्धान्त है। इसीलिए उन्हें रीति सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना जाता है। रीति क्या है इसका विवेचन करते हुए उन्होंने 'विशिष्ट पदरचना रीतिः' अर्थात् विशिष्ट पदरचना का नाम 'रीति' है यह लक्षण किया है। आगे उस 'विशेष' की व्याख्या करते हुए 'विशेषो गुणात्मा' अर्थात् रचना में माधुर्यादि गुणों का समावेश ही उसकी विशेषता है और यह विशेषता ही 'रीति' है। इस प्रकार इस सिद्धान्त में 'गुण' और 'रीति' का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है इसलिए रीति सम्प्रदाय को 'गुण सम्प्रदाय' के नाम से भी कहा जाता है।

वामन ने 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः' तथा तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः' इन दो सूत्रों को लिखकर गुण तथा अलङ्कारों का भेद प्रदर्शित करते हुए अलङ्कारों की अपेक्षा गुणों के विशेष महत्त्व को प्रदर्शित किया है। गुण काव्य शोभा के उत्पादक होते हैं। अलङ्कार केवल उस शोभा के अभिवर्द्धक होते हैं इसलिए काव्य में अलङ्कारों की अपेक्षा गुणों का स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए वामन ने अलङ्कारों की प्रधानता को समाप्त कर गुणों की प्रधानता का प्रतिपादन करने वाले

रीति सम्प्रदाय की स्थापना की। मम्मट आदि उत्तरवर्ती आचार्यों ने 'रीति' की उपयोगिता तो स्वीकार की है किन्तु उसे काव्य का आत्मा स्वीकार नहीं किया है। उनके मत में **'रीतयोवयवसंस्थानविशेषवत्'**, काव्य में रीतियों की स्थिति वैसी ही है जैसे शरीर में आँख, नाक, कान आदि अवयवों की। इन अवयवों की रचना शरीर के लिए उपयोगी भी है और शरीर शोभा की जनक भी है फिर भी उसे आत्मा का स्थान नहीं दिया जा सकता है। इसी प्रकार काव्य में 'रीति' का महत्त्व तथा शोभाजनकत्व होने पर भी उसे काव्य का आत्मा नहीं कहा जा सकता है।

4.वक्रोक्ति सम्प्रदाय—कालक्रम से वामन के रीति सिद्धान्त के बाद उसको दबाकर

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के संस्थापक वक्रोक्ति जीवितकार कुन्तक माने जाते हैं। कुन्तक ने काव्य में रीति की प्रधानता को समाप्त कर 'वक्रोक्ति' की प्रधानता की स्थापना की। वैसे काव्य में 'वक्रोक्ति' का मूल्य भामह ने स्वीकार किया है —

'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरयार्थो विभाव्यते।

यत्नोस्यां कविना कार्यः कोलङ्कारोनया विना।।'—भामह, काव्यालङ्कार 2—85

इसी प्रकार दण्डी ने 'भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्' (काव्यादर्श, 2—363) लिखकर वक्रोक्ति के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। और वामन ने भी 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' (काव्यालङ्कारसूत्र, 4—3—8 की वृत्ति) लिखकर काव्य में 'वक्रोक्ति' का स्थान माना है। किन्तु उन सब के मत से वक्रोक्ति सामान्य अलङ्कारादिरूप ही है। कुन्तक ने वक्रोक्ति को जो गौरव प्रदान किया है वह उन आचार्यों ने नहीं दिया है। इसलिए कुन्तक ही इस सम्प्रदाय के संस्थापक माने जाते हैं। उन्होंने इस वक्रोक्ति सिद्धान्त के ऊपर भी 'वक्रोक्तिजीवित' नामक अपने विशाल एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है।

वक्रोक्तिजीवितकार ने अपने पूर्ववर्ती रीति सिद्धान्त को भी परिमार्जित करके अपने यहाँ स्थान दिया है। वामन की पाञ्चाली, वैदर्भी, गौडी आदि 'रीतियाँ' देश भेद के आधार पर मानी जाती थीं। कुन्तक ने उनका आधार देश को न मानकर रचना शैली को माना है और उनके लिए 'रीति' के स्थान पर 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है। वामन की वैदर्भी रीति को कुन्तक 'सुकुमार मार्ग' कहते हैं। इसी प्रकार गौडी रीति को 'विचित्रमार्ग तथा पाञ्चाली रीति को 'मध्यम मार्ग' नाम से कहते हैं।

5.ध्वनि सम्प्रदाय

कालक्रम से वक्रोक्ति सम्प्रदाय के बाद ध्वनि सम्प्रदाय का उदय हुआ। इस सम्प्रदाय के संस्थापक आनन्दवर्धनाचार्य माने जाते हैं। इनके मत में 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः', काव्य की आत्मा ध्वनि है। इन सभी सम्प्रदायों में ध्वनि सम्प्रदाय सबसे अधिक प्रबल एवं महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय रहा है। यों इसके विरोध में भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये, किन्तु उस विरोध से ध्वनि सिद्धान्त वैसा ही अधिकाधिक चमकता गया जैसे अग्नि में तपाने पर स्वर्ण की कान्ति बढ़ती जाती है। ध्वनि सिद्धान्त के विरोध में वैयाकरण, साहित्यक, वेदान्ती, मीमांसक, नैयायिक सभी ने आवाज उठायी, किन्तु अन्त में काव्य प्रकाशकार मम्मट ने बड़ी प्रबल युक्तियों द्वारा उन सबका खण्डन करके ध्वनि सिद्धान्त की पुनः स्थापना की। इसीलिए उनको 'ध्वनि प्रतिष्ठापक परमाचार्य' कहा जाता है।

भरत से लेकर पण्डित राज जगन्नाथ तक लगभग दो हजार वर्षों के दीर्घकाल के भीतर इन सम्प्रदायों का विकास और सङ्घर्ष होता रहा है। इस बीच में लगभग चालीस—पैंतालीस मुख्य आचार्यों ने इस साहित्यिक विकास के कार्य में अपना योगदान किया है। उनका परिचय इस सारे सङ्घर्ष एवं विकास को समझने में उपयोगी होगा; इसलिए निम्नलिखित पंक्तियों में हम साहित्य शास्त्र के उन प्रमुख आचार्यों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करने का यत्न करते हैं।

आचार्य मम्मट का अवदान

आचार्य मम्मट ने काव्य—लक्षण का नया दृष्टिकोण उपस्थित किया है, जिसका प्राचीन लक्षणों में इतना स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया था। पूर्व लक्षणकारों ने काव्य के शरीर

'शब्द तथा अर्थ, उसकी आत्मा रीति, रस या ध्वनि उसके अलङ्कारों की चर्चा तो अपने लक्षणों में की थी, परन्तु गुण दोष की चर्चा नही की थी। मम्मट इस दोष तथा गुण के प्रश्न को सामने लाये हैं और वह बड़ा आवश्यक प्रश्न है। कितना ही सुन्दर काव्य हो पर उसमें यदि एक भी उत्कट दोष आ जाता है तो वह उसके गौरव को कम कर देता है। महाकवि कालिदास ने – **'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्द्रोः किरणेष्विवाङ्कः।**'कहकर चन्द्रमा के सौन्दर्य के भीतर उसके कलङ्क के दब जाने की बात कही है। उनके अनुसार चन्द्रमा का कलङ्क कितना ही दब गया हो परन्तु देखने वाले को वह सबसे पहले खटकता है। इसी प्रकार काव्य का दोष उसके गौरव को कम करने वाला हो जाता है। इसलिए मम्मट ने गुण और अलङ्कारों की चर्चा करने से पहले दोष की चर्चा की है ।

अभ्यास प्रश्न .

अति लघु–उत्तरीय प्रश्न

1–प्रश्न–अधिकांश विद्वानों ने अलङ्कार शास्त्र को कितने भागों में विभक्त किया है?

2–प्रश्न–प्रारम्भिक काल कब से कब तक होता है?

3–प्रश्न–रचनात्मक काल कब से कब तक होता है ?

4–प्रश्न–निर्णयात्मक काल कब से कब तक होता है?

5–प्रश्न–व्याख्या काल कब से कब तक होता है?

1.4 सारांश

इस इकाई में काव्यशास्त्रीय परम्परा एवं आचार्य मम्मट का अवदान वामन के रीति सिद्धान्त के बाद उसको दबाकर वक्रोक्ति सम्प्रदाय के संस्थापक वक्रोक्ति जीवितकार कुन्तक माने जाते हैं। कुन्तक ने काव्य में रीति की प्रधानता को समाप्त कर 'वक्रोक्ति' की प्रधानता की स्थापना की।वक्रोक्तिजीवितकार ने अपने पूर्ववर्ती रीति सिद्धान्त को भी परिमार्जित करके अपने यहाँ स्थान दिया है। वामन की पाञ्चाली, वैदर्भी, गौडी आदि 'रीतियाँ' देश भेद के आधार पर मानी जाती थीं। कुन्तक ने उनका आधार देश को न मानकर रचना शैली को माना है और उनके लिए 'रीति' के स्थान पर 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है। वामन की वैदर्भी रीति को कुन्तक 'सुकुमार मार्ग' कहते हैं। इसी प्रकार गौडी रीति को 'विचित्रमार्ग तथा पाञ्चाली रीति को 'मध्यम मार्ग' नाम से कहते हैं।

1.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
सैषा	वह यह
सर्वत्र	सब जगह
यत्नोस्याम्	इस यत्न में
कविना	कवि के द्वारा
कार्यः	कार्य
कोलङ्कारः	कौन सा अलंकार
अनया विना	इसके विना

1. 6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. उत्तर – अधिकांश विद्वानों ने अलङ्कार शास्त्र को चार भागों में विभक्त किया है।
2. उत्तर – प्रारम्भिक काल अज्ञात काल से लेकर भामह तक होता है।
3. उत्तर – रचनात्मक काल भामह से लेकर आनन्दवर्धन तक, होता है।
4. उत्तर– निर्णयात्मक काल आनन्दवर्धन काल से लेकर मम्मट तक,होता है।
5. उत्तर– व्याख्या काल मम्मटकाल से जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर पण्डित तक ,होता है।

1. 7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1 –ग्रन्थ नाम लेखक प्रकाशक
शिवराजविजय अम्बिकादत्तव्यास चौखम्भा सुर भारती वाराणसी
2–संस्कृत साहित्य का इतिहास बलदेव उपाध्याय प्रकाशक शारदा निकेतन
वी, कस्तुरवानगर सिगरा वाराणसी
3– किरातार्जुनीयम् भारवि चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी
4–काव्यप्रकाश आचार्य मम्मट चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी

1.8 उपयोगी पुस्तकें

4. काव्यप्रकाश ,विश्वेश्वर आचार्य मम्मट चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी

1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. ध्वनि सम्प्रदाय का परिचय दीजिये ।
2. रीति सम्प्रदाय पर प्रकाश डालिये ।

इकाई 2.काव्यप्रयोजन ,काव्यलक्षण एवं काव्य हेतु की विस्तृत व्याख्या

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 काव्यप्रयोजन ,काव्यलक्षण एवं काव्य हेतु की विस्तृत व्याख्या

1.3.1 काव्य प्रयोजन

1.3.2 काव्य लक्षण

1.3.3 काव्य हेतु

1.4 सारांश

1.5 शब्दावली

1.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.8 उपयोगी पुस्तकें

1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

काव्यशास्त्र से सम्बन्धित खण्ड एक की यह दूसरी इकाई है। इस इाकई के अध्ययन से आप बता सकते है कि यहाँ (इस विवेचन में) कहा जाने वाला (काव्य का लक्षण, उसके भेद, गुण, दोष, अलङ्कार आदि रूप) विषय (रसास्वादन आदि रूप काव्य के फलों की सिद्धि का प्रधान साधन होने से) सप्रयोजन हैं।

काव्य का निर्माण कवि को कालिदास आदि के समान यश की प्राप्ति कराता है। नैषध महाकाव्य के प्रणेता महाकवि श्री हर्ष से नहीं, अपितु 'रत्नावली नाटिका' के प्रणेता राजा श्री हर्ष आदि से धावक आदि (पण्डितों) के समान काव्य निर्माण धन की प्रप्ति कराता है और काव्यों के अध्ययन करने से पढ़ने वालों को वर्णित राजा आदि के साथ अन्य लोगों के व्यवहार,राजा आदि के साथ किये जाने योग्य आचार का परिज्ञान कराता है।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप काव्यप्रयोजन काव्यलक्षण, एवं काव्यहेतु की जानकारी करने के बाद।

- काव्य के प्रयोजन के विषय में समझा सकेंगे ।
- काव्य के लक्षण के विषय में समझा सकेंगे ।
- काव्य हेतु के विषय में बता सकेंगे ।
- मम्मट के काव्य–लक्षण की विस्तृत व्याख्या बता सकेगें ।

1.3 काव्यप्रयोजन ,काव्यलक्षण एवं काव्य हेतु की विस्तृत व्याख्या

1.3.1 काव्य प्रयोजन

आचार्य मम्मट नें ही सभी आचार्यों की अपेक्षा काव्य का समन्वयवादी प्रयोजन निरूपित किया है, मंगलाचरण के पश्चात् काव्यप्रकाश में काव्य के प्रयोजनों बताते हुए कहा गया है –

काव्यं यशसेर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।।2।।

कालिदासादीनामिव यशः, श्रीहर्षदेर्धावकादीनामिव धनम्, राजादिगतोचिताचारपरिज्ञानम्, आदित्यादेर्मयूरादीनामिवनार्थनिवारणम्, सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादन–समुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्, प्रभुसम्मितशब्द प्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कविकर्म तत् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखी कृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम्।। 2।।

अर्थात् काव्य यश का जनक, अर्थ का उत्पादक,लोक –व्यवहार का बोधक, (शिव अर्थात् कल्याण, शिवेतर अर्थात् उससे भिन्न) अनिष्ट का नाशक, पढ़ने (या सुनने, देखने आदि) के साथ ही (सद्यः) परम आनन्द को देने वाला और स्त्री के समान (सरस रूप से कर्तव्याकर्तव्य का) उपदेश प्रदान करने वाला होता है।।2।।

(काव्य का निर्माण कवि को) कालिदास आदि के समान यश की प्राप्ति, नैषध महाकाव्य के प्रणेता महाकवि श्री हर्ष से नहीं, अपितु 'रत्नावली नाटिका' के प्रणेता राजा) श्री हर्ष आदि से धावक आदि (पण्डितों) के समान धन की प्राप्ति कराता है और काव्यों के अध्ययन करने से पढ़ने वालों को वर्णित राजा आदि के साथ अन्य लोगों के व्यवहार को पढ़ने या नाटक आदि में देखने के द्वारा काव्य ही राजा आदि के साथ किये जाने योग्य आचार का परिज्ञान कराता है। इसी प्रकार काव्य निर्माण सूर्य आदि की स्तुति से

'मयूर' (कवि) आदि (के कुष्ठ–निवारण) के समान अनर्थ का निवारण करता है और इन समस्त प्रयोजनों में मुख्य ,काव्य के पढ़ने या सुनने के बाद सद्यः तुरन्त ही रस के आस्वादन से समुत्पन्न और अन्य सब विषयों के परिज्ञान से शून्य परम आनन्द की अनुभूति, तथा राजा की आज्ञा के समान शब्द–प्रधान वेद आदि शास्त्रों से विलक्षण, मित्र वचन के समान अर्थ–प्रधान पुराण और इतिहास आदि से विलक्षण, शब्द तथा अर्थ दोनों के गुणी भाव के कारण रस के साधक (व्यञ्जन) व्यापार की प्रधानता के द्वारा, वेद शास्त्र–पुराण–इतिहास आदि से विलक्षण, जो लोकोत्तर वर्णन–शैली में निपुण कवि का कर्म अर्थात् काव्य है वह स्त्री के समान सरसता के साथ सरस बनाकर राम आदि के समान आचरण करना चाहिये,रावण आदि के समान नहीं, यह यथायोग्य उपदेश (आवश्यकतानुसार) कवि तथा सहृदय पाठक आदि दोनों को कराता है। इसलिए काव्य की रचना करने तथा उसके अध्ययन में अवश्य प्रयत्न करना चाहिये।।2।। उपर्युक्त वाक्य का अर्थ समझने के लिए उसका विश्लेषण करना आवश्यक है। वाक्य में क्रियापद 'करोति' लगभग वाक्य के अन्त में आया है। इस क्रिया के कर्म–पद यशः, धनम्, आचार–परिज्ञानम्, अनर्थनिवारणम्, आनन्दम, उपदेशं च ये 6 हैं। इन सबके साथ उपमा और विशेषण जुड़े हुए हैं। विशेष रूप से आनन्द के साथ सकलप्रयोजनमौलिभूतम्', 'रसास्वादनसमुद्भूतम्' और 'विगलितवेद्यान्तरम्' ये तीन विशेषण जुड़े हुए हैं वाक्य में 'काव्यम्' पद कर्तृपद है। किन्तु उसके साथ 'वेदादिशास्त्रेभ्यः पुराणादीतिहासेभ्यश्च विलक्षणं' इन विशेषणों को जोड़कर 'यत् काव्यं तत्', यह कर्तृपद बनता है।इन विशेषणों के साथ भी दूसरे विशेषण हुड़े हुए हैं' प्रभुसम्मित शब्दप्रधान वेदादिशास्त्रेभ्यः (विलक्षणं)सुहृत् सम्मितार्थ तात्पर्यवत् पुराणादीतिहासेभ्यश्च (विलक्षणं) यत् काव्यं तत्–यशः, धनम्, आचार परिज्ञानम्, अनर्थनिवारणम्, उपदेशं च करोति' यह वाक्य बनता है। वेद–शास्त्र–इतिहास–पुराणादि से काव्य की विलक्षणता दिखलाने के लिए पूर्वोक्त विशेषणों के अतिरिक्त 'शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया' पद तथा 'उपदेशं' इस कर्मपद के साथ 'कान्तेव सरसतापादेननाभिमुखीकृत्य' पद में इतिकर्तव्यता भी समाविष्ट हो गयी है। फलतः इस वाक्य की रचना बड़ी दुरूह और क्लिष्ट हो गयी है। बिना टीका के इसका अर्थ समझना कठिन है। मम्मटाचार्य ने पूरे ग्रन्थ में इसी प्रकार की रचना शैली को अपनाया है।

त्रिविध शैली में उपदेश

मम्मटाचार्य ने इस कारिका में काव्य के छह प्रयोजन दिखलाये हैं। इसमें से 'कान्तासम्मिततया उपदेशयुजे' इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने वेदादि शास्त्र तथा पुराण–इतिहासादि से काव्य का भेद और उसकी उपादेयता का प्रतिपाद बड़े अच्छे ढंग से किया है।काव्य के प्रयोजनों में यश, धन आदि अन्य प्रयोजनों के साथ कर्तव्याकर्तव्य का उपदेश करना भी एक मुख्य प्रयोजन है। वेद–शास्त्र–इतिहास–पुराण आदि की रचना भी मनुष्यों को शुभ–कर्मों में प्रवृत्त करने तथा अशुभ–कर्मों से निवृत्त करने के लिए ही की गयी है। परन्तु काव्य की उपदेश–शैली उन सबसे विलक्षण है। इस विलक्षणता का उपपादन करने के लिए ग्रन्थकार ने शब्दप्रधान, अर्थप्रधान तथा रस प्रधान तीन तरह की उपदेश शैलियों की कल्पना की है, जिनको क्रमशः 'प्रभुसम्मित', 'सुहृत्सम्मित' तथा 'कान्तासम्मित' पदों से निर्दिष्ट किया है। वेद–शास्त्र आदि की शैली 'प्रभुसम्मित' या शब्दप्रधान शैली है। राजाज्ञाएँ तथा राजकीय विधान सदा शब्द प्रधान होते हैं। उनमें जो कुछ आज्ञा दी जाती है उसका अक्षरशः पालन अनिवार्य होता है। इसी प्रकार वेद–शास्त्र आदि में जो उपदेश दिये गये हैं उनका अक्षरशः पालन करना ही अभीष्ट होता है। इसलिए वे शब्दप्रधान होने से राजाज्ञा के समान या प्रभुसम्मित उपदेश–शैली में अन्तर्भुक्त होते हैं।दूसरी उपदेश–शैली इतिहास–पुराण आदि की है। इनमें वेद–शास्त्र आदि के समान शब्दों की प्रधानता नहीं होती है अपितु अर्थ पर विशेष बल दिया जाता है। इसलिए उनका अक्षरशः पालन आवश्यक नहीं होता है अपितु उनके अभिप्राय का अनुसरण किया जाता है। इसको ग्रन्थकार ने 'सुहृत्सम्मित' शैली

कहा है। मित्र अपने मित्र को उचित कार्य का अनुष्ठान करने तथा अनुचित काम का परित्याग करने का उपदेश करता है। परन्तु उसका उपदेश राजाज्ञा के समान शब्द प्रधान नहीं होता है। उसका तात्पर्य अर्थ में होता है। इसलिए अर्थ में तात्पर्य रखने वाली इस दूसरे प्रकार की उपदेश–शैली को ग्रन्थकार ने 'सुहृत्सम्मित' शैली कहा है। इतिहास–पुराण आदि का अन्तर्भाव इस शैली के अन्तर्गत होता है।

काव्य की उपदेश–शैली इन दोनों से भिन्न प्रकार की होती है। उसमें न शब्द की प्रधानता होती है और न अर्थ की। वहाँ शब्द तथा अर्थ दोनों का गुणीभाव होकर केवल रस की प्रधानता होती है। इस शैली को मम्मट ने 'कान्तासम्मित' उपदेश–शैली नाम दिया है। स्त्री जब किसी काम में पुरुष को प्रवृत्त या किसी कार्य से उसको निवृत्त करती है तब वह अपने सारे सामर्थ्य से उसको सरस बनाकर ही उस प्रकार की प्रेरणा करती है। इसलिए कान्तासम्मित–शैली में शब्द तथा अर्थ दोनों का गुणीभाव होकर रस की प्रधानता हो जाती है। इसलिए इसको रसप्रधान–शैली कहा जा सकता है। मम्मटाचार्य ने काव्य की उपदेश–शैली को इस श्रेणी में रखा है। काव्यों के पढ़ने से भी रामादि के समान आचरण करना चाहिये, रावण आदि के समान आचरण नहीं करना चाहिये इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त होती है। परन्तु उसमें शब्द या अर्थ की नहीं अपितु रस की प्रधानता होती है। काव्य के रसास्वादन के साथ–साथ कर्तव्य अकर्तव्य का ज्ञान भी मनुष्य को होता जाता है। यह शैली वेद–शास्त्र की शब्द प्रधान तथा इतिहास–पुराण आदि की अर्थप्रधान दोनों शैलियों से भिन्न और सरसता के कारण अधिक उपादेय है। इसलिए काव्य के विषय में प्रयत्न करना ही चाहिये, यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है।काव्य से यश की प्राप्ति होती है इसको सिद्ध करने के लिए ग्रन्थकार ने कालिदास का उदाहरण दिया है, जो उचित ही है। अर्थ प्राप्ति भी काव्य से हो सकती है; इसके लिए ग्रन्थकार ने धावक का नाम लिया है। श्री हर्ष के नाम से 'रत्नावली–नाटिका' आदि जो ग्रन्थ पाये जाते हैं वे वस्तुतः उनके बनाये हुए नहीं हैं अपितु धावक नामक किसी अन्य कवि के बनाये हुए हैं। राजा श्री हर्ष ने प्रचुर धन देकर उस कवि को सम्मानित तथा पुरस्कृत किया, इसलिए कवि ने उस पर से अपना नाम हटाकर लिखने वाले के स्थान पर राजा श्री हर्ष का नाम डाल दिया है। इस प्रकार उन काव्यों से धवक को केवल धन की प्राप्ति हुई, यश की प्राप्ति जितनी होनी चाहिये थी, उतनी नहीं हुई। तीसरा प्रयोजन 'व्यवहारविदे' अर्थात् व्यवहार का ज्ञान है। काव्य–नाटक आदि में जो चरित्र–चित्रण होता है उससे भिन्न–भिन्न स्थितियों में पात्रों के परस्पर व्यवहार की शैली का परिज्ञान होता है; विशेषकर राजा आदि के साथ किस प्रकार का शिष्टाचार व्यवहार में लाना चाहिये इस बात का परिज्ञान काव्यादि के द्वारा ही साधारण जनों को प्राप्त होता है।'सद्यः परनिर्वृत्ये' अर्थात् काव्य के निर्माण अथवा पाठ के साथ ही जो एक विशेष प्रकार के आन्तरिक आनन्द की प्राप्ति होती है वह अलौकिक आनन्दानुभूति ही काव्य का सबसे मुख्य प्रयोजन है। इस आनन्दानुभूति की बेला में पाठक संसार का और सब कुछ भूलकर उसी काव्य जगत् में तल्लीन हो जाता है। इस तन्मयता में ही उस अलौकिक आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। इसलिए ग्रन्थकार ने उसके साथ 'विगलितवेद्यान्तरम्' तथा 'सकलप्रयोजनमौलिभूतम्' ये दो विशेषण जोड़े हैं।

इन प्रयोजनो में 'शिवेतरक्षति' अर्थात् अनिष्ट–अमङ्गल का निवारण भी एक प्रयोजन बतलाया गया है। इसके लिए ग्रन्थकार ने 'मयूर' कवि का उदाहरण दिया है। 'मयूर' कवि का एकमात्र काव्य 'सूर्यशतक' मिलता है। इसमें सूर्य के स्तुति–परक 100 श्लोक हैं। कहते हैं कि इन श्लोकों द्वारा सूर्य की स्यति कर 'मयूर' कवि ने कुष्ठ–रोग से छुटकारा पाया था। इसलिए ग्रन्थकार ने उसे अनिष्ट–निवारण के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। 'मयूर' कवि के कुष्ठी होने के विषय में एक कथा प्रसिद्ध है। उसका भी इस प्रसङ्ग में उल्लेख कर देना उचित होगा।'मेरुतुङ्गाचार्य' कृत 'प्रबन्धचिन्तामणि' तथा 'यज्ञेश्वरभट्ट' कृत 'सूर्य–शतक' की टीका में मयूरभट्ट के कुष्टरोगी होने और उस रोग से मुक्त होने की कथा इस प्रकार दी गयी है – संवत् 1078 या सन् 1021 में मयूर कवि राजा भोज के सभारत्न थे और धारानगरी में रहते थे। 'कादम्बरी' नामक

प्रसिद्ध गद्य–काव्य के निर्माता महाकवि 'बाणभट्ट' इनके भगिनी–पति अर्थात् बहनोई थे। वे भी उसी धारानगरी में रहते थे। दोनों ही कवि थे इसलिए साले–बहनोई के इस सम्बन्ध के अतिरिक्त भी उन दोनों में विशेष मैत्री भाव था। दोनों अपनी नूतन रचनायें एक–दूसरे को सुनाते रहते थे।

किसी दिन बाण की पत्नी किसी कारण से बाणभट्ट से अत्यन्त अप्रसन्न हो गयी। बाणभट्ट ने उसको मनाने का बहुतेरा प्रयत्न किया पर उसमें उनको सफलता नहीं मिली। इस मानमनौवल में ही उनकी सारी रात बीत गयी और लगभग सवेरा हो आया, पर बाणभट्ट भी अपने प्रयत्न में लगे हुए थे। वे अपनी पत्नी से कह रहे थे –

गतप्राया रात्रिः कृशतनुशशी शीर्यत इव
प्रदीपोयं निद्रावशमुपगतो घूर्णित इव।
प्रणामान्तो मानस्त्यजसि न तथापि क्रुधमहो

''हे प्रिये, रात्रि समाप्त हो आयी है। चन्द्रमा अस्त होने जा रहा है और यह दीपक भी रातभर जागने के कारण अब निद्रा के वशीभूत होकर झोंके ले रहा है। यद्यपि प्रणाम से मान की समाप्ति हो जाती है पर मेरे सिर नवाने पर भी तुम अपना क्रोध नहीं छोड़ रही हो –''श्लोक के तीन चरण बन पाये थे और बाणभट्ट उन्हीं तीनों को बार–बार दुहरा रहे थे। इसी समय मयूरभट्ट प्रातःकाल के भ्रमण और काव्य चर्चा के निमित्त बाणभट्ट को साथ ले जाने के लिए उनके घर आ पहुँचे। बाणभट्ट को ऊपर लिखे श्लोक का पाठ करते हुए सुनकर वे बाहर ही रुक गये। थोड़ी देर सुनने के बाद उनसे चुप न रहा गया और उन्होंने श्लोक के चतुर्थ चरण की इस प्रकार पूर्ति कर के उसे जोर से सुना ही दिया कि –

'कुचप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि कठिनम्।'

बाण की पत्नी ने जब यह सुना तो उसे बड़ा क्रोध आया और उस क्रोध के आवेश में उसने पूर्ति करने वाले को पहिचाने बिना ही कुष्ठ हो जाने का शाप दे दिया। उसके पातिव्रत्य के प्रभाव से मयूरभट्ट पर शाप का प्रभाव पड़ा और वे कुष्ठी हो गये। इसके बाद मालूम होने तथा क्रोध शान्त होने पर उसी ने उनको शाप के प्रभाव से मुक्त होने का यह उपाय बतलाया कि तुम गङ्गा के किनारे जाकर सूर्य की उपासना करो, उसी से तुम इस रोग से मुक्त हो सकोगे। तदनुसार मयूरभट्ट ने गङ्गा के किनारे एक वृक्ष पर एक रस्सी का छीका लटका कर और उस पर बैठकर सूर्य देव की उपासना प्रारम्भ की। वह प्रतिदिन सूर्य की स्तुति में एक नया श्लोक बनाते थे और प्रतिदिन अपने छीके की एक रस्सी काटते जाते थे। छीके की सौ डोरियाँ कट जाने पर उनके गङ्गा में गिरने के पूर्व ही सूर्य देव की कृपा से उनको आरोग्य–लाभ हो गया। इस प्रकार सूर्य की स्तुति में मयूर कवि ने जिन सौ श्लोकों की रचना की, उन्हीं का संग्रह 'सूर्यशतक' नाम से प्रसिद्ध है। इसी प्रसिद्ध कथा के आधार पर मम्मटाचार्य ने 'शिवेतरक्षतये' की व्याख्या में मयूरभट्ट के नाम का उल्लेख किया है।

अन्य आचार्यों के मत में काव्य का प्रयोजन

वामन

मम्मटाचार्य ने यहाँ काव्य के जिन छह प्रयोजनों का निरूपण किया, लगभग उसी प्रकार के काव्य प्रयोजनों का प्रतिपादन उनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी किया है। इनमें से 'वामन' कृत प्रयोजनों का निरूपण सबसे अधिक संक्षिप्त है। उन्होंने काव्य के केवल दो प्रयोजन माने हैं – एक कीर्ति और दूसरा प्रीति या आनन्द। उन्होंने लिखा है –

'काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्।

इनमें से प्रीति अर्थात् आनन्दानुभूति को काव्य का दृष्ट–प्रयोजन तथा कीर्ति को काव्य का अदृष्टार्थ प्रयोजन माना है और इस पर विशेष बल दिया है। उन्होंने इस विषय में तीन श्लोक भी दिये हैं –

'प्रतिष्ठां काव्यबन्धस्य यशसः सरणिं विदुः।

अकीर्तिवर्तिनीं त्वेवं कुकवित्वविंडम्बनाम्।।1।।
कीर्तिं स्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चितः।
अकीर्तिन्तु निरालोकनरकोद्देशदूतिकाम्।।2।।
तस्मात् कीर्तिमुपादातुमकीर्तिञ्च व्यपोहितुम्।
काव्यालङ्कारसूत्रार्थः प्रसाद्यः कविपुङ्गवैः।।3।।

भामह

वामन के भी पूर्ववर्ती आचार्य भामह ने वामन की अपेक्षा अधिक विस्तार के साथ काव्य के प्रयोजनों का वर्णन निम्नलिखित प्रकार किया है –

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्।।

अर्थात् उत्तम काव्य की रचना धर्म, अर्थ काम और मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थों तथा समस्त कलाओं में निपुणता और कीर्ति एवं प्रीति अर्थात् आनन्द को उत्पन्न करने वाली होती है। भामह के इस श्लोक को उत्तरवर्ती सभी आचार्यों ने आदरपूर्वक अपनाया है। इसके अनुसार कीर्ति तथा प्रीति के अतिरिक्त पुरुषार्थ–चतुष्टय, कला तथा व्यवहार आदि में निपुणता की प्राप्ति भी काव्य का प्रयोजन है।कीर्ति को काव्य का मुख्य प्रयोजन बतलाते हुए जिस प्रकार वामन ने तीन श्लोक लिखे थे, जो ऊपर दिये जा चुके हैं, उसी प्रकार भामह ने भी कुछ श्लोक इसी अभिप्राय के लिखे हैं जो नीचे दिये जा रहे हैं –

'उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम्।
आस्त एव निरातङ्क कान्तं काव्यमयं वपुः।।6।।
रुणद्धि रोदसी चास्य यावत् कीर्तिरनश्वरी।
तावत् किलायमध्यास्ते सुकृती वैबुधं पदम्।।7।।
अतोभिवाञ्छता कीर्तिं स्थेयसीमा भुवः स्थितेः।
यत्नो विदितवेद्येन विधेयः काव्यलक्षणः।।8।।
सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते।।11।।
नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः।।12।।

अर्थात् उत्तम काव्यों की रचना करने वाले महाकवियों के दिवङ्गत हो जाने के बाद भी उनका सुन्दर काव्य–शरीर 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' अक्षुण्ण बना रहता है।।6।।

और जब तक उनकी अनश्वर कीर्ति इस भू–मण्डल तथा आकाश में व्याप्त रहती है तब तक वे सौभाग्यशाली पुण्यात्मा देवपद का भोग करते हैं।।7।।

इसलिए प्रलयपर्यन्त स्थिर रखने वाली कीर्ति के चाहने वाले कवि को, उसके उपयोगी समस्त विषयों का ज्ञान प्राप्त कर उत्तम काव्य की रचना के लिए प्रयत्न करना चाहिये।।8।।

काव्य में एक भी अनुपयुक्त पद न आने पावे इस बात का ध्यान रखना चाहिये, क्योंकि बुरे काव्य की रचना से कवि उसी प्रकार निन्दा का भाजन होता है जिस प्रकार कुपुत्र से पिता की निन्दा होती है।।11।।

कुकवि बनने की अपेक्षा तो अ–कवि होना अच्छा है क्योंकि अ–कवित्व से न तो अधर्म होता है और न व्याधि या दण्ड का भागी ही बनना पड़ता है परन्तु कु–कवित्व को विद्वान् लोग साक्षात् मृत्यु ही कहते हैं।।12।।

कुन्तक

कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्तिजीवित' में इसको और भी अधिक स्पष्ट किया है। उन्होंने काव्य के प्रयोजनों का निरूपण करते हुए लिखा है –

'धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोभिजातानां हृदयाह्लादकारकः।।3।।
व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्य व्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते।।4।।
चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।

काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते।।5।।

अर्थात् काव्य की रचना अभिजात–श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न–राजकुमार आदि के लिए सुन्दर एवं सरस ढंग से कहा गया धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि का सरल मार्ग है।

सत्काव्य के परिज्ञान से व्यवहार करने वाले सब प्रकार के लोगों को अपने–अपने व्यवहार का पूर्ण एवं सुन्दर ज्ञान प्राप्त होता है। और सबसे बड़ी बात यह है कि उससे सहृदयों के हृदय में चतुर्वर्ग–फल की प्राप्ति से भी बढ़कर आनन्दानुभूति रूप चमत्कार उत्पन्न होता है।

कवि तथा पाठक की दृष्टि से प्रयोजन–विभाग

इस प्रकार पूर्ववर्ती आचार्यों ने जिन काव्य–प्रयोजनों का प्रतिपादन किया था उनका और भी अधिक परिमार्जन कर के काव्यप्रकाशकार ने सबसे अधिक सुन्दर एवं विस्तृत रूप में काव्य के प्रयोजनों का निरूपण किया है। इनमें से तीन को मुख्यतः कवि–निष्ठ तथा तीन को मुख्यतः पाठक–निष्ठ प्रयोजन कहा जा सकता है। 'यशसे', 'अर्थकृते' तथा 'शिवेतरक्षतये' ये तीन मुख्यतः कवि के उद्देश्य से और 'व्यवहारविदे', 'सद्यः परनिर्वृतये' तथा 'कान्तासम्मिततया उपदेशयुजे' ये तीन मुख्यतः पाठक की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण प्रयोजन कहे जा सकते हैं। परन्तु प्राचीन आचार्यों ने इस प्रकार का विभाजन नहीं किया है।

भरतमुनि

काव्यशास्त्र के आद्य आचार्य श्रीभरतमुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' (अ01, श्लो0 113–115) में नाट्य अथवा काव्य के प्रयोजनों का वर्णन इस प्रकार किया है –

उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्।
हितोपदेशजननं धृति–क्रीड़ा–सुखादिकृत्।।113।।
दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति।।114।।
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति।।115।।

उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसी के आधार पर काव्य के प्रयोजनों का निरूपण किया है।इस प्रकार अधिकांश आचार्यों ने कीर्ति या यश को काव्य का मुख्य प्रयोजन माना है। कदाचित् इसीलिए मम्मटाचार्य ने भी अपनी कारिका में उसको सबसे पहिला स्थान दिया है। कवि की दृष्टि से वह है भी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण। परन्तु पाठक की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन 'सद्यः परनिर्वृति' अर्थात् अलौकिक आनन्दानुभूति है। इसलिए मम्मटाचार्य ने उसको 'सकलप्रयोजन–मौलिभूतम्' कहा है।।2।।

1.3.2 काव्य लक्षण

1. मम्मट का काव्य–लक्षण

इस प्रकार द्वितीय कारिका में काव्य के प्रयोजन तथा तृतीय कारिका में काव्य के आधनों का निरूपण कर चुकने के बाद चतुर्थ कारिका में ग्रन्थकार काव्य का लक्षण प्रस्तुत करने जा रहे हैं। किसी भी पदार्थ का अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव–तीनों प्रकार के दोषों से रहित एकदम निर्दुष्ट लक्षण प्रस्तुत करना यों ही कठिन होता है, फिर काव्य जैसे दुर्बोध पदार्थ का लक्षण करना और भी अधिक कठिन है। फिर भी काव्यप्रकाशकार ने इस दिशा में जो प्रयत्न किया है वह प्रशंसनीय है। यद्यपि उत्तरवर्ती विश्वनाथ आदि ने उनके लक्षण का बुरी तरह से खण्डन किया है, परन्तु वास्तविक दृष्टि से विचार किया जाय तो वह उतना दूषित लक्षण नहीं है जितना विरोधियों ने उसको चित्रित करने का प्रयत्न किया है। उनके काव्य–लक्षण के गुण–दोष की मीमांसा करने से पहिले उनके लक्षणों को भली प्रकार समझ लेना चाहिये अन्यथा उसकी समालोचना और मीमांसा समझ में नहीं आ सकेगी।

(सूत्रम् 1) तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

दोषगुणालंकारा वक्ष्यन्ते। क्वापीत्यनेनैतदाह यत् सर्वत्र सालंकारौ क्वचित्तु स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः। यथा –

'यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा–

स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते।।1।।

अत्र स्फुटो न कश्चिदलंकारः। रसस्य च प्राधान्यान्नालंकारता।

इस प्रकार (काव्य) के साधन बतलाकर उसके स्वरूप को कहते हैं –

(सू0 1) – दोषों से रहित, गुण–युक्त और (साधारणतः अलङ्कार सहित परन्तु) कहीं–कहीं अलङ्कार–रहित शब्द और अर्थ (दोनों की समष्टि) काव्य कहलाती है।

दोष, गुण और अलङ्कार (किसको कहते हैं यह बात) आगे कहेंगे। ('अनलंकृती पुनः क्वापि' इस वाक्यांश में प्रयुक्त) 'क्वापि' इस पद से (ग्रन्थकार) यह कहते हैं कि (साधारणतः) सब जगह अलङ्कार सहित (शब्द तथा अर्थ होने चाहिये) परन्तु कहीं (जहाँ व्यङ्ग्य या रसादि की स्थिति विद्यमान हो वहाँ) स्पष्ट रूप से अलङ्कार की सत्ता न होने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती है। जैसे –

(जिन प्रियतम पतिदेव ने विवाह के बाद प्रथम सम्भोग द्वारा मेरे कुमारी भाव के सूचक योनिच्छद का भङ्ग कर के कौमार्य का हरण किया, चिर उपभुक्त, मेरे) कौमार्य का हरण करने वाले वे ही पति देव हैं, और (आज फिर) वे ही चैत्र (मास) की (उज्ज्वल चाँदनी से भरी हुई) रातें हैं, खिली हुई मालती की (मालती का अर्थ जाति–पुष्प या चमेली होता है परन्तु 'न स्याज्जाती वसन्ते' इत्यादि कवि सम्प्रदाय के अनुसार वसन्त ऋतु में जाति–पुष्प का वर्णन करना वर्जित है, इसलिए यहाँ मालती पद से वसन्त में खिलने वाली किसी लता–विशेष का ग्रहण करना चाहिये) सुगन्ध से भरी हुई और (वसन्त ऋतु में कदम्ब भी नहीं खिलता है, वह वर्षा ऋतु में खिलता है। इसलिए यहाँ कदम्ब की उन्मादक (प्रौढ़ अत्यन्त कामोत्तेजक) वायु बह रही है और मैं भी वहीं हूँ (सभी सामग्री पुरानी, चिर उपभुक्त होने से उसमें उत्कण्ठा होने का कोई अवसर नहीं) फिर भी (न जाने क्यों आज) वहाँ नर्मदा के तट पर उस बेंत के पेड़ के नीचे (जहाँ अनेक बार अपने पति देव के साथ सम्भोग कर चुकी हूँ–सम्भोग की) उन काम–केलियों के (फिर–फिर करने के) लिए चित्त उत्कण्ठित हो रहा है।।1।।

यहाँ कोई स्पष्ट अलङ्कार नहीं है और रस के प्रधान होने से (रसवदलङ्कार के रूप में) उसको भी अलङ्कार नहीं कहा जा सकता है। (क्योंकि वह रसवदलङ्कार रस के गौण होने पर ही होता है।)

इस उदाहरण की विश्वनाथ द्वारा की गयी आलोचना

यहाँ कोई स्पष्ट अलङ्कार नहीं है इस कथन का अभिप्राय यह है कि वैसे चाहें तो खींचतान कर के यहाँ अलङ्कार निकाला जा सकता है; जैसे कि साहित्य पर्दणकार विश्वनाथ ने इसमें 'वभावना' तथा 'विशेषोक्ति' अलङ्कार निकालने का प्रयत्न किया है। 'विभावना' तथा 'विशेषोक्ति' ये दोनों अलङ्कार परस्पर विरोधी रूप हैं।

विभावना तु विना हेतुं कायोत्पत्तिर्यदुच्यते।
सति हेतौ फलाभावो विशेषोक्तिस्ततो द्विधा।

जहाँ बिना कारण के कार्य का वर्णन किया जाय वहाँ 'विभावना' अलङ्कार होता है। इसके विपरीत जहाँ कारण होने पर भी कार्य की उत्पत्ति न हो वहाँ 'विशेषोक्ति' नामक दूसरा अलङ्कार होता है। साहित्य दर्पणकार का कहना यह है कि यहाँ उत्कण्ठा रूप कार्य का वर्णन किया गया है परन्तु उसका कारण विद्यमान नहीं है। उत्कण्ठा सदा किसी नयी चीज की प्राप्ति के लिए होती है। यहाँ कोई भी नयी चीज नहीं, सभी वस्तुएँ पहिले सैकड़ों बार की भोगी हुई हैं। इसी प्रकार यदि इसको उलट दिया जाय तो यहाँ 'विशेषोक्ति' अलङ्कार निकल सकता है। यहाँ सब ही वस्तुएँ उपभुक्त–चर हैं इसलिए उत्कण्ठा नहीं होनी चाहिये। अर्थात् उत्कण्ठा के अभाव की सारी सामग्री विद्यमान हैं परन्तु उत्कण्ठा का अभाव रूप कार्य नहीं है, उत्कण्ठा हो रही है। इस प्रकार उत्कण्ठा भाव का कारण रहते हुए भी उत्कण्ठा भाव कार्य के न होने से

से यहाँ 'विशेषोक्ति' अलङ्कार भी पाया जाता है।

समाधान

इस प्रकार साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने इस श्लोक में 'विभावना' तथा 'विशेषोक्ति'

दो अलङ्कारों की कल्पना कर के और उनके सन्देह–सङ्कर अलङ्कार की स्थिति सिद्ध करके मम्मट द्वारा 'अनलंकृती पुनः क्वापि' के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये गये इस श्लोक में अलङ्कार के अभाव का खण्डन किया है। परन्तु विश्वनाथ ने अत्यन्त संरम्भ के साथ विभावना–विशेषोक्ति–मूलक सन्देह–सङ्कर अलङ्कार को यहाँ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है वह मम्मटाचार्य की दृष्टि से ओझल नहीं था। वे भी जानते थे कि यहाँ इस प्रकार से 'विभावना' या 'विशेषोक्ति' या दोनों का सन्देह–सङ्कर अलङ्कार निकाला जा सकता है। परन्तु ये अलङ्कार भाव–मुखेन नहीं, अभाव–मुखेन निकलते हैं इसलिए वे स्पष्ट नहीं अपितु खींचतान कर ही निकाले जा सकते हैं। इसीलिए तो मम्मट ने उसे 'स्फुटालङ्कार–विरह' के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। अतएव विश्वनाथ ने जो इस उदाहरण का खण्डन किया है वह युक्तिसङ्गत नहीं है।

विश्वनाथ की भावना

विश्वनाथ ने अपने 'साहित्यदर्पण' में मम्मट के इस काव्य–लक्षण की बुरी तरह छीछालेदार की है। उनकी दृष्टि में 'काव्यप्रकाश' के इस काव्य–लक्षण में 'पदसंख्यातोऽपि भूयसी दोषाणां संख्या' जितने पद प्रयुक्त हुए हैं उनसे भी अधिक दोष उसमें है। 'साहित्यदर्पण' में पढ़ने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वनाथ की दृष्टि में मम्मट महामूर्ख आदमी हैं, वह साहित्य शास्त्र की बारहखड़ी भी नहीं जानते हैं। उन्होंने अपने पाण्डित्य के प्रदर्शन का यही एकमात्र उपाय समझा है कि 'काव्यप्रकाश' का हर बात में खण्डन किया जाय। कदाचित् इसलिए उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम 'साहित्यदर्पण' रखा है। 'दर्पण' का कार्य 'प्रकाश' का प्रतिक्षेप करना ही है। दर्पण को यदि सूर्य के सामने दिखाया जाय तो उस पर जो सूर्य की किरणें पड़ेंगी, वे वहाँ से प्रतिक्षिप्त होकर सामने खड़े हुए व्यक्ति की आँखों में भीषण चकाचौंध उत्पन्न कर देंगी। इस प्रकार साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ के अपने 'दर्पण' द्वारा काव्यप्रकाशकार मम्मट के 'प्रकाश' का प्रतिक्षेप कर साहित्य के विद्यार्थियों की दृष्टि में चकाचौंध उत्पन्न कर दी है। जिनके कारण विद्यार्थी उस समय अन्धा–सा हो जाता है और 'काव्यप्रकाश' में उसे कुछ भी तत्त्व नहीं दिखायी देता।

'अदोषौ' पद की आलोचना

काव्यप्रकाशकार ने अपने लक्षण में 'शब्दार्थौ' के जो तीन विशेषण 'अदोषौ', 'सगुणौ' और 'अनलंकृती पुनः क्वापि' दिये हैं उन तीनों का ही विश्वनाथ ने बुरी तरह खण्डन किया है। उनकी युक्तियों का सार यह है कि यदि दोषरहित शब्दार्थ को ही काव्य माना जाय तो इस प्रकार का नितान्त दोषरहित काव्य संसार में मिल सकना ही कठिन है। इसलिए 'एवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्' अर्थात् ऐसी दशा में काव्य या तो संसार में मिलेगा ही नहीं और यदि भूले–भटके कहीं मिल भी गया तो बहुत कम मिल सकेगा। इसके अतिरिक्त आगे चलकर 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादि जिस श्लोक को ध्वनि प्रधान होने से उत्तम काव्य माना गया है उसमें भी 'विधेयाविमर्श' दोष के विद्यमान होने से उसको उत्तम काव्य क्या, काव्य भी नहीं कहा जा सकेगा और यदि यह कहा जाय कि दोष तो उस श्लोक के थोड़े–से ही अंश में है तो – 'यत्रांशे दोषः सोऽकाव्यत्वप्रयोजकः, यत्र ध्वनिः स उत्तमकाव्यत्वप्रयोजक इत्यंशाभ्यामुभयत आकृष्यमाणमिदं काव्यमकाव्यं वा मिकपि न स्यात्।'

जिस अंश में दोष है वह अकाव्यत्व का प्रयोजक होगा और जिस अंश में ध्वनि है वह उत्तम काव्यत्व का प्रयोजक होगा। इस प्रकार दोनों अंशों की इस छीना–झपटी में वह काव्य या अकाव्य कुछ भी सिद्ध नहीं होगा।

समाधान

इस प्रकार साहित्य दर्पणकार ने 'अदोषौ' पद के लक्षण में रखे जाने का खण्डन किया है। परन्तु काव्यप्रकाशकार का 'अदोषौ' पद के रखने का अभिप्राय यह है कि काव्यत्व के विघटक जो 'च्युतसंस्कार' आदि प्रबल दोष हैं उनसे रहित शब्द तथा अर्थ काव्य है। कोई भी दोष स्वरूपतः दोष नहीं होता, अपितु जब वह रसानुभूति में बाधक होता है तभी दोष कहा जाता है। जैसे 'दुःश्रवत्व' दोष करुण, शृंगार आदि कोमल रसों की अनुभूति में बाधक होता है इसलिए वहाँ उसे दोष कहा जाता है। परन्तु

वीर, वीभत्स या भयानक रस में वह 'दुःश्रवत्व' रसानुभूति का बाधक नहीं, अपितु साधक हो जाता है इसलिए वहाँ दोष नहीं, अपितु गुण कहा जाता है। इसलिए जो दोष प्रबल होने के कारण रसानुभूति में बाधक हों उन प्रबल दोषों से रहित शब्द तथा अर्थ काव्य हैं। यह काव्यप्रकाशकार का अभिप्राय है। अतः साधारण स्थिति के दुर्बल दोष के विद्यमान होने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती है। स्वयं साहित्य दर्पणकार ने भी साधारण दोषों के रहते हुए भी काव्य में काव्यत्व स्वीकार किया है।

कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः।।

जैसे कीड़ों से खाया हुआ प्रवाल आदि रत्न रत्न ही कहलाता है उसी प्रकार जिस काव्य में रसादि की अनुभूति स्पष्ट रूप से होती रहती है वहाँ दोष के होते हुए भी काव्यत्व की हानि नहीं होती।

इस सिद्धान्त को साहित्यदर्पणकार भी स्वीकार करते हैं और काव्यप्रकाशकार ने जो अपने काव्य–लक्षण में 'अदोषौ' पद का समावेश किया है वह भी इसी अभिप्राय से किया है कि रसानुभूति के बाधक प्रबल दोषों से रहित शब्द तथा अर्थ की समष्टि काव्य कहलाती है अर्थात् जहाँ साधारण दोष के होते हुए भी रसानुभूति में बाधा नहीं होती वह दोष–युक्त काव्य भी काव्य ही है। ऐसी दशा में काव्य 'प्रविरलविषय' या 'निर्विषय' कुछ भी नहीं होता है, और न 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादि में साधारण 'विधेयाविमर्श' दोष के होने से अकाव्यत्व होता है। इसलिए विश्वनाथ ने इसके खण्डन में जो कुछ लिखा है उसका 'पाण्डित्य–प्रदर्शन' के अतिरिक्त और कोई मूल्न नहीं है।

'संगुणौ' की आलोचना

इसी प्रकार लक्षण में दिये हुए 'सगुणौ' पद का भी विश्वनाथ ने खण्डन किया है। उनका कहना है कि गुण तो रस के धर्म होते हैं, उस में रहते हैं। वे शब्द या अर्थ के धर्म नहीं होते हैं इसलिए शब्द या अर्थ में नहीं रह सकते हैं। ऐसी दशा में रस ही 'सगुण' कहा जा सकता है, शब्द या अर्थ को 'सगुण' नहीं कहा जा सकता। इसलिए काव्यप्रकाशकार ने जो 'सगुणौ' पद को 'शब्दार्थौ' के विशेषण रूप में प्रयुक्त किया है वह भी उचित नहीं किया है।

विश्वनाथ तो ऐसा समझ रहे हैं कि मम्मटाचार्य मानो कोई बिलकुल साधारण विद्यार्थी हों जिनको इस बात का भी बाध नहीं है कि गुण शब्द या अर्थ के धर्म नहीं हैं। पर ऐसी बात नहीं है। काव्यप्रकाशकार भी जानते हैं कि गुण रस के धर्म होते हैं। फिर भी गौण रूप से शब्द और अर्थ के साथ भी उनका सम्बन्ध हो सकता है। अष्टम उल्लास में 'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता' लिखकर मम्मटाचार्य ने गौणीवृत्ति से शब्द तथा अर्थ के साथ भी गुणों के सम्बन्ध का प्रतिपादन किया है और उसी दृष्टि से यहाँ 'शब्दार्थौ' के विशेषण रूप में 'सगुणौ' पद का प्रयोग किया गया है। इसलिए विश्वनाथ ने अपना पाण्डित्य–प्रदर्शन करने के लिए काव्यप्रकाशकार पर जो यह पङ्कप्रक्षेप किया है वह सब केवल उनका अकाण्ड–ताण्डव मात्र है।

रसगङ्गाधरकार कृत आलोचना

'काव्यप्रकाश' के इस काव्य लक्षण पर न केवल विश्वनाथ ने, अपितु रसगङ्गाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ ने भी कुछ आपत्ति उठायी है। परन्तु उनका दृष्टिकोण विश्वनाथ से बिलकुल भिन्न है। विश्वनाथ ने लक्षण के केवल विशेषण भाग का खण्डन किया है, विशेष्य–भाग अर्थात् 'शब्दार्थौ' पद पर कोई आक्षेप नहीं किया है। इसके विपरीत पण्डितराज जगन्नाथ ने लक्षण के केवल विशेष्यांश 'शब्दार्थौ' पद पर आपत्ति उठायी है, विशेषण भूत 'अदोषौ', 'सगुणौ' आदि पदों पर कोई आक्षेप नहीं किया है। 'शब्दार्थौ' पद पर पण्डितराज को यह आपत्ति है कि काव्यत्व शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि में नहीं रहता है और न दोनों की व्यष्टि में अलग–अलग काव्यत्व रहता है।

अपितु केवल शब्द में ही काव्यत्व रहता है। उन्होंने लिखा है –

'यत्तुप्राञ्चः(काव्यप्रकाशकारादयः)शब्दार्थौकाव्यमित्याहुः,तत्रविचार्यत अपि च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दार्थयोर्व्यासक्तं(व्यासज्यवृत्ति)प्रत्येकपर्याप्तं वा ?नाद्यः, एको न द्वौ इति व्यवहारस्येव श्लोकवाक्येन काव्यमिति व्यवहारस्यापत्तेः।न द्वितीयः,एकस्मिन्

पद्येकाव्यद्वयव्यवहारापत्तेः।तस्माद्वेदशास्त्र पुराण लक्षणस्येव काव्यलक्षणस्यापिशब्द निष्ठतैवोचिता।'

अर्थात् जो काव्यप्रकाशकार आदि प्राचीन आचार्य शब्द और अर्थ दोनों को काव्य कहते हैं उसके विषय में यह विचार करना है कि वह काव्यत्व शब्द तथा अर्थ दोनों में 'व्यासज्य–वृत्ति' अर्थात् दोनों में मिलकर रहने वाला धर्म है अथवा 'प्रत्येक–पर्याप्त' अर्थात् एक–एक में अलग भी रह सकता है। इनमें से पहिला अर्थात् 'व्यासज्य–वृत्ति' वाला पक्ष नहीं बन सकता है; क्योंकि उस दशा में 'एको न द्वौ' इस व्यवहार के समान यह श्लोक–वाक्य तो है परन्तु काव्य नहीं है इस प्रकार का व्यवहार होने लगेगा। जैसे दो पदार्थों में रहने वाली द्वित्व–संख्या दोनों में मिलकर ही रहती है, अलग–अलग नहीं। इसलिए द्वित्व–संख्या उन दोनों पदार्थों का व्यासज्य–वृत्ति धर्म है। जब दोनों पदार्थ उपस्थित होते हैं तभी 'द्वौ'–'ये दो हैं' इस प्रकार का व्यवहार होता है और जब उनमें से एक ही पदार्थ उपस्थित होता है उस समय 'यह दो नहीं, एक है' इस प्रकार का व्यवहार होता है। इसी प्रकार 'यह श्लोक–वाक्य है, काव्य नहीं' यह व्यवहार होने लगेगा। इसलिए काव्यत्व को 'व्यासज्य–वृत्ति' धर्म नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार काव्यत्व को 'प्रत्येक–पर्याप्त' अर्थात् शब्द तथा अर्थ दोनों में अलग–अलग रहने वाला धर्म भी नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि उस दशा में एक ही श्लोक–वाक्य में शब्द और अर्थ दोनों की दृष्टि से दुहरा काव्यत्व आ जायेगा। इसलिए एक पद्य में दो काव्यों का व्यवहार होने लगेगा। इसलिए शब्द तथा अर्थ में न 'व्यासज्य–वृत्ति' काव्यत्व बनता है, न 'प्रत्येक–पर्याप्त'। फलतः काव्यत्व शब्दार्थ उभयनिष्ठ धर्म नहीं है अपितु केवल शब्दनिष्ठ धर्म है। यह पण्डितराज जगन्नाथ का सिद्धान्त है। इसीलिए उन्होंने –

'रमणीयार्थ–प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'

इस प्रकार काव्य का लक्षण किया है।

नागेश भट्ट कृत पण्डितराज की प्रत्यालोचना

परन्तु उनका यह खण्डन उनके ही टीकाकार नागेश भट्ट को उचित प्रतीत नहीं हुआ। इसलिए 'रसगङ्गाधर' की इसी स्थल की टीका में 'नोचिता' इस प्रतीक को लेकर उन्होंने लिखा है –

''अस्वादव्यञ्जकत्वस्योभयत्राप्यविशेषात् चमत्कारिबोधजनकज्ञान विषयतावच्छेदकधर्मत्व रूपस्यानुप–सनीयकाव्यलक्षणस्य प्रकाशाद्युक्त लक्ष्यता वच्छेदकस्योभयवृत्तिवाच्च काव्यं पठित्, काव्यं श्रुतम्, काव्यं बुद्धमित्युभयविधव्यवहारदर्शनाच्च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तुं व्यासज्यवृत्ति। अत एव वेदत्वादेरुभयवृत्तित्वप्रतिपादकः 'तदधीते तद्वेद' 5, 2, 59 इति सूत्रस्थो भगवान् पतञ्जलिः सङ्गच्छते।लक्षणयान्यतरस्मिन्नपि तत्त्वात् 'एको न द्वौ' इतिवत् न तदापत्तिः। तेनानुपहसनीयकाव्यलक्षण प्रकाशोक्तं निर्बाधम्।''

इसका अभिप्राय यह है कि काव्यत्व का प्रयोजक जो 'रसास्वादव्यञ्जकत्व' है वह शब्द तथा अर्थ दोनों में समान रूप से सहता है।काव्य को पढ़ा, काव्य को सुना और काव्य को समझा इस प्रकार का व्यवहार भी दिखलायी देता है, इससे शब्द तथा अर्थ दोनों की काव्यता प्रतीत होती है,केवल शब्द या केवल अर्थ की नहीं और काव्यप्रकाशोक्त अनुपहसनीयं काव्य का नियामक चमत्कारिबोधजनकज्ञानविषयत्वावच्छेदकधर्मत्व' रूप काव्य–लक्षण शब्द तथा अर्थ दोनों में रहता है, एक में नहीं। इसलिए काव्यत्व को 'व्यासज्य–वृत्ति' धर्म मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इसी दशा में, अर्थात् काव्यत्व को व्यासज्य–वृत्ति धर्म मानने पर ही, 'तदधीते तद्वेद' इस पाणिनि–सूत्र के 'महाभाष्य' में भाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने वेदत्व आदि को जो व्यासज्य–वृत्ति धर्म माना है उसकी सङ्गति लगती है। इस प्रकार काव्यत्व मुख्य रूप से 'व्यासज्य–वृत्ति' धर्म है परन्तु लक्षणा से केवल शब्द अथवा केवल अर्थ में भी काव्यत्व माना जा सकता है। इसलिए 'एको न द्वौ' के समान 'श्लोकवाक्यं न काव्यम्' इस प्रकार के व्यवहार का कोई अवसर नहीं आता है। फलतः 'काव्यप्रकाश' के अनुसार शब्द तथा अर्थ दोनों को काव्य मानने में कोई बाधा नहीं है यह 'रसगङ्गाधर' के टीकाकार नागेश भट्ट का अभिप्राय है।

न केवल नागेश, अपितु पण्डितराज जगन्नाथ को छोड़कर प्रायः सभी आचार्यों ने शब्द

और अर्थ दोनों को ही काव्य माना है। इस विषय में विभिन्न आचार्यों के निम्नलिखित वचन उद्धृत किये जा सकते हैं –

1. शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा (भामह 1, 16)
2. काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते (वामन 1, 1)
3. शब्दार्थौ काव्यम् (रुद्रट–काव्यालङ्कार 2, 1)
4. अदोषो सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम् (हेमचन्द्र पृ0 16)
5. शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालङ्कारौ च काव्यम् (वांग्भट पृ0 14)
6. गुणालङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ (विद्यानाथ–प्रतापरुद्र पृ0 42)
7. शब्दार्थौ वपुरस्य तत्र विबुधैरात्माभ्यधायि ध्वनिः (विद्याधर–एकावली पृ0 1, 13)

इस प्रकार शब्द तथा अर्थ दोनों में काव्यत्व मानने वाला मत ही बहुजन–समादृत मत है। अतएव पण्डितराज जगन्नाथ ने जो उसका खण्डन किया है व उपादेय नहीं है।

'अनलंकृती पुनः क्वापि' अर्थात् कहीं स्फुटालङ्कार–रहित शब्दार्थ भी काव्य हो सकते हैं, इसे दिखलाने के लिए काव्यप्रकाशकार ने जो 'यः कौमारहरः' इत्यादि श्लोक उदाहरणरूप में प्रस्तुत किया है उसका समन्वय करते हुए उन्होंने लिखा है कि यहाँ कोई अलङ्कार स्पष्ट नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि उसमें खींचतान कर के 'विभावना' या 'विशेषोक्ति' जैसे अलङ्कार निकालने का प्रयत्न उचित नहीं है। अतएव विश्वनाथ ने यहाँ 'विभावना' 'विशेषोक्ति' मूलक सन्देह–सङ्कर अलङ्कार सिद्ध करने का जो प्रयत्न किया, वह ठीक नहीं है। 'हरो वरः' इस प्रकार का अनुप्रास रूप शब्दालङ्कार भी प्रकृत शृङ्गार रस के विरोध वर्ण रेफ से घटित होने के कारण अलङ्कार कहलाने योग्य नहीं है।

'रसस्य च प्राधान्यान्नालङ्कारता' 'काव्यप्रकाश' की इस पंक्ति का अभिप्राय यह है कि – जहाँ रस स्वयं प्रधान न होकर अन्य किसी का अङ्ग बन जाता है वहाँ 'रसवत्' अलङ्कार माना जाता है। इस प्रकार के रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि और समाहित ये चार अलङ्कार अलग माने गये हैं। इनमें से भी कोई अलङ्कार यहाँ नहीं है। क्योंकि यदि रस यहाँ प्रधान न होकर किसी अन्य का अङ्ग होता तब तो इसमें 'रसवत्'– अलङ्कार हो सकता था। परन्तु यहाँ तो रस किसी अन्य का अङ्ग नहीं, अपितु स्वयं प्रधान रूप से अनुभूत हो रहा है इसलिए 'रसवदलङ्कार' भी नहीं है। अतएव 'अनलंकृती पुनः क्वापि' का यह उदाहरण ठीक बन जाता है यह काव्यप्रकाशकार का अभिप्राय है।

भामह का काव्य–लक्षण

मम्मट के पूर्ववती। आचार्यों में से साहित्यशास्त्र के भीष्मपितामह 'भामह' का काव्य–लक्षण सबसे अधिक प्राचीन है। उन्होंने –

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा।' 1, 16।

यह काव्य का लक्षण किया है। यह लक्षण जितना ही प्राचीन है उतना ही संक्षिप्त है। उन्होंने शब्द और अर्थ दोनों के सहभाव को काव्य माना है। वे सहभाव या 'सहितौ' शब्द का क्या अर्थ लेते हैं इसकी व्याख्या भी उन्होंने नहीं की है। पर उनका अभिप्राय यह है कि जिस रचना में वर्णित अर्थ के अनुरूप शब्दों का प्रयोग हो या शब्दों के अनुरूप अर्थ का वर्णन हो वे शब्द और अर्थ ही 'सहितौ' पद से विवक्षित हैं। वही शब्द और अर्थ का 'साहित्य' है।

दण्डी का काव्य–लक्षण–भामह के बाद 'काव्यदर्श' के निर्माता ''दण्डी' का स्थान माना जाता है। दण्डी ने पूर्व के आचार्यों का उल्लेख करते हुए लिखा है –

'अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसन्धाय सूरयः।
वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्।।
तैः शरीरं काव्यानामलङ्काराश्चः दर्शिताः।'

अर्थात् प्रजा जनों की व्युत्पत्ति को ध्यान में रखकर भामह आदि प्राचीन विद्वानों ने विचित्र मार्गों से युक्त काव्यवाणी के रचना के प्रकारों का वर्णन किया हैं, जिसमें उन्होंने काव्य के शरीर तथा उसके अलङ्कारों का वर्णन किया है।

यहाँ तक डेढ़ कारिका में दण्डी ने पूर्व के आचार्यों के मत की चर्चा की है। उनका सङ्केत यहाँ मुख्य रूप से 'भामह' की ओर ही है। 'भामह' के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' इस लक्षण में काव्य के शब्द और अर्थमय 'शरीर' का निर्देश है और आगे ग्रन्थ में उसके अलङ्कारों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार 'तैः शरीरं काव्यानामलङ्कारश्च दर्शिताः।' यह पंक्ति स्पष्ट रूप से 'भामह' की ओर संकेत कर रही है। भामह के इस लक्षण में आये हुए 'सहितौ' पद की कोई व्याख्या नहीं की गयी थी। इस कमी को पूरा करने का प्रयत्न 'दण्डी' ने किया है –

'शरीरं तावदिष्टार्थ–व्यवच्छिन्ना पदावली।।'

यही दण्डी का काव्य–लक्षण है। इष्ट अर्थात् मनोरम हृदयाह्लादक अर्थ से युक्त पदावली–शब्द समूह–अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों मिलकर ही काव्य का शरीर है। इस प्रकार 'भामह' और 'दण्डी' दोनों ने काव्य के शरीर तथा अलङ्कारों की चिन्ता की है, पर उसकी आत्मा का विचार नहीं किया है।

वामन का काव्य–लक्षण

दण्डी के बाद 'वामन' का लक्षण सामने आता है। वामन ने भामह और दण्डी के उक्त काव्य शरीर में प्राण प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने काव्य के शरीर की चिन्ता न कर के उसके आत्मा का अनुसन्धान करने का प्रयत्न किया है। 'रीतिरात्मा काव्यस्य' (काव्यालङ्कारसूत्र 1, 2, 6) यह उनका प्रसिद्ध सूत्र है। अर्थात् वे 'रीति' को काव्य की 'आत्मा' मानते हैं और 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्', 'सौन्दर्यमलङ्कारः' आदि सूत्रों में काव्य के सौन्दर्यात्मक अलङ्कारों को काव्य की ग्राह्यता एवं उपादेयता का प्रयोजक मानते हैं।

आनन्दवर्धन का मत

भामह और दण्डी ने काव्य के शरीर की चर्चा की थी इसलिए आत्मा का कोई प्रश्न उनके सामने न था। वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' लिखकर काव्य की 'आत्मा' क्या है, एक नया प्रश्न उठा दिया है। इसलिए अगले विचारक आनन्द वर्धनाचार्य के सामने काव्य की आत्मा के निर्धारण करने का प्रश्न, काव्य प्रश्न बन गया। रीतियों को वे केवल 'सङ्घटना' या अवयव–संस्थान के समान ही मानते हैं, उनको काव्य की 'आत्मा' वे नहीं मानते हैं। इसलिए उन्होंने 'ध्वनि' को काव्य की आत्मा माना है और वह भी अपने मत से ही नहीं, अपितु प्राचीन अलिखित परम्परा के आधार पर वे 'ध्वनि' को ही काव्य की आत्मा मानने के पक्ष में हैं। इस विषय में कुछ लोगों ने विप्रतिपत्ति उत्पन्न कर दी थी, उन्हीं के निराकरण के लिए उन्हें 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता पड़ी।

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः यः समाम्नातपूर्व–
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपन्।।

इस प्रकार आनन्द वर्धनाचार्य के मत से 'ध्वनि' ही काव्य का जीवनाधायक तत्त्व है। उसके बिना सुन्दर शब्द और अर्थ भी निर्जीव देह के समान त्याज्य हैं। ध्वनि–रूप आत्मा की प्रतिष्ठा होने पर ही शब्दार्थ काव्य होते हैं।

राजशेखर का मत

पिछले आचार्यों ने काव्य के शरीर, आत्मा, अलङ्कार आदि का जो यह रूपक बाँधा था इसकी पृष्ठ–भूमि में उन्होंने एक 'काव्यपुरुष' की कल्पना की थी जो बहुत स्पष्ट नहीं थी। आगे चलकर राजशेखर ने इस 'काव्यपुरुष' की कल्पना को एकदम स्पष्ट और मूर्त रूप प्रदान कर दिया। उन्होंने 'काव्यपुरुष' का वर्णन करते हुए लिखा है –**''शब्दार्थौ ते**

शरीरम्, संस्कृतं मुखम्, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम् ।समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि। उक्तिचणं च ते वचः, रस आत्मा, रोमाणिछन्दांसि,प्रश्नोत्तर–प्रवहि्लकादिकं च वाक्केलिः,अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलंकुर्वन्ति।''

ध्वनिकार ने ध्वनि को काव्य की 'आत्मा' माना था। राजशेखर ने उस आत्म तत्त्व को और अधिक निश्चित रूप देने के लिए वस्तु–ध्वनि तथा अलङ्कार–ध्वनि को छोड़कर केवल रस को काव्य का आत्मा माना है।

कुन्तक का काव्य–लक्षण

वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने इन सबकी अपेक्षा अधिक विस्तारपूर्वक और अधिक स्पष्ट रूप से काव्य का लक्षण करने का प्रयत्न किया है।

शब्दार्थौ सहितौ वक्र–कविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।।

कुन्तक के इस लक्षण में पूर्वोक्त सभी लक्षणों का सारांश प्रायः आ जाता है। 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'' यह भामह का लक्षण कुन्तक के इस लक्षण में स्पष्ट रूप से ही समाविष्ट हो गया है। 'तद्विदाह्लादकारिणि बन्धे व्यवस्थितौ' से दण्डी की 'इष्टार्थव्यवच्छिन्न' तथा वामन की 'रीति' दोनों का समावेश हो जाता है। 'वक्र–कविव्यापारशालिनि' से ध्वन्यालोककार के व्यञ्जना–प्रधान 'ध्वनि' तथा राजशेखर के 'रस' दोनों का अन्तर्भाव हो जाता है। इस प्रकार कुन्तक ने मानो पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के काव्य–लक्षणों का निचोड़ अपने इस लक्षण में समाविष्ट कर दिया है। फिर भी अभी उनकी तृप्ति नहीं हुई है। क्योंकि 'सहितौ' पद का स्पष्टीकरण न भामह के लक्षण में हुआ था और न यहाँ हुआ है। अतएव शब्द और अर्थ के इस 'साहित्य' का स्पष्टीकरण करते हुए वे लिखते हैं –

'शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतः सदा।
सहिताविवि तावेव किमपूर्व विधीयते।।
साहित्यमनयोः, शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः।।'

यहाँ पहले यह शंका की गयी है कि शब्द और अर्थ तो प्रतीति में सदा साथ–साथ ही भासते हैं फिर 'सहितौ' पद से आप उनमें कौन–सी विशेषता दिखलाना चाहते हैं?इस शंका का उत्तर देते हुए कुन्तक यह कहते हैं कि शब्द और अर्थ के 'साहित्य' का अभिप्राय काव्य–सौन्दर्य के लिए उनकी 'न्यूनता या अधिकता से रहित' मनोहर स्थिति होना चाहिये।उसी को शब्द और अर्थ का 'साहित्य' कहते हैं। इस प्रकार कुन्तक ने काव्य लक्षण को अधिक विस्तार के साथ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

क्षेमेन्द्र का मत

सम्पूर्ण साहित्यशास्त्र के इतिहास में जिस प्रकार वामन अपने 'रीति–सिद्धान्त' के लिए, आनन्द वर्धन अपने 'ध्वनि–सिद्धान्त' के लिए और कुन्तक अपने 'वक्रोक्ति–सिद्धान्त' के लिए प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार क्षेमेन्द्र अपने 'औचित्य–सिद्धान्त' के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्होंने 'औचित्य' को ही काव्य का 'जीवित' माना है। अपने 'औचित्यविचारचर्चा' ग्रन्थ में वे कहते हैं –

'काव्यस्यालमलङ्कारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते।।
अलङ्कारास्त्वलङ्कारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।

विश्वनाथ प्रणीत काव्य–लक्षण

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ 'रसात्मक वाक्य' को काव्य मानते हैं। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' यह उनका काव्य–लक्षण है।

मम्मट प्रणीत काव्य–लक्षण की विशेषता

यह काव्य–लक्षण अन्य लक्षणों की अपेक्षा अधिक परिमार्जित है। कुन्तक ने जिस बात को कई कारिकाओं में कहा है मम्मट ने इस आधी कारिका में ही उसको समाविष्ट कर दिया है। उसके साथ ही 'अदोषौ' तथा 'सगुणौ' पद जोड़कर उन्होंने काव्य–लक्षण का नया दृष्टिकोण भी उपस्थित किया है, जिसका प्राचीन लक्षणों में इतना स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया था। पूर्व लक्षणकारों ने काव्य के शरीर 'शब्द तथा अर्थ, उसकी आत्मा रीति, रस या ध्वनि उसके अलङ्कारों की चर्चा तो अपने लक्षणों में की थी, परन्तु गुण दोष की चर्चा नही की थी। मम्मट इस दोष तथा गुण के प्रश्न को सामने लाये हैं और वह बड़ा आवश्यक प्रश्न है। कितना ही सुन्दर काव्य हो पर उसमें यदि एक भी उत्कट दोष आ जाता है तो वह उसके गौरव को कम कर देता है। महाकवि कालिदास ने –

'एको हि दोषो गुणसन्निपाते
निमज्जतीन्द्रोः किरणेष्विवाङ्कः।'

कहकर चन्द्रमा के सौन्दर्य के भीतर उसके कलङ्क के दब जाने की बात कही है। उनके अनुसार चन्द्रमा का कलङ्क कितना ही दब गया हो परन्तु देखने वाले को वह सबसे पहिले खटकता है। इसी प्रकार काव्य का दोष उसके गौरव को कम करने वाला हो जाता है। इसलिए मम्मट ने गुण और अलङ्कारों की चर्चा करने से पहिले दोष की चर्चा की है –

'दुर्जनं प्रथमं वन्दे सज्जनं तदनन्तरम्।
मुखप्रक्षालनात् पूर्वं गुदप्रक्षालनं यथा।।'

शरीर के संस्कार में भी पहिले दोषापनयन रूप संस्कार करने के बाद ही गुणाधान रूप संस्कार किया जाता है, तब उसके बाद अलङ्कार आदि का नम्बर आता है। वह अगर न भी हो तो भी दोषापनयन तथा गुणाधान रूप संस्कार तो अपरिहार्य है। उनके बिना काम नहीं चलता है। इसीलिए मम्मट ने काव्य के शरीर भूत शब्दार्थ के 'अदोषौ' तथा 'सगुणौ' विशेषणों द्वारा इस द्विविध संस्कार की अपरिहार्यता का प्रतापदन किया है और 'अलनंकृती पुनः क्वापि' लिखकर अलङ्कार की गौणता को सूचित किया है। इस प्रकार थोड़े शब्दों में भाव–गम्भीर्य के द्वारा मम्मट ने अपने काव्य लक्षण को अत्यन्त सुन्दर एवं उपादेय बना दिया है।

1.3.3 काव्य हेतु

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।3।।

शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः यां बिना काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्।लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य लोकवृक्रास्य, शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधान कोशकला चतुर्वर्ग गजतुरगखड्–गादिलक्षणग्रन्थानाम्, काव्यानाँ च महाकवि सम्बन्धिनाम्, आदिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद् व्युत्पत्तिः। काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिरिति त्रयः समुदिताः, न तु व्यस्ताः, तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः।।3।।

काव्य के हेतु या कारण

इस प्रकार काव्य तथा उसके उपयोगी विषयों में अभिरुचि उत्पन्न करने के लिए काव्य के प्रयोजनों का प्रतिपादन करने के बाद ग्रन्थकार काव्य के प्रयोजक हेतुओं का वर्णन अगली कारिका में करते हैं – कवि में रहने वाली उसकी स्वाभाविक प्रतिभारूप 1. शक्ति, 2. लोक (व्यवहार), शास्त्र तथा काव्य आदि के पर्यालोचन से उत्पन्न निपुणता और 3. काव्य की रचना–शैली तथा आलोचना पद्धति को जानने वाले (गुरु) की शिक्षा के अनुसार काव्य के निर्माण का अभ्यास, ये तीनों मिलकर समष्टि रूप से उस (काव्य)

के विकास (उद्भव) के कारण बनते हैं।। 3।।

1. **शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेष** : कवित्व का बीजभूत संस्कार –विशेष (प्रतिभा या शक्ति (कहलाती) है, जिसके बिना काव्य बनता ही नहीं है। अथवा तुकबन्दी के रूप में कुछ बन जाने पर भी उपहास के योग्य होता है। 2. लोक अर्थात् स्थावरजङ्गम रूप संसार के व्यवहार के, शास्त्र अर्थात् छन्द, व्याकरण, संज्ञा–शब्दों (अभिधान) के कोश (अमरकोश आदि), कला (अर्थात् भरत, कोहल आदि प्रणीत नृत्य–गीत आदि चौसठ प्रकार की कलाओं के प्रतिपादक लक्षण–ग्रन्थों), चतुर्वर्ग (अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्रतिपादक ग्रन्थ), हाथी–घोड़े (आदि के लक्षणों के प्रतिपादक शालिहोत्र आदि रचित ग्रन्थ) एवं खङ्गआदि के लक्षण ग्रन्थों और महाकवि सम्बन्धी (अर्थात् महाकवियों द्वारा रचे गये) काव्यों के, आदि (पद के) ग्रहण से (सूचित) इतिहास आदि के पर्यालोचन से उत्पन्न व्युत्पत्ति (विशेष प्रकार का ज्ञान) तथा 3. जो काव्य (की रचना) करना और उसकी विवेचना करना जानते हैं उनके उपदेश के अनुसार (अपने आप नवीन श्लोकादि के) निर्माण करने और (प्राचीन कवियों के श्लोकों में) जोड़–तोड़ करने में बार–बार प्रवृत्ति (अर्थात् अभ्यास) ये तीनों मिलकर (समष्टि रूप से) अलग–अलग नहीं, उस काव्य के उद्भव अर्थात् निर्माण और विकास में कारण हैं। अलग–अलग तीन कारण नहीं होते हैं।

यहाँ ध्यातव्य है कि ग्रन्थकार के द्वारा (1) शक्ति, (2) लोकव्यवहार, शास्त्र एवं काव्य आदि के पर्यालोचन से उत्पन्न व्युत्पत्ति तथा (3) काव्य की रचना–शैली और उसके गुण–दोषों के जानने वाले विद्वानों की शिक्षा के अनुसार अभ्यास इन तीनों की समष्टि को ही काव्य–निर्माण की योग्यता प्राप्त करने का कारण माना है।

वामन के मत में काव्य के हेतु

वामन ने भी (1) लोक, (2) विद्या तथा (3) प्रकीर्ण इन तीनों को काव्य का अङ्ग, काव्य–निर्माण की क्षमता प्राप्त करने का साधन बतलाया है –

लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि 1, 2, 1।

लोकवृत्तं लोकः 1, 3, 2।

शब्दस्मृत्यभिधानकोश–छन्दोविचिति–कला–कामशास्त्र–दण्डनीतिपूर्वा विद्याः 1, 3, 3।

लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवावेक्षणं प्रतिभानमवधानञ्च प्रकीर्णम् 1, 3, 11।

मम्मट ने वामन के लोक तथा विद्या दोनों को 'लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् निपुणता' के अन्तर्गत कर लिया है। 'प्रकीर्ण' में से 'शक्ति' को अलग कर दिया है और 'वृद्ध–सेवा' का 'काव्यज्ञशिक्षयाभ्यासः' में अन्तर्भाव करके मम्मट ने वामन के समान आठ काव्याङ्गों का मुख्य रूप से तीन काव्य–साधनों के रूप में प्रतिपादन किया है।

भामह के मत में काव्य हेतु

वामन के पूर्ववर्ती आचार्य भामह ने भी काव्य–साधनों का निरूपण लगभग उसी प्रकार से किया है। उन्होंने लिखा है –

> 'शब्दश्छन्दोभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।
> लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्यगैरमी।।9।।
> शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम्।
> विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः।।10।।

इन काव्य–साधनों की तुलना करने से प्रतीत होता है कि काव्य–साधन सभी आचार्यों की दृष्टि में लगभग एक–से ही हैं। परन्तु भिन्न–भिन्न आचार्यों ने थोड़ा–बहुत भेद करके अलग–अलग ढंग से निरूपण कर दिया है। तात्विक रूप से उनके विवेचन में अधिक भेद नहीं है।। 3।।

अभ्यास प्रश्न :

1–प्रश्न– मम्मटाचार्य ने काव्यप्रकाश में काव्य के कितने प्रयोजन दिखलाये हैं?

2–प्रश्न– शब्दप्रधान, अर्थप्रधान तथा रस प्रधान कितने तरह की उपदेश शैलियों की कल्पना की है?

3–प्रश्न– शब्द तथा अर्थ दोनों का गुणीभाव होकर किसकी प्रधानता होती है?

4–प्रश्न– काव्य से किसकी प्राप्ति होती है?

5–प्रश्न– शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'' यह किसकी उक्ति है?

2.4 सारांश

इस इकाई में आपने काव्यप्रयोजन ,काव्यलक्षण, एवं काव्यहेतुओं का अध्ययन किया, मम्मटाचार्य ने काव्य के छह प्रयोजन दिखलाये हैं। उनमें से 'कान्तासम्मिततया उपदेशयुजे' की व्याख्या करते हुए उन्होंने वेदादि शास्त्र तथा पुराण–इतिहासादि से काव्य का भेद और उसकी उपादेयता का प्रतिपादन बड़े अच्छे ढंग से किया है। काव्य के प्रयोजनों में यश, धन आदि अन्य प्रयोजनों के साथ कर्तव्याकर्तव्य का उपदेश करना भी एक मुख्य प्रयोजन है। वेद–शास्त्र–इतिहास–पुराण आदि की रचना भी मनुष्यों को शुभ–कर्मों में प्रवृत्त करने तथा अशुभ–कर्मों से निवृत्त करने के लिए ही की गयी है। परन्तु काव्य की उपदेश–शैली उन सबसे विलक्षण है।इस विलक्षणता का उपपादन करने के लिए ग्रन्थकार ने शब्दप्रधान, अर्थप्रधान तथा रस प्रधान तीन तरह की उपदेश शैलियों की कल्पना भी की है,जिनको क्रमशः 'प्रभुसम्मित','सुहृत्सम्मित' तथा 'कान्तासम्मित' पदों के द्वारा बताया गया है। इसी प्रकार काव्य के कारणों और लक्षणों की विश्लेषणात्मक व्याख्या भी प्रस्तुत इकाई में की गयी है ।

2.5 शब्दावली

शब्द	**अर्थ**
'काव्यस्य	काव्य का
अलङ्कारैः	अलंकारों से
किं मिथ्यागणितैः	क्या मिथ्या गणितों से
यस्य	जिसका
जीवितम्	जीवित
विचिन्त्यापि	जानकर भी
न दृश्यते	नहीं देखा जाता
सदा	हमेशा
औचित्यं	औचित्य
रससिद्धस्य	रससिद्धि का
काव्यस्य	काव्य का

2. 6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उत्तर –मम्मटाचार्य ने काव्यप्रकाश में काव्य के छह प्रयोजन दिखलाये हैं।
उत्तर –शब्दप्रधान, अर्थप्रधान तथा रस प्रधान तीन तरह की उपदेश शैलियों की कल्पना की है ।
उत्तर –शब्द तथा अर्थ दोनों का गुणीभाव होकर केवल रस की प्रधानता होती है।
उत्तर –काव्य से यश की प्राप्ति होती है
उत्तर –शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'' यह कुन्तक उक्ति है

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1–ग्रन्थ नाम	लेखक	प्रकाशक
शिवराजविजय	अम्बिकादत्तव्यास	चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी
2–संस्कृत साहित्य का इतिहास .	बलदेव उपाध्याय	प्रकाशक शारदा निकेतन वी, कस्तूरवानगर सिगरा वाराणसी
3–ग्रन्थ नाम	लेखक	प्रकाशक
किरातार्जुनीयम्	भारवि	चौखम्भा संस्कृत

		भारती वाराणसी
4–काव्यप्रकाश	आचार्य मम्मट	चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी

2. 8 उपयोगी पुस्तकें

काव्यप्रकाश आचार्य मम्मट चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी

2. 9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.मम्मट प्रतिपादित काव्य लक्षण की समीक्षा कीजिए ।
2.काव्य प्रयाजनों की समीक्षा कीजिए ।

इकाई 3 काव्य भेद एवं शब्दार्थ की विस्तृत व्याख्या

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 काव्य भेद एवं शब्दार्थ की विस्तृत व्याख्या

3.4 सारांश

3.5 शब्दावली

3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.8 उपयोगी पुस्तकें

3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

काव्यशास्त्र से सम्बन्धित खण्ड एक की यह तीसरी इकाई है। इसके पूर्व की इकाइयों में आपने काव्य प्रयोजन,लक्षण आदि का अध्ययन किया है। इस इकाई में आप काव्यके प्रकारों और शब्द तथा अर्थ के भेदों का अध्ययन करेंगें । काव्य भी उत्तम , मध्यम तथा अधम भेदों वाला होता है।

अन्य शास्त्रों में वाचक तथा लक्षक दो प्रकार के शब्द तो प्रायः माने गये हैं परन्तु तीसरे व्यञ्जक शब्द का निरूपण साहित्यशास्त्र को छोड़कर अन्य शास्त्रों में नहीं किया गया है। यद्यपि अन्य शास्त्रों में व्यञ्जक शब्द नहीं माना गया है परन्तु काव्य में तो व्यञ्जक शब्द के बिना कोई चमत्कार ही नहीं हो पाता, इसलिए काव्य में तीनों प्रकार के शब्द माने जाते हैं।

इनमें वाचक शब्द मुख्यार्थ का बोधक होता है इसलिए सर्वप्रथम उसको रखा गया है। लाक्षणिक शब्द वाचक शब्द के ऊपर आश्रित रहता है इसलिए वाचक के बाद लाक्षणिक शब्द का स्थान आता है और व्यञ्जक शब्द इन दोनों की अपेक्षा रखता है इसलिए उसको तीसरे स्थान पर रखा गया है। अतः इस इकाई के अध्ययन से आप काव्य के भेदों और शब्दार्थ के प्रकारों को समझा सकेगें ।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप काव्य भेद एवं शब्दार्थ का विस्तृत व्याख्या इसके के महत्त्व पूर्ण बातों का अध्ययन करेंगे।

- काव्य के भेद के विषय में आप अध्ययन करेंगे
- शब्दार्थ के विषय में आप अध्ययन करेंगे
- चित्र–काव्य के विषय में आप अध्ययन करेंगे
- शब्द के तीन भेद के विषय में आप अध्ययन करेंगे

3.3 काव्य भेद एवं शब्दार्थ की विस्तृत व्याख्या

काव्य के भेद–

काव्य के प्रयोजन, उसके साधन तथा उसके लक्षण के निरूपण के बाद अब) क्रम से (अवसर प्राप्त) उसके भेदों को कहते हैं –

1. ध्वनि–काव्य

(सू0 2) इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।।4।।

इदमिति काव्यम्। बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य।

यथा – **निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोधरो**
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्।। 2।।

अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीति प्राधान्येनाधमपदेन व्यज्यते।। 4।।

(सू0 2) – अर्थात् वाच्य (अर्थ) की अपेक्षा व्यङ्ग्य (अर्थ) के अधिक चमत्कार युक्त होने पर (इदं) काव्य उत्तम कहलाता है, और विद्वानों ने उसको 'ध्वनि' काव्य नाम से कहा है।। 4।।

ध्वनिकाव्य का उदाहरण –

अर्थ – तुम्हारे स्तन के अग्रभाग का चन्दन बिलकुल छूट गया है। यदि स्नान से यह चन्दन छूटता तो केवल अग्रभाग का ही नहीं, सारे स्तन का छूटता है। यह जो ऊपर उठे हुए अग्र भाग का ही चन्दन छूटा है, वह निश्चय परपुरुष के आलिङ्गन से ही छूटा है। अधर का राग बिलकुल छूट गया है, आँखों का अंजन अत्यन्त पुँछ गया है और तुम्हारा यह कृश शरीर रोमाञ्च युक्त हो रहा है। अपनी सखी की बान्धव रूप मेरी) पीड़ा को न समझनेवाली और झूठ बोलने वाली अरी दूती तू यहाँ से बावली नहाने गयी थी और उस अधम (नायक) के पास नहीं गयी।। 2।।

इस श्लोक में कहने वाली भी जानती है कि यह नायक के साथ भोग करके आयी है और जिससे कहा जा रहा है वह तो जानती ही है। इसलिए वक्ता तथा बोद्धा के वैशिष्ट्य से तू) उसी के पास गयी थी, और रमण करने के लिए ही गयी थी, यह बात विशेषकर 'अधम' पद से अभिव्यक्त होती है। इसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अधिक चमत्कार युक्त है इसलिए ग्रन्थकार ने इसको उत्तम–काव्य या ध्वनि–काव्य के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।। 4।।

'इद ' यह पद (यहाँ) काव्य का बोधक है।' बुध' अर्थात् वैयाकरणों ने प्रधानभूत 'स्फोट' रूप व्यङ्ग्य की अभिव्यक्ति कराने में समर्थ शब्द के लिए 'ध्वनि' इस पद का प्रयोग किया था। उसके बाद उनके मत का अनुसरण करने वाले अन्यों (अर्थात् साहित्यशास्त्र के आचार्यों) ने भी वाच्यार्थ को गौण बना देने वाले व्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यक्ति कराने में समर्थ शब्द तथा अर्थ दोनों के लिए ध्वनि पद का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार ध्वनि–काव्य का लक्षण तथा उदाहरण दे चुकने के बाद काव्य के 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' नामक दूसरे भेद का लक्षण कर के उसका उदाहरण आगे देते हैं –

मध्यम काव्य –

(3) **अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्।**

अतादृशि वाच्यादनतिशायिनि। यथा –

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम्
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया।। 3।।

अत्र वञ्जुललतागृहे दत्तसङ्केता नागतेति व्यङ्ग्यं गुणीभूतम्, तदपेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात्।

(सू0 3) अर्थ –उस प्रकार के (अर्थात् वाच्य से अधिक चमत्कारी) व्यङ्ग्य (अर्थ) न होने पर गुणी भूतव्यङ्ग्य (नामक दूसरे प्रकार का काव्य) होता है जो मध्यम काव्य कहा जाता है।

(अतादृशि) वैसा न होने पर अर्थात् (व्यङ्ग्यार्थ के) वाच्य से अधिक उत्तम न होने पर (गुणीभूत व्यङ्ग्य–काव्य होता है) जैसे –

वेतस–वृक्ष की ताजी तोड़ी हुई मञ्जरी को हाथ में लिये ग्राम के नवयुवक को देख–देखकर तरुणी के मुख की कान्ति मलिन होती जा रही है।। 3।।

यहाँ अशोक या वेतस के (वञ्जुलः पुसि तिनिशे वेतसाशोकयोरपि) लता–गृह में (ग्राम–तरुणी के साथ मिलने का) संकेत देकर (घर के काम में लग जाने अथवा अन्य लोगों की उपस्थिति के कारण निकलने का समय न मिलने से तरुणी नियत समय पर वहाँ) नहीं आयी (और ग्राम तरुण समय पर पहुँच गया; उसको देखकर तरुणी की मुख–कान्ति मलिन हो रही है) यह व्यङ्ग्य, वाच्य के ही उस (व्यङ्ग्य) की अपेक्षा अधिक चमत्कारी होने से, गुणीभूत हो गया है। इसलिए यह गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है।। 3।।

'ग्रामतरुण' इस पद से यह भी व्यक्त होता है कि ग्राम में एक ही तरुण है, अनेक युवतियों द्वारा प्रार्थ्यमान होने से उसका दुबारा जल्दी मिलना कठिन है। इसलिए पश्चाताप का अतिशय सूचित होता है। यहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की अपेक्षा वाच्य अर्थ के ही अधिक चमत्कारी होने से गुणीभूतव्यङ्ग्य का यह उदाहरण दिया है।

वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों जहाँ पर समान स्थिति में हों, वहाँ भी व्यङ्ग्य के वाच्यातिशायी न होने के कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य ही होता है। इसका उदाहरण पञ्चम

उल्लास में जहाँ 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' का विस्तार के साथ विवेचन विवेचन है, वहीं पर दिया गया है । वहाँ वाच्य तथा व्यङ्ग्य दोनों के 'तुल्यप्राधान्य' का उदाहरण भी दिया गया है ।

चित्र–काव्य या अधम काव्य

काव्य के तीसरे भेद 'चित्र–काव्य' का लक्षण तथा उदाहरण इस प्रकार है –

शब्दचित्रं वाच्यचित्रं अव्यङ्ग्यम् त्ववरं स्मृतं ।।

(सू0 4)– व्यङ्ग्य (अर्थ) से रहित 'शब्द–चित्र' तथ 'अर्थ–चित्र' (दो प्रकार का) अधम (काव्य) कहा गया है।। 4।।

चित्रमिति गुणालङ्कारयुक्तम्। अव्यङ्ग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम्। अवरम् अधमम्। यथा –

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा–
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानह्निकाह्नाय वः।
भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरी दीर्घादरिद्रद्रुम–
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम्।।4।।

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।
ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती।।5।।

चित्र (नाम) गुण तथा अलङ्कार से युक्त (होने से) है। अव्यङ्ग्य (का अभिप्राय) स्पष्ट रूप से (प्रतीयमान) व्यङ्ग्य अर्थ से रहित (काव्य) है। अवर (का अर्थ) अधम है। (शब्द–चित्र, अर्थ–चित्र–दोनों के उदाहरण देते हैं) जैसे –

('मन्दाकिनी वः मन्दताम् अह्नाय भिद्यात्' यह इस श्लोक का मुख्य वाक्य है, शेष सब मन्दाकिनी के विशेषण हैं। इसलिए श्लोक का भावार्थ यह हुआ कि) गङ्गा तुम्हारी मन्दता अर्थात् अज्ञान या पाप को अह्नाय अर्थात् झटिति तुरन्त ही दूर करे। (किस प्रकार की मन्दाकिनी कि–) स्वच्छन्द रूप से उछलती हुई, अच्छ अर्थात् निर्मल और (कच्छ–कुहर) किनारे के गड्ढ़ों में (छात दुर्बल, छातेतर) अत्यन्त वेग से प्रवाहित होने वाली जो जल की धारा (अम्बुच्छटा) उससे निके मोह अज्ञान का (मूर्च्छा) नाश हो गया है ऐसे महर्षियों के द्वारा जिसमें आनन्दपूर्वक स्नान तथा आह्निक (सन्ध्या–वन्दन आदि) कार्य किये जा रहे हैं इस प्रकार की मन्दाकिनी तुम्हारी मन्दता, अज्ञान अथवा पापादि को दूर करे। इस विशेषण से मन्दाकिनी के महर्षिजन से व्यत्व का प्रतिपादन कर अन्य तीर्थों की अपेक्षा उसका महत्त्व प्रदर्शित किया है। आगे अन्य नदियों से उसकी श्रेष्ठता दिखलाते हैं। उद्यन्तः प्रकाशमाना उदारा महान्तो दुर्दुरा भेका यासु एवंविधा दर्यः कन्दरा यस्यां सा) जिनमें बड़े–बड़े मेढक दिखलायी पड़ रहे हैं इस प्रकार की कन्दराओं से युक्त, और दीर्घकाय एवं अदरिद्र अर्थात् (बड़े ऊँचे तथा शाखा, पत्र–पुष्प आदि से लदे हुए) जो वृक्ष उनके गिराने (द्रोह) के कारण ऊपर उठने वाली बड़ी–बड़ी लहरों से (मेदुरमदा) अत्यन्त गर्वशालिनी गङ्गा तुम्हारे पाप या अज्ञान आदि को तुरन्त नष्ट करे। उसमें कोई व्यङ्ग्यार्थ नहीं है केवल शब्दों का अनुप्रासजन्य चमत्कार है। अतः चित्र काव्य है। यह 'शब्दचित्र' का उदाहरण है। अर्थचित्र का उदाहरण आगे इस प्रकार हैं – (शत्रूणां मानम् अभिमानम् द्यति खण्डयति, मित्रेभ्यो मानमादरं ददाति वा इति मानदः) शत्रुओं के अभिमान को चूर करने वाले जिस (हयग्रीव) को यों ही घूमने के लिए (युद्ध या अमरावती पर विजय करने के लिए नहीं) अपने महल से निकला हुआ सुनकर भी घबड़ाये हुए इन्द्र के द्वारा जिसकी अर्गला डाल दी गयी है इस प्रकार की (इन्द्र की राजधानी) अमरावती (नगरी रूप नायिका) ने भय से (द्वार रूप अपनी) आँखें बन्द–सी कर लीं।

यहाँ '**भिया निमीलिताक्षीव अमरावती जाता**' अर्थात् अमरावती ने मानो डर के नाते आँखें बन्द कर ली हों , इस पद में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। उत्प्रेक्षा में ही कवि का प्रधान रूप से तात्पर्य है।यद्यपि वीर रस की प्रतीति हो सकती है परन्तु उसमें कवि का तात्पर्य न होने से इसको चित्र–काव्य में स्थान दिया गया है। परन्तु अर्थचित्र का यह उदाहरण कुछ ठीक नहीं लगता है। यहाँ वीर रस की प्रतीति होती है, जिसमें हयग्रीव स्वयं 'आलम्बन–विभाव', प्रतिपक्षी इन्द्रगत भय 'उद्दीपन–विभाव', मान का खण्डन 'अनुभाव'

और यदृच्छा–सञ्चरण से गम्य धृति 'व्यभिचारिभाव' हैं। इसलिए यह व्यङ्गग्य रहित अधम 'चित्र–काव्य' का उदाहरण नहीं हो सकता है। यदि उत्प्रेक्षा से वीर रस अभिभूत हो जाता है यह कहा जाय, तो इसको गुणीभूत–व्यङ्गग्य के उदाहरण में अन्तर्भूत किया जा सकता है। अधम काव्य की श्रेणी में रखकर कदाचित् इस श्लोक के साथ पूरी तरह न्याय नहीं हुआा है।

शब्दार्थ स्वरूप की विवेचना

(सू0 5) स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोत्र व्यञ्जकस्त्रिधा। अत्रेति काव्ये। एषां स्वरूपं वक्ष्यते।

शब्द के तीन भेद

काव्य का लक्षण करने के बाद ग्रन्थकार नें लक्षण में आये हुए 'शब्दार्थौ' का विवेचन करने के लिए क्रम से अवसर प्राप्त शब्द तथा अर्थ के स्वरूप को बताया है –

(सू0 5)–यहाँ (काव्य में) वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक (भेद से) तीन प्रकार का शब्द होता है।

यहाँ इससे 'काव्य में' यह अर्थ लेना चाहिये। इन वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक तीनों प्रकार के शब्दों के स्वरूप का वर्णन आगे दिया जायेगा।

अन्य शास्त्रों में वाचक तथा लक्षक दो प्रकार के शब्द तो प्रायः माने गये हैं परन्तु तीसरे व्यञ्जक शब्द का निरूपण साहित्यशास्त्र को छोड़कर अन्य शास्त्रों में नहीं किया गया है। इसलिए कारिका में 'अत्र' शब्द का विशेष रूप से प्रयोग किया गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि अन्य शास्त्रों में व्यञ्जक शब्द नहीं माना गया है परन्तु काव्य में तो व्यञ्जक शब्द के बिना कोई चमत्कार ही न रह जायेगा इसलिए यहाँ काव्य में तीनों प्रकार के शब्द माने जाते हैं। इनमें वाचक शब्द मुख्यार्थ का बोधक होता है इसलिए सबसे पहिले उसको रखा गया है। लाक्षणिक शब्द वाचक शब्द के ऊपर आश्रित रहता है इसलिए वाचक के बाद लाक्षणिक शब्द का स्थान आता है और व्यञ्जक शब्द इन दोनों की अपेक्षा रखता है इसलिए उसको तीसरे स्थान पर रखा गया है। उसमें भी विशेष रूप से यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह तीन प्रकार का विभाग केवल शब्द की उपाधियों का है, शब्दों का नहीं; क्योंि कअमुक शब्द केवल वाचक है, अमुक शब्द केवल लक्षक है या अमुक शब्द केवल व्यञ्जक है इस प्रकार कोई निश्चित विभाग शब्दों में नहीं पाया जाता है। एक ही शब्द वाचक भी हो सकता है और लक्षक तथा व्यञ्जक भी। इसलिए यह तीन प्रकार का विभाग शब्दों का नहीं, अपितु शब्द की उपाधियों का ही समझना चाहिये। जिस प्रकार एक ही व्यक्ति

(सू0 6) वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः

वाच्य–लक्ष्य–व्यङ्गग्याः।

अर्थ के तीन भेद

जिस प्रकार उपाधि भेद से शब्द तीन प्रकार के होते हैं उसी प्रकार अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं। उनको कहते हैं –

(सू0 6)–वाच्य (लक्ष्य तथा व्यङ्गग्य) आदि उन (वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक शब्दों) के अर्थ (भी तीन प्रकार के) होते हैं।

(वाच्यादि का अर्थ है) वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्गग्य।

अर्थ का चौथा भेद– 'तात्पर्यार्थ'

(सू0 7) तात्पर्यार्थोपि केषुचित्।।6।।

उपाधि के भेद से कभी वाचक और कभी पाठक कहा जा सकता है, उसी प्रकार उपाधियों के भेद से एक ही शब्द कभी वाचक, कभी लक्षक और कभी व्यञ्जक कहा जा सकता है।

(सू0 7)–किन्हीं कुमारिलभट्ट के अनुयायी पार्थसारथि मिश्र आदि ('अभिहितान्वयवादी' मीमांसकों) के मत में (तीन प्रकार के वाच्यादि अर्थों के अतिरिक्त चौथे प्रकार का) तात्पर्यार्थ भी होता है।। 6।।

भारतीय साहित्य में शाब्दबोध का विवेचन व्याकरण, न्याय तथा मीमांसा इन तीन शास्त्रों में विशेष रूप से किया गया है। इनमें से व्याकरणशास्त्र में पद–पदार्थों का विवेचन है,

इसलिए व्याकरण को 'पद–शास्त्र' कहते हैं। न्याय में विशेष रूप से प्रमाणों का विवेचन किया गया है इसलिए न्याय को 'प्रमाणशास्त्र' कहा जाता है। इसी प्रकार वाक्यार्थ–शैली का विवेचन मीमांसा में विशेष रूप से किया है, इसलिए मीमांसा को 'वाक्य–शास्त्र' कहा जाता है। शाब्दबोध में इन तीनों शास्त्रों की आवश्यकता पड़ती है इसलिए शाब्दबोध में निष्णात इन तीनों शास्त्रों के पण्डित को 'पद–वाक्य–प्रमाणज्ञः' इस गौरवपूर्ण उपाधि से विभूषित किया जाता है। यहाँ ग्रन्थकार ने अर्थ विवेचन के प्रसङ्ग में मीमांसकों के सिद्धान्त को प्रदर्शित करने के लिए 'तात्पर्यार्थोपि केषुचित्' यह पंक्ति विशेष रूप से लिखी है।

मीमांसकों में भी वाक्यार्थ के विषय में कई मत पाये जाते हैं, जिनमें 'अभिहितान्वयवाद' तथा 'अन्विताभिधानवाद' दो मुख्य हैं। प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् कुमारिलभट्ट तथा उनके अनुयायी पार्थसारथि मिश्र आदि 'अभिहितान्वयवाद' के मानने वाले हैं। इसके विपरीत प्रभाकर–गुरु और उनके अनुयायी शालिकनाथ मिश्र आदि 'अन्विताभिधानवाद' के मानने वाले हैं।

अभिहितान्वयवाद की व्याख्या

आकाङ्क्षा–योग्यता–सन्निधिवशाद् वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोपि वाक्यार्थः समुल्लसतीति 'अभिहितान्वयवादिनां' मतम्।

आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के बल से (समन्वय) परस्पर सम्बन्ध होने में पदों से प्रतीत होने वाला अर्थ न होने पर भी (तात्पर्यविषयीभूत अर्थ हेने के कारण) विशेष प्रकार का तात्पर्यरूप वाक्यार्थ प्रतीत होता है यह 'अभिहितान्वयवादियों' अर्थात् कुमारिलभट्ट के अनुयायियों का मत है।

अभिहितान्वयवाद का अभिप्राय यह है कि पहले पदों से पदार्थों की प्रतीति होती है। उसके बाद उन पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध, जो पदों से उपस्थित नहीं हुआ था, वाक्यार्थ–मर्यादा से उपस्थित होता है। कुमारिलभट्ट आदि का यह सिद्धान्त 'अभिहितान्वयवाद' कहा जाता है। इस मत में पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध पदों से नहीं, अपितु वक्ता के तात्पर्य के अनुसार होता है, इसलिए उसको 'तात्पर्यार्थ' कहते हैं, वहीं वाक्यार्थ कहलाता है और उसकी बोधक शक्ति को 'तात्पर्याख्या शक्ति' भी कहा जाता है, जो पहिले बतलायी हुई तीनों शक्तियों से भिन्न चौथी शक्ति मानी जा सकती है। परन्तु मीमांसक व्यञ्जना–शक्ति नही मानते हैं इसलिए उनकी दृष्टि से तो यह चौथी नहीं, तीसरी ही शक्ति है।

एक तो 'अभिहितान्वयवाद' का सिद्धान्त दार्शनिक विषय होने के कारण वैसे ही क्लिष्ट है उस पर आचार्य मम्मट की क्लिष्ट रचना–शैली के कारण ये पंक्तियाँ और भी कठिन एवं दुरूह बन गयी हैं। 'आकाङ्क्षा–योग्यता–सन्निधिवशात्' इस वाक्य–खण्ड को ग्रन्थकार ने पहले रखा है और 'वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानाम्' इस वाक्यांश को बाद में रखा है। यह वाक्य–रचना अर्थ को समझने में कुछ कठिनाई उपस्थित करती है। यदि इसके स्थान पर 'वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानाम् आकाङ्क्षा–योग्यता–सन्निधिवशात् समन्वये' इस प्रकार का पाठ रखते तो अर्थ का समझना अपेक्षाकृत सरल हो जाता। पंक्तियों का आशय यह है कि पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध पदों द्वारा उपस्थित न होने पर भी आकांक्षा आदि के बल से भासता है। यही 'तात्पर्यार्थ' है और यही 'वाक्यार्थ' कहलाता है। इसी को पंक्ति में '**तात्पर्यार्थो विशेषवपुः अपदार्थोपि वाक्यार्थः समुल्लसति**' इन शब्दों के द्वारा कहा गया है।

आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि शब्दों का प्रयोग किया गया है। ये नये शब्द हैं इसलिए इनका अर्थ समझना बहुत जरूरी है। इनमें से 'आकांक्षा' वस्तुतः 'श्रोता की जिज्ञासा रूप' है। एक पद को सुनने के बाद वाक्य के अन्य पदों के सुने बिना पूरे अर्थ का ज्ञान नहीं होता है, इसलिए वाक्य के अगले पद के सुनने की इच्छा श्रोता के मन में उत्पन्न होती है। इसी का नाम आकांक्षा है। जिन पदों के सुनने पर इस प्रकार की आकांक्षा होती है उनके समुदाय को ही वाक्य कहते हैं। आकांक्षा से रहित 'गौरश्वः

पुरुषो हस्ती' आदि यों ही अनेक पद बोल देने से वाक्य नहीं बनता है। दूसरे 'योग्यता' पद का अभिप्राय 'पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा का अभाव' है। जहाँ पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा होती है उस पद–समुदाय को वाक्य नहीं कहा जाता और न उससे वाक्यार्थबोध होता है। जैसे 'वह्निना सिञ्चति' इस पद–समुदाय में 'योग्यता' नहीं है अर्थात् अग्नि से सिंचाई नहीं की जा सकती है। इसलिए वहह्न तथा सिंचन के सम्बन्ध में बाधा होने से यहाँ योग्यता का अभाव है। इस कारण इसको वाक्य नहीं कहा जा सकता है। तीसरा 'सन्निधि' पद है, उसका अर्थ 'एक ही पुरुष द्वारा अविलम्ब से पदों का उच्चारण करना' है। यदि एक ही व्यक्ति द्वारा घंटे–घंटे भर बाद में पदों का अलग–अलग उच्चारण किया जाय तो वे सब मिलकर वाक्य नहीं कहला सकते हैं; क्योंकि उनमें 'आसक्ति' या 'सन्निधि' नहीं है। इसलिए आकांक्षा, योग्यता और स"िधि से युक्त जो पदसमुदाय होता है वही वाक्य कहलाता है और उसी से वाक्यार्थ का बोध होता है। इसलिए यहाँ ग्रन्थकार ने इन तीनों का उल्लेख किया है। 'अभिहितान्वयवाद' में पहिले पदों से केवल अनन्वित–पदार्थ उपस्थित होते हैं उसके बाद पदों की आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि के बल से 'तात्पर्य शक्ति' द्वारा उन पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध रूप वाक्यार्थों के बोध होता है। यह 'अभिहितान्वयवादी' कुमारिलभट्ट के मत का सारांश ग्रन्थकार ने यहाँ प्रस्तुत किया है।

वाच्य एव वाक्यार्थ इति 'अन्विताभिधानवादिनः'।

अन्विताभिधानवाद की व्याख्या

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक प्रभाकर और उनके अनुयायी शालिकनाथ मिश्र आदि हैं। इनका कहना यह है कि पहिले 'केवल' पदार्थ अभिहित होते हों और बाद को उनका 'अन्वय' होता हो यह बात नहीं है, बल्कि पहिले से 'अन्वित' पदार्थों का ही अभिधा से बोधन होता है। इसलिए इस सिद्धान्त का नाम 'अन्विताभिधानवाद' रखा गया है। इस मत में पदार्थों का 'अन्वय' पूर्व से ही सिद्ध होने के कारण, उसके कराने के लिए, 'तात्पर्याख्या शक्ति' की आवश्यकता नहीं होती है।

प्रभाकर अपने इस मत के समर्थन के लिए यह युक्ति देते हैं कि पदों से जो पदार्थों की प्रतीति होती है वह 'सङ्केतग्रह' के बाद ही होती है और उस सङ्केत का ग्रहण व्यवहार से होता है। जैसे, छोटा बालक है, उसको यह ज्ञान नहीं होता है कि किस शब्द का क्या अर्थ है, कौन–सा शब्द किस अर्थ के बोधन के लिए प्रयुक्त किया जाता है। वह अपने पिता आदि के पास बैठा है। पिता उसके बड़े भाई या नौकर आदि किसी को आज्ञा देता है कि 'जरा कलम उठा दो।' बालक न कलम को जानता है और न 'उठा दो' का अर्थ समझता है। परन्तु वह पिता के इस वाक्य को सुनता है और भाई के व्यापार को देखता है। इससे उसके मन पर उस समष्टि वाक्य के समष्टि भूत अर्थ का एक संस्कार बनता है। उसके बाद पिता फिर कहता है 'कलम रख दो और दावात उठा दो।' बालक फिर इस वाक्य को सुनता और भाई को तदनुसार क्रिया करते देखता है। इस प्रकार अनेक बार के व्यवहार को देखकर बालक धीरे–धीरे कलम, दावात, उठाना, रखना आदि शब्दों के अलग–अलग अर्थ समझने लगता है। इस प्रकार व्यवहार से सङ्केत–ग्रह होता है। यह सङ्केत–ग्रह केवल पदार्थ में नहीं, अपितु किसी के साथ अन्वित–पदार्थ में ही होता है। इसलिए जब 'केवल' 'अन्वित' पदार्थ सङ्केत–ग्रह नहीं होता है तो 'केवल' या 'अनन्वित' पदार्थ की उपस्थिति भी नहीं होती है। अतएव 'अन्वित' का ही 'अभिधान' अर्थात् 'अभिधा' से बोधन होने से 'अन्विताभिधान' ही मानना उचित है, 'अभिहितान्वय' का मानना उचित नहीं है यह प्रभाकर के सिद्धान्त का सार है।अगली पंक्ति में अन्विताभिधानवाद के सिद्धान्त को इस प्रकार दिखलाते हैं –

पदों के द्वारा अन्वित पदार्थों की ही उपस्थिति होती है इसलिए पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध रूप) वाक्यार्थ वाच्य ही होता है। (तात्पर्याख्या शक्ति से बाद को प्रतीत नहीं होता है) यह 'अन्विताभिधानवादियों' (प्रभाकर आदि) का मत है।

प्रभाकर गुरू का परिचय

इस 'अन्विताभिधानवाद' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले प्रभाकर, वस्तुतः 'अभिहितान्वयवादी' कुमारिलभट्ट के शिष्य हैं। पर उनका अनेक विषयों में अपने गुरु से मतभेद रहा है। प्रभाकर अपने विद्यार्थी–जीवन में ही बड़े प्रभावशाली विद्यार्थी थे और अपने स्वतन्त्र विचारों के लिए प्रसिद्ध थे। प्रत्येक विषय पर वे अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा और स्वतन्त्र विचार–शैली से विचार करते थे जिसके कारण कभी–कभी उनके गुरु कुमारिलभट्ट को भी कठिनाई का सामना करना पड़ता था।

एक बार की बात है कि कुछ विद्वानों में 'आतिवाहिक–पिण्ड' के सिद्धान्त पर विवाद छिड़ गया। आतिवाहिक–पिण्ड का अभिप्राय मृत्यु के बाद दिये जाने वाले पिण्ड से है। एक पक्ष उसके दिये जाने का समर्थन करता था और उसकी एक विशेष विधि का प्रतिपादन करता था। दूसरा पक्ष उसका विरोधी था। अन्त में यह विवाद निर्णय के लिए कुमारिलभट्ट के पास पहुँचा। कुमारिलभट्ट ने अपनी सम्मति के अनुसार एक पक्ष में व्यवस्था दे दी। परन्तु यह व्यवस्था प्रभाकर को रुचिकर प्रतीत नहीं हुई और उन्होंने उसका प्रतिवाद किया। बाहर के विद्वान् तो कुमारिलभट्ट की व्यवस्था लेकर चले गये परन्तु जो विवाद अब तक बाहर था वह अब घर में प्रारम्भ हो गया। कुमारिलभट्ट ने अनेक प्रकार से प्रभाकर को अपना सिद्धान्त समझाने का प्रयत्न किया परन्तु उसको सन्तोष न हुआ, या यों कहना चाहिये कि कुमारिलभट्ट अपनी युक्तियों से उसको चुप न कर सके। बहुत दिन बीत गये। एक दिन सहसा कुमारिलभट्ट की मृत्यु का समाचार सुनायी दिया। यद्यपि सहसा किसी को उनी मृत्यु का विश्वास न होता था पर जब सभी ने उनके शरीर की परीक्षा कर उसमें जीवन का कोई चिह्न न पाया तो फिर उस पर विश्वास करने के अतिरिक्त और मार्ग ही क्या था। फलतः सब लोगों ने उनका अन्तिम संस्कार करने की तैयारी प्रारम्भ कर दी। इस अन्तिम संस्कार के प्रसङ्ग में जब 'आतिवाहिक–पिण्ड' का अवसर आया तो लोगों ने प्रभाकर की ओर देखा। परन्तु उस समय प्रभाकर ने बिना किसी सङ्कोच के कुमारिलभट्ट की व्यवस्था के अनुसार ही सारी प्रक्रिया करवायी। सारी कार्यवाही पूर्ण हो जाने के बाद मृतक–यान के उठाये जाने के पूर्व कुमारिलभट्ट के शरीर में कुछ चेतना का संस्कार–सा प्रतीत हुआ और धीरे–धीरे थोड़ी देर बाद वे उठकर बैठ गये, जैसे सोकर उठे हों। उठने के बाद सब लोगों में प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी और इस बीच में क्या–क्या हुआ इस सबका समाचार उनको सुनाया गया। उस प्रसङ्ग में जब उनको यह मालूम हुआ कि आज प्रभाकर ने मेरे 'आतिवाहिक–पिण्ड' सम्बन्धी सिद्धान्त को ही मान्य ठहराया था तब उनको भी प्रसन्नता हुई और उन्होंने प्रभाकर को सम्बोधन करके कहा, 'प्रभाकर जितमस्माभिः'–कहो प्रभाकर, हम जीते न। प्रभाकर ने उत्तर दिया, 'भगवन् मृत्वा जितम्'–भगवन्, मरकर जीते। मुझे जीतने के लिए आपको मरने का छल करना पड़ा या दूसरा जन्म लेना पड़ा।

प्रभाकर को 'गुरु' की उपाधि का प्रसंग

यह उन गुरु–शिष्य के शास्त्र–समर की एक झाँकी है। पर एक और घटना इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। एक दिन कुमारिलभट्ट के यहाँ विद्यार्थियों के पाठ हो रहे थे। प्राचीन पाठशालाओं की प्रणाली यह थी कि पाठ के समय छोटे–बड़े सभी विद्यार्थी, गुरुजी के पास ही बैठकर सबके पाठ सुनते थे। इससे जो विद्यार्थी उस ग्रन्थ को पहिले पढ़ चुके होते थे उनको उसका पाठ दुबारा–तिबारा सुनने से वह और अधिक परिमार्जित हो जाता था और जिन्हें आगे चलकर वह ग्रन्थ पढ़ना होता था उनका कुछ प्राम्भिक संस्कार बन जाता था जो आगे उनको सहायता देता था।

ऐसे ही पाठ के प्रसङ्ग में सब विद्यार्थियों के साथ बैठे हुए प्रभाकर, अपने से किसी उच्च कक्षा के विद्यार्थियों का पाठ सुन रहे थे। पढ़ाते–पढ़ाते गुरुजी अकस्मात् रुक गये। कोई क्लिष्ट पंक्ति आ गयी थी जो लग नहीं रही थी। इसलिए गुरुजी ने उस पाठ को वहीं रोक दिया और देखकर कल पढ़ाने को कह दिया।

पाठों के समाप्त हो जाने के बाद जब सब लोग उठकर चले गये और गुरुजी अपने भोजन आदि अन्य कार्यों में लग गये तो प्रभाकर ने आकर गुरुजी की पुस्तक उठा ली और जहाँ गाड़ी अटग गयी थी उस पाठ को विचारने लगे। तनिक देर सोचने के बाद उन्हें मालूम हो गया कि यह, 'ईश्वर की रचना' को '7 सेर के चना' बना देने वाले आज के प्रेस के भूतों के समान, लेखक के प्रमाद का खेल है। उसमें कोई शास्त्रीय गुत्थी नहीं है। पुस्तक में लिखा हुआ था 'अत्रापि नोक्तं तत्रापि नोक्तम् इति पौनरुक्त्यम्'। इसका अर्थ यह होता है कि 'यहाँ भी नहीं कहा है और वहाँ भी नहीं कहा है इसलिए पुनरुक्ति है।' यही समस्या बन गयी थी। पुनरुक्ति तो तब होती है जब एक ही बात दो बार कही जाय। जो बात न यहाँ कही गयी, न वहाँ कही गयी वह पुनरुक्त कैसे हो सकती है यह बात समझ में नहीं आ रही थी। प्रकार ने कलम लेकर उस पाठ को संशोधन कर के इस प्रकार लिख दिया –

'अत्र तुना उक्तं तत्र अपिना उक्तम् इति पौनरुक्त्यम्।'

अर्थात् यहाँ जो बात 'तुना' अर्थात् 'तु' शब्द से कही है वही बात वहाँ अर्थात् दूसरे स्थान पर 'अपिना' अर्थात् 'अपि' शब्द से कही गयी है इसलिए पुनरुक्ति है।

'अत्र तुनोक्तं तत्रापिनोक्तम् इति पौनरुक्त्यम्।'

इस पाठ में जो पुनरुक्ति समझ में नहीं आ रही थी पाठ का संशोधन कर देने से वह बिलकुल स्पष्ट हो गयी। प्रभाकर चुप–चाप पुस्तक रखकर चले आये। कुछ समय बाद जब कुमारिलभट्ट ने उस पाठ को विचारने के लिए पुस्तक उठायी तो सब–कुछ हस्तामलकवत् स्पष्ट हो गया और यह समझने में भी उनको देर न लगी कि यह कार्य प्रभाकर का है। उनको अपने शिष्य की प्रतिभा पर पहिले ही बड़ा विश्वास था पर आज उसकी अपूर्व प्रतिभा देखकर उनको बड़ा आनन्द हुआ और वे गद्‌गद हो गय। विश्वविद्यालयीय बाह्याडम्बरमय वातावरण के समान नहीं, अपितु विशुद्ध भावना से अपने समस्त शिष्य मण्डल के बीच आज उन्होंने अपने उस शिष्य की 'गुरु' की गौरवमयी उपाधि प्रदान की। तबसे आज तक प्रभाकर 'गुरु' नाम से प्रसिद्ध हैं और दार्शनिक ग्रन्थों में 'इति गुरुमतम्' कहकर अत्यन्त सम्मानपूर्वक उनके मत का उल्लेख किया जाता है।

तौतातिक मत का अभिप्राय

इसके विपरीत कुमारिलभट्ट के मत का प्रायः 'इति तौतातिकं मतम्' 'तौतातिक मत' नाम से उल्लेख किया जाता है। 'तौतातिक' शब्द का अर्थ 'तु शब्दः तातः शिक्षको यस्य स तुतातः, तस्येदं तौतातिकम्' यह होता है। 'तु' शब्द जिसका 'तात' अर्थात् शिक्षक है वह तु–तात हुआ और उसका मत 'तौतातिक मत' हुआ। ऊपर की घटना के अनुसार 'तु' शब्द से ही कुमारिलभट्ट को यह शिक्षा मिली थी इसलिए वे ही 'तु–तात' हुए, और उनका मत 'तौतातिक–मत' कहलाया जाने लगा।

तीनों अर्थों का व्यञ्जकत्व

इस प्रकार ग्रन्थकार ने वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक तीन प्रकार के शब्दों और उनके अनुसार वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य तीन प्रकार के अर्थों का विवेचन किया और उसके साथ 'अभिहितान्वयवादियों' के मत में 'तात्पर्यार्थ' भी होता है यह बात यहाँ तक दिखलायी है। इसके बाद वे यह कह रहे हैं कि इन तीनों प्रकार के अर्थों में व्यञ्जकत्व भी रहता है अर्थात् वाच्यार्थ भी व्यञ्जक हो सकता है और

(सू0 8) सर्वेषां प्रायशोर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते।

(सूत्र 8)–प्रायः (इन) सभी अर्थों का व्यञ्जकत्व भी (साहित्यशास्त्र में) माना जाता है।

तत्र वाच्यस्य यथा –

उनमें से वाच्य (अर्थ के व्यञ्जकत्व) का (उदाहरण) जैसे –

मातर्गृहोपकरणमद्य खलु नास्तीति साधितं त्वया।
तद्भण किं करणीयमेवमेव न वासरः स्थायी।।6।।

अत्र स्वैरविहारार्थिनीति व्यज्यते।

हे मातः! आज घर की (आटा–दाल) सामग्री नहीं रही है यह बात तुमने बतला ही दी

है। तो अब यह बताओ कि क्या करना चाहिये, क्योंकि दिन ऐसा ही तो नहीं बना रहेगा (थोड़ी देर में दिन छिप जायगा फिर क्या होगा)।। 6।।
यहाँ (कहने वाली वधू) स्वच्छन्द विचरण के लिए (अर्थात् उपपति के पास) जाना चाहती है यह बात व्यङ्ग्य है।
लक्ष्यस्य यथा –

साधयन्ती सखि सुभगं क्षणे क्षणे दूनासि मत्कृते।
सद्भावस्नेहकरणीयसदृशकं तावद् विरचितं त्वया।। 7।।

लक्ष्य (अर्थ के व्यञ्जकत्व) का (उदाहरण) जैसे –
हे सखि, उस सुन्दर के पास बार–बार जाकर मेरे लिए तुमने बड़ा कष्ट उठाया अब उसकी आवश्यकता नहीं है। (मेरे प्रति) अपनी सद्भावना और स्नेह के सदृश जो तुम को करना चाहिये था सो तुमने कर लिया।। 7।।
यहाँ, मेरे प्रिय के साथ रमण कर के तूने (मेरे साथ) शत्रुता निबाही है यह लक्ष्य अर्थ होता है और उससे कामुक विषयक सापराधत्व का प्रकाशन व्यङ्ग्य है।
यह श्लोक भी वञ्चिता नायिका की उक्ति है और यह ठीक उसी ढंग का है जिस ढंग का 'निःशेषच्युतचन्दनम्' इत्यादि उदाहरण सं0 2 का श्लोक पहिले दिया जा चुका है। उसमें भी नायिका की भेजी हुई दूती ने उसका संवाद नायक के पास पहुँचाने के बजाय स्वयं उसके साथ 'स्वैरविहार' कर के उस नायिका को धोखा दिया था। इसी प्रकार यहाँ भी नायिका की सखी ने बीच में स्वयं ही उसके प्रिय के साथ रमण कर उसको धोखा दिया है। यह बात वक्ता तथा बोद्धा के वैशिष्ट्य से व्यङ्ग्य है।
अत्र मत्प्रियं रमयन्त्या त्वया शत्रुत्वमाचरितम् इति लक्ष्यम्। तेन च कामुकविषयं सापराधत्वप्रकाशनं व्यङ्ग्यम्। अत्र निष्पन्दत्वेन आश्वस्तत्वम्। तेन च जनरहितत्वम्। अतः संकेतस्थानमेतदिति कयाचित् कंचित् प्रति उच्यते। अथवा मिथ्या वदसि न त्वमत्रागतोभूरिति व्यज्यते।।
लक्ष्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ भी, अर्थात् तीनों ही अर्थ व्यञ्जक हो सकते हैं। उन तीनों अर्थों के व्यञ्जकत्व के उदाहरण क्रमशः देते हुए इसी बात को आगे कहते हैं –
इस प्रकार वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ के व्यञ्जकत्व के उदाहरण दिये गये हैं। आगे व्यङ्ग्यार्थ के व्यञ्जकत्व का तीसरा उदाहरण देते हैं –
व्यङ्ग्यस्य यथा –

पश्य निश्चलनिष्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव।। 8।।

व्यङ्ग्य (अर्थ के व्यञ्जकत्व) का (उदाहरण) जैसे –
देखो, कमल के पत्ते पर निश्चल और बिना हिले–डुले बैठी हुई बलाका (बगुलिया) निर्मल (हरे रंग की) मरकत–मणि की तश्तरी (भाजन) में रखी हुई शङ्ख–शुक्ति की तरह विदित होती है।। 8।।
यहाँ (बलाका के) निश्चल होने से उसकी निडरता (आश्वस्तता लक्षणा से सूचित होती है। और उस (आश्वस्तत्व रूप लक्ष्यार्थ) से (स्थान का) जनहरित होना (व्यञ्जना से सूचित होता है)। इसलिए यह संकेत स्थान है यह (बात पहिले व्यङ्ग्यार्थ से फिर व्यञ्जना द्वारा) कोई नायिका किसी से (अर्थात् अपने कामुक प्रिय से) कह रही है। अथवा झूठ बोलते हो तुम यहाँ नहीं आये (अन्यथा यह बलाका ऐसी निश्चल–निष्पन्द नहीं रह सकती थी) सह (पहिले व्यङ्ग्यार्थ से) व्यञ्जना द्वारा सूचित होता है।
यह पद्य 'हाल–कवि'–विरचित 'गाथासप्तशती' के प्रथम शतक का चतुर्थ पद्य है। ग्रन्थकार ने उसे व्यङ्ग्यार्थ के व्यञ्जकत्व को दिखलाने वाले उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें बलाका निष्पन्द अर्थात् बिना हिले–डुले बैठी है यह वाच्य अर्थ है। इससे यह सर्वथा आश्वस्त है, उसको किसी प्रकार का भय नहीं है यह बात लक्षित होती है। इस आश्वस्तत्व से यह स्थान विजन एकान्त–स्थान है यह व्यङ्ग्य निकलता है। इस व्यङ्ग्य अर्थ से यह 'संड्केत' के लि उचित स्थान है। यह दूसरा व्यङ्ग्यार्थ निकलता है, इसलिए यह व्यङ्ग्यार्थ की व्यञ्जकता का उदाहरण है।

यहाँ श्लोक में निश्चल तथा निष्पन्द दो विशेषणों का प्रयोग किया गया है। वैसे अनेक स्थानों पर ये दोनों शब्द समानार्थक रूप में प्रयुक्त होते हैं। परन्तु यहाँ यदि उनको समानार्थक माना जाय तो पुनरुक्ति होती है, इसलिए उनके अर्थ में जो सूक्ष्म भेद हैं, उसकी ओर ध्यान देना चाहिये। चलन शरीर की स्थानान्तर–प्रापिका क्रिया है। अर्थात् चलन क्रिया शरीर में होती है और उसके होने पर चलने वाला व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच जाता है। परन्तु स्पन्दन शरीर के अवयवों की क्रिया है जो स्थानान्तर–प्रापक नहीं होती है। अर्थात् अपने स्थान पर बैठे या खड़े हुए जो शरीर के अवयवों का हिलाना–डुलाना है वह 'स्पन्दन' कहा जाता है। 'स्पदि किञ्चिच्चलने' धातु का यही भावार्थ है। इसलिए इन दोनों शब्दों के सह–प्रयोग में भी पुनरुक्ति नहीं होती है।

वाचक आदि तीनों प्रकार के शब्दों का स्वरूप –

(सू0 9) साक्षात्संकेतितं योर्थमभिधत्ते स वाचकः।।7।।

इहागृहीतसंकेतस्य शब्दस्यार्थप्रतीतेरभावात् संकेतसहाय एव शब्दोर्थविशेषं प्रतिपादयतीति यस्य यत्राव्यवधानेन संकेतो गृह्यते स तस्य वाचकः।

वाचक शब्द का स्वरूप

इस प्रकार तीन प्रकार के शब्द तथा अर्थों का निरूपण कर चुकने के बाद उन वाचक आदि तीनों प्रकार के शब्दों के स्वरूप को बताते हैं –

क्रमशः वाचक आदि (तीनों प्रकार के शब्दों) के स्वरूप का निरूपण करते हैं –

साक्षत्संकेतितं यो अर्थं अभिधत्ते स वाचकः।

(सू0 9)–जो (शब्द) साक्षात् संकेतित अर्थ को (अभिधा शक्ति के द्वारा) कहता है वह 'वाचक' (शब्द कहलाता है)।।7।।

लोकव्यवहार में बिना संकेत–ग्रह के शब्द के अर्थ की प्रतीति के न होने से संकेत की सहायता से ही शब्द अर्थ विशेष का प्रतिपादन करता है (यह सिद्धान्त निश्चित होता है) इसलिए जिस (शब्द) का जहाँ (जिस अर्थ में) अव्यवधान से संकेत का ग्रहण होता है वह (शब्द) उस (अर्थ) का 'वाचक' होता है।

संकेतग्रह के बताये गये उपाय

लोकव्यवहार से छोटे बालकों को संकेत ग्रह किस प्रकार होता है यह हम अभी दिखला चुके हैं। उस प्रक्रिया को 'आवापोद्वाप' की प्रक्रिया कहते हैं क्योंकि उसमें पहिले उत्तम वृद्ध अर्थात् बालक के पिता आदि ने मध्यम वृद्ध अर्थात् बालक के बड़े भाई या नौकर आदि को कलम उठाने की आज्ञा दी थी। फिर कलम रखकर दावात उठाने की आज्ञा दी थी और मध्यम वृद्ध ने उसी के अनुसार क्रिया की थी। उस व्यवहार में एक शब्द को हटाकर जो दूसरे शब्द का इसी प्रकार एक अर्थ के स्थान पर दूसरे अर्थ का निवेश किया गया इसी को आवाप–उद्वाप कहते हैं, इसलिए व्यवहार में 'आवापोद्वाप' द्वारा संकेत का ग्रहण होता है यह बात स्पष्ट हो जाती है। यह लोकव्यवहार संकेत ग्रह का प्रधान साधन है ।

अभ्यास प्रश्न –

1–प्रश्न–शब्द के कितने भेद होते हैं?

2–प्रश्न–वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक (भेद से)कितने प्रकार का शब्द होता है?

3–प्रश्न–अन्य शास्त्रों में वाचक तथा लक्षक दो प्रकार के शब्द तो प्रायः माने गये हैं

4–प्रश्न–अर्थ के तीन भेद होते है

5–प्रश्न–साक्षात् संकेतित अर्थ को (अभिधा शक्ति के द्वारा) कहता है

3.4 सारांश

इस इकाई में काव्यशास्त्रीय शब्दार्थ स्वरूप एवं काव्य के भेदों का वर्णन किया है।

काव्य के भेदों का वर्णन करते हुए उन्होंने मुख्य रूप से काव्य के तीन भेद किये हैं – 1. ध्वनि–काव्य, 2. गुणीभूत–व्यङ्ग्य–काव्य और 3. चित्र–काव्य। इनमें से 'ध्वनि–काव्य' उसको कहते हैं जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अधिक चमत्कार युक्त होता है। इसके विपरीत जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक व उसके तुल्य चमत्कारजनक होता है उसको 'गुणीभूत–व्यङ्ग्य–काव्य' कहते हैं, और जहाँ व्यङ्ग्य का सर्वथा अभाव होता है उसको 'चित्र–काव्य' कहते हैं। इनमें से ध्वनि–काव्य उत्तम, गुणीभूत–व्यङ्ग्य–काव्य मध्यम तथा चित्र–काव्य अधम श्रेणी में गिना जाता है।

3.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
काव्यप्रकाशे	काव्यप्रकाश में
काव्यस्य	काव्य का
प्रयोजन	प्रयोजन
स्वरूपविशेषः	स्वरूपविशेष
निर्णयो नाम	निर्णय नाम का
प्रथम उल्लासः	प्रथम उल्लास
मिथ्या	असत्य
वदसि	बोलते हो

3. 6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उत्तर –शब्द के तीन भेद होते हैं।
उत्तर –वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक (भेद से) तीन प्रकार का शब्द होता है।
उत्तर –अन्य शास्त्रों में वाचक तथा लक्षक दो प्रकार के शब्द तो प्रायः माने गये हैं
उत्तर –अर्थ के तीन भेद होते है
उत्तर –साक्षात् संकेतित अर्थ को (अभिधा शक्ति के द्वारा) कहता है

3. 7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1–ग्रन्थ नाम	लेखक	प्रकाशक
शिवराजविजय	अम्बिकादत्तव्यास	चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी

2–संस्कृत साहित्य का इतिहास . बलदेव उपाध्याय शारदा निकेतन वी, कस्तूरवानगर सिगरा वाराणसी

किरातार्जुनीयम्	भारवि	चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी
4–काव्यप्रकाश	आचार्य मम्मट	चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी

3. 8 उपयोगी पुस्तकें

4–काव्यप्रकाश आचार्य मम्मट चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी

3. 9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.शब्द के भेद के विषय में परिचय दीजिये ।
2.काव्य भेदों का विस्तार से वर्णन कीजिए ।

इकाई 4.शब्दशक्तियों की विस्तृत व्याख्या

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 शब्दशक्तियों की विस्तृत व्याख्या

4.4 सारांश

4.5 शब्दावली

4.6 अभ्यासार्थ प्रश्न – उत्तर

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4.8 उपयोगी पुस्तके

4.9 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

काव्यशास्त्र से सम्बन्धित खण्ड एक की यह चौथी इकाई है। इस इाकई के अध्ययन से आप बता सकते है कि लोकव्यवहार में संकेत ग्रह के अतिरिक्त शब्दशक्तियों का भी महत्व है।

व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति अर्थात् व्याख्या और सिद्ध–ज्ञात–पद के सान्निध्य से भी शक्ति या संकेत का ग्रहण माना जाता है। इन सबमें मुख्य उपाय व्यवहार है, क्योंकि अधिकांश शब्दों का और सबसे पहिले शक्तिग्रह व्यवहार से ही होता है।

अतः इस इकाई के अध्ययन से आप बता सकते हैं कि साहित्य जगत में सृजन की सहायक शब्द में अन्तर्निहित शक्तियों को समझा सकते हैं ।

4. 2 उद्देश्य

शब्दशक्तियों की विस्तृत व्याख्या से सम्बन्धित इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप

- शक्तिग्रह के विषय में विवेचना कर सकेगें ।
- संकेतग्रह के विषय समझा सकेगें ।
- शक्तिग्रह कितने होते हैं ,व्याख्या कर सकेगें ।
- उपाधिभेद द्वारा शब्दों का चतुर्विध विभाग है , यह भी बता सकेगें।
- शब्द शक्तियों की विस्तृत व्याख्या भी कर सकेंगें ।

4.3 शब्दशक्तियों की व्याख्या

लोकव्यवहार में संकेत ग्रह के अतिरिक्त शब्दशक्तियों का भी उपाय माने गये हैं जिनका संग्रह निम्नलिखित कारिका में किया गया है–

'शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः।।'

अर्थात् व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति अर्थात् वयाख्या और सिद्ध–ज्ञात–पद के सान्निध्य से भी शक्ति या संकेत का ग्रहण माना जाता है। इन सबमें मुख्य उपाय व्यवहार है, क्योंकि अधिकांश शब्दों का और सबसे पहिले शक्तिग्रह व्यवहार से ही होता है।

इनमें 'भू सत्तयाम्' आदि धातु पाठ से अथवा 'साधकतमं करणम्' आदि सूत्रों से भू–धातु तथा करण आदि पदों का संकेत ग्रह व्याकरण के द्वारा होता है। 'यथा गौस्तथा गवयः' यह उपमान प्रमाण का उदाहरण है। जो व्यक्ति गौ को जानता है पर गवय (नील गाय) को नहीं जानता है, उसको गौ के सदृश गवय होता है इस वाक्य की सहायता से गवय पद का संकेतग्रह हो जाता है। कोश तथा आप्तवाक्य अर्थात् पिता आदि के बतलाने से भी नये पदार्थों के नामों का ज्ञान बालकों को होता ही है। व्यवहार का उदाहरण ऊपर दे चुके हैं। विवृति अर्थात् व्याख्या भी संकेतग्रह का साधन है और 'वाक्यशेष' तथा सिद्ध पद अर्थात् ज्ञात अर्थवाले पद की सन्निधि से अज्ञात अर्थ वाले पद का अर्थ भी ज्ञात हो जाता है। इस प्रकार ये सब संकेत ग्रह के उपाय माने गये हैं।

(स0 10) संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा।

(सू0 10)का अर्थ–संकेतित अर्थ जाति आदि (अर्थात् जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा) भेदों से चार प्रकार का होता है। अथवा (मीमांसकों के मत में) केवल जाति (रूप एक प्रकार का) ही (संकेतित अर्थ) होता है।

संकेत ग्रह के विषय

शक्तिग्रह किसमें होता है, एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जिसका अनेक विवेचकों ने अनेक प्रकार से समाधान किया है। कोई जाति में संकेतग्रह को मानते हैं, कोई व्यक्ति में और

कोई जाति विशिष्ट व्यक्ति में। यद्यपि साधारण रूप से व्यवहार किसी व्यक्ति में ही होता है इसलिए संकेतग्रह व्यक्ति में ही होना चाहिये परन्तु व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से 'आनन्त्य' तथा 'व्यभिचार' दो प्रकार के दोषो की सम्भावना रहती है। जिस शब्द का जिस अर्थ में संकेतग्रह होता है उस शब्द से उसी अर्थ की प्रतीति होती है। बिना संकेतग्रह के अर्थ की प्रतीति नहीं होती। इसलिए यदि व्यक्ति में संकेतग्रह माना जाय तो जिस व्यक्ति–विशेष में संकेतग्रह हुआ है उस शब्द से उस व्यक्ति–विशेष की ही उपस्थिति होगी। अन्य व्यक्तियों की प्रतीति के लिए प्रत्येक व्यक्ति में अलग–अलग संकेतग्रह मानना आवश्यक होगा। इस दशा में एक गो शब्द से प्रतीत होने वाली सभी गो–व्यक्तियों में अलग–अलग संकेतग्रह मानने में अनन्त शक्तियों की कल्पना करनी होगी। यही 'आनन्त्य' दोष का अभिप्राय है। फिर व्यवहार से तो वर्तमान देश और वर्तमान काल की गो–व्यक्तियों में ही संकेतग्रह हो सकता है, भूत–भविष्य और देशान्तर या कालान्तर की सब गो–व्यक्तियों में संकेतग्रह सम्भव भी नहीं है इसलिए व्यक्ति में संकेतग्रह नहीं माना जा सकता है।

इस 'आनन्त्य–दोष' अर्थात् अनन्त शक्तियों की कल्पना के दोष को बचाने के लिए यदि यह कहा जाय कि अन्य सब व्यक्तियों में अलग–अलग शक्तिग्रह की आवश्यकता नहीं होती है, दो–चार व्यक्तियों में व्यवहार से संकेतग्रह हो जाता है, शेष व्यक्तियों का बोध बिना संकेतग्रह के ही होता रहता है; तब 'व्यभिचार–दोष' होगा। 'व्यभिचार' शब्द का अर्थ है 'नियम का उल्लङ्घन'। संकेत की सहायता से ही शब्द अर्थ की प्रतीति कराता है यह नियम है। अब यदि यह मान लिया जाता है कि गो–शब्द से बहुत–सी गो–व्यक्तियों का बोध बिना संकेतग्रह के होता है तो इस नियम का उल्लङ्घन होता है। इसलिए 'व्यभिचार–दोष' आ जाता है। इस प्रकार व्यक्ति में संकेतग्रह मानने में 'आनन्त्य–दोष' हो जाता है और उससे बचने का प्रयत्न करने पर 'व्यभिचार–दोष' आ जाता है। इसलिए व्यक्ति में संकेतग्रह मानना सम्भव नहीं है।

दूसरी बात यह है कि 'महाभाष्यकार' ने 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः' लिखकर जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और यदृच्छा–शब्द रूप से शब्दों का चार प्रकार का विभाग किया है। व्यक्ति में शक्ति मानने पर यह चारों प्रकार का शब्द–विभाग भी नहीं बन सकता है। क्योंकि जब व्यक्ति में संकेतग्रह माना जायेगा तो गौः, शुक्लः, चलः, डित्थः, आदि चारों शब्दों से व्यक्ति का ही बोध होगा। इसलिए गौ–शब्द जातिवाचक है, शुक्ल पद गुणवाचक है, चल पद क्रियावाचक है और डिन्थ पद उस व्यक्ति का नाम होने से यदृच्छा शब्द है इस प्रकार का विभाग नहीं बन सकता है। अतएव व्यक्तियों में शक्ति न मानकर व्यक्ति के उपाधिभूत जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा रूप धर्मों में ही संकेतग्रह मानना उचित है यह सिद्धान्त स्थिर होता है। इसी बात को ग्रन्थकार ने इस प्रकार लिखा है –

यद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव तथाप्यानन्त्याद् व्यभिचाराच्च तत्र संकेतः कर्तुं न युज्यत इति, 'गौः शुक्लः चलो डित्थः' इत्यादीनां विषयविभागो न प्राप्तनोतीति च, तदुपाधावेव संकेतः।उपाधिश्च द्विविधः वस्तुधर्मो वक्तृयदृच्छासन्निवेशितश्च। वस्तुधर्मोपि द्विविधः; सिद्धः साध्यश्च। सिद्धोपि द्विविधः, पदार्थस्य प्राणप्रदो विशेषाधानहेतुश्च। तत्राद्यो जातिः। उक्तं हि वाक्यपदीये–''न हि गौःस्वरूपेण गौर्नाप्यगौः, गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः।'' इति।द्वितीयो गुणः। शुक्लादिना हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशिष्यते।साध्यः पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपः।

यद्यपि (आनयन, अपनयन आदिरूप) अर्थ क्रिया का निर्वाहक होने से प्रवृत्ति–निवृत्ति (रूप व्यवहार) के योग्य व्यक्ति ही होता है (इसलिए व्यवहार द्वारा होने वाला संकेतग्रह उस व्यक्ति में ही होना चाहिये) फिर भी आनन्त्य तथा व्यभिचार (दोष) आ जाने के कारण उस (व्यक्ति) में संकेतग्रह मानना उचित नहीं है इसलिए, और सफेद रंग की (शुक्लः), (चलः) चलती हुई, डित्थ नामक, गौ इत्यादि (गुणवाचक 'शुक्ल' पद,

क्रियावाचक 'चल' पद, जातिवाचक 'गौ' पद तथा यदृच्छात्मक संज्ञा रूप 'डित्थ' पद–इन सब शब्दों से केवल व्यक्ति की ही उपस्थिति होने पर) का विषय–विभाग नहीं हो सकता है इसलिए भी (व्यक्ति में नहीं अपितु) उसके उपाधि–(भूत धर्म जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छ) में ही संकेत का ग्रहण होता है।

उपाधि के भेद से शब्दों के चार विभाग

यह उपाधि (मुख्य रूप से) दो प्रकार की होती है। 1. वस्तु का (यथार्थ) धर्म और 2. वक्त के द्वारा अपनी इच्छा से (उस अर्थ में) सन्निवेशित। (इनमें से वक्ता की यदृच्छा से सन्निवेशित उपाधि यदृच्छात्मक रूढ़ि शब्दों में रहती है।) वस्तु–धर्म भी दो प्रकार का होता है, एक सिद्ध रूप और दूसरा साध्य रूप। (इनमें साध्य रूप वस्तु धर्म 'क्रिया' कहलाता है)। सिद्ध (रूप, वस्तु–धर्म) भी दो प्रकार का होता है। एक पदार्थ का प्राणप्रद या जीवनाधायक और दूसरा विशेषता का आधान कराने का कारण। इनमें से पहिला (अर्थात् वस्तु का प्राणप्रद सिद्ध धर्म) 'जाति' होता है। जैसा कि (भर्तृहरि ने अपने) वाक्यपदीय (नामक ग्रन्थ) में कहा है कि–'गौ स्वरूपतः न गौ होती है न अगौ। गोत्व (जाति) के सम्बन्ध से ही गौ कहलाती है'। इसलिए वस्तु का प्राणप्रद जीवनाधायक वस्तु–धर्म 'जाति' कहलाता है।

दूसरा (अर्थात् वस्तु का विशेषाधान–हेतु सिद्ध वस्तु–धर्म) 'गुण' होता है। क्योंकि शुक्ल आदि (गुणों) के कारण से (ही) सत्ता प्राप्त वस्तु) अपने सजातीय अन्य पदार्थों से विशेष) भिन्नता को प्राप्त होती है। (गौ के साथ गुण–वाचक शुक्ल विशेषण अन्य गौओं की अपेक्षा उसकी विशेषता या भेद को सूचित करता है।

साध्य (रूप वस्तु धर्म दाल आदि के पकाने में चूल्हा जलाकर बटलोई रखने से लेकर उसके उतारने पर्यन्त आगे–पीछे किया जाने वाला) पूर्वापरीभूत (सारा व्यापार–कलाप) क्रियारूप (क्रिया शब्द से वाच्य) होता है।

डित्थादिशब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं संहृतक्रमं स्वरूपं वक्त्रा यदृच्छया डत्थादिष्वर्थेषूपाधित्वेन सन्निवेश्यत इति सोयं संज्ञारूपो यदृच्छात्मक इति।'गौःशुक्लश्चलो डित्थः'इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' इति महाभाष्यकारः।

डित्थ आदि (किसी व्यक्ति विशेष के वाचक रूढ़ि) शब्दों का (स्फोट की पूर्वप्रदर्शित प्रक्रिया के अनुसार पूर्व–पूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहकृत चरम वर्ण के श्रवण से) अन्त्य–बुद्धि (चरमवर्ण के श्रवण) से गृहीत होने वाला (गकार, औकार, विसर्जनीय आदि के नाम के) क्रम भेद से रहित (बिना क्रम के बुद्धि में एक साथ उपस्थित होने वाला पदस्फोट रूप स्वरूप को वक्ता की अपने स्वेच्छा द्वारा डित्थ आदि पदार्थों में (उसके वाचक) उपाधि रूप से सन्निविष्ट किया जाता है। (अर्थात् किसी पदार्थ या व्यक्ति–विशेष का नाम रखने वाला व्यक्ति रूढ़ संज्ञा रूप शब्द का उस अर्थ के साथ सम्बन्ध स्थापित कर देता है कि व्यक्ति इस नाम से बोधित होगा)। इस प्रकाय यह (रूढ़) संज्ञा रूप यदृच्छात्मक (शब्द होता) है।इस प्रकार ग्रन्थकार ने यहाँ तक प्रतिपादन किया कि संकेतग्रह व्यक्ति में नहीं होता है अपितु व्यक्ति के उपाधिभूत जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा आदि धर्मों में होता है। उसी के अनुसार शब्दों का चार प्रकार का विभाग किया जाता है। अपने इस चतुर्विध विभाग की सम्पुष्टि में महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि की सम्मति प्रमाण रूप से उपस्थित करते हैं कि –

सफेद रंग की 'चलती हुई', 'डित्थ' नाम की, 'गाय' इत्यादि (वाक्य) में (जाति–शब्द के रूप में गौ पद का, गुण–शब्द के रूप में शुक्ल पद का, क्रिया शब्द के रूप में चल पद का और यदृच्छा–शब्द के रूप में डित्थ पद का प्रयोग होने से) शब्दों की प्रवृत्ति (या प्रवृत्ति–निमित्त) चार प्रकार की होती है यह महाभाष्यकार ने कहा है।

गुण शब्द आदि में दोषों की शङ्का और उसका निवारण

ग्रन्थकार ने यह कहा था कि व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से 'आनन्त्य' तथा 'व्यभिचार' दोष आ जाते हैं इसलिए व्यक्ति में संकेतग्रह न मानकर व्यक्ति के उपाधिभूत जाति,

गुण आदि धर्मों में ही संकेतग्रह मानना चाहिये। गोत्व जाति सब गो–व्यक्तियों में एक ही है इसलिए उसमें संकेतग्रह मानने पर एक जगह संकेतग्रह हो जाने से सब गो–व्यक्तियों की उपस्थिति हो सकती है। इसी प्रकार शुक्ल आदि गुण सर्वत्र एक ही है इसलिए एक बार संकेतग्रह हो जाने पर सब शुक्ल पदार्थों का उससे बोध हो सकता है। अलग–अलग शक्तिग्रह की आवश्यकता नहीं है।

इस पर यह शङ्का उपस्थित हो जाती है कि शंख, दूध, कपड़ा आदि अनेक शुक्ल पदार्थों में रहने वाला शुक्ल रूप भिन्न–भिन्न ही होती है। इसलिए एक जगह शुक्त पद का संकेतग्रह होने से काम नहीं चलेगा। जैसे भिन्न गो–व्यक्तियों में से एक व्यक्ति में संकेतग्रह मानने में 'आनन्त्य' तथा 'व्यभिचार' दोष आ जाते हैं उसी प्रकार शंख, दूध आदि में आश्रित शुक्त आदि गुणों तथा पाक आदि क्रियाओं में भेद होने से भी 'आनन्त्य' और 'व्यभिचार' दोष आ सकते हैं। अतः एक जगह संकेत ग्रह मानने से काम नहीं चल सकता है।

इस शङ्का का उत्तर ग्रन्थकार ने यह दिया है कि शुक्त आदि गुण और पाक आदि क्रियाओं का भिन्न–भिन्न पदार्थो में जो अलग–अलग रूप दिखलायी देता है उसका कारण उनका वास्तविक भेद नहीं, अपितु उपाधि का भेद है। जैसे एक ही मुख को समतल, नतोदर, उन्नतोदर आदि भिन्न–भिन्न प्रकार के दर्पणों में, अथवा तेल, पानी, तलवार आदि में देखा जाय तो सब जगह उसका प्रतिबिम्ब अलग–अलग दिखलायी देता है; परन्तु मुख में वस्तुतः भेद नहीं है, वह सब केवल उपाधिकृत भेद है। इसी प्रकार शुक्लादि गुण और पाकादि क्रियाएँ भिन्न–भिन्न पदार्थों में भिन्न प्रकार की दिखलायी भले ही देती हों परन्तु उनका यह भेद पारमार्थिक नहीं, औपाधिक है। इसलिए गुण, क्रिया आदि में संकेतग्रह मानने में कोई दोष नहीं आता है। इसी बात को अगली पंक्ति में बताया गया है –

(भिन्न–भिन्न पदार्थों में भिन्न रूप से प्रतीत होने वाले) गुण, क्रिया और यदृच्छा के एक रूप होने पर भी आश्रय के भेद से उनमें भेद–सा दिखलायी देता है (वह वास्तविक भेद नहीं है)। जैसे एक ही मुख का तलवार, दर्पण तथा तेल आदि आश्रयों के भेद से (प्रतिबिम्बों में भेद–सा प्रतीत होता है। वह वास्तविक नहीं, औपाधिक भेद है। इसी प्रकार गुण आदि में प्रतीत होने वाला भेद भी केवल औपाधिक भेद है। अतः गुण आदि में संकेतिग्रह मानने में 'आनन्त्य', 'व्यभिचार' दोषों के आने की सम्भावना नहीं है।

केवल 'जाति' में ही शक्ति मानने वाले मीमांसकों का–मत

'संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा' इस कारिकांश में संकेतित अर्थ के विषय में 1. 'जात्यादिः' और 2. 'जातिरेव वा' ये दो पक्ष दिखलाये थे। इनमें से 'जात्यादिः' यह पक्ष वैयाकरणों तथा उनके अनुगामी अलङ्कारशास्त्रियों का है और 'जातिरेव वा' यह दूसरा पक्ष मीमांसकों का है। 'जात्यादि' रूप प्रथम–पक्ष के अनुसार जात्यादि अर्थात् 1. जाति, 2. गुण, 3. क्रिया और 4. यदृच्छा रूप वस्तु के उपाधिभूत इन चार धर्मों में संकेतग्रह होता है। इस पक्ष का आधार 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' यह महाभाष्य का वचन है। इसलिए ग्रन्थकार ने इस प्रमाण को उद्धृत कर यहाँ तक इन चारों को शब्द का प्रवृत्ति–निमित्त मानने का उपपादन किया। अब 'जातिरेव वा' यह मीमांसकों का दूसरा पक्ष रह जाता है, उसका उपपादन अगले अनुच्छेद में करते हैं।

मीमांसकों का मत यह है कि जाति आदि चारों के स्थान पर केवल जाति में ही शब्द की शक्ति या संकेतग्रह होता है। अर्थात् केवल जाति को ही शब्द का प्रवृत्ति–निमित्त मानना उचित है। जाति शब्दों के समान गुण, क्रिया तथा यदृच्छा–शब्दों में भी जाति में ही संकेतग्रह मानना चाहिये। अनुगत अर्थात् एकाकार प्रतीति के कारण को 'सामान्य' या जाति कहते हैं। गुण, क्रिया और यदृच्छा शब्दों में भी जाति का अनुसन्धान किया जा सकता है–जैसे शंख, दूध, बर्फ आदि अनेक शुक्ल पदार्थों में शुक्लः शुक्लः यह अनुगत–प्रतीति या एककार प्रतीति होती है इसका कारण 'शुक्लत्व–सामान्य' ही है।

'जाति' का ही दूसरा नाम 'सामान्य' है। उसका लक्षण 'अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम् अनुगत–एकाकार प्रतीति का हेतु 'सामान्य' कहलाता है, यह किया गया है। जैसे दस घट व्यक्तियों में घटः घटः इस अनुवृत्ति प्रत्यय अर्थात् एकाकार प्रतीति का कारण 'घटत्व–सामान्य' माना जाता है, उसी प्रकार दस जगह रहने वाले शुक्ल गुण में जिसके कारण शुक्लः शुक्लः यह अनुगत या एकाकार प्रतीति होती है वह 'शुक्लत्व–सामान्य' है। इसी प्रकार गुड़, तण्डुल आदि अनेक पदार्थों के पाक में रहने वाली पाक–क्रिया में पाकः पाकः इस शब्द और प्रतिक्षण परिणाम के कारण भिद्यमान उनके अर्थों में भी सामान्य का अनुसन्धान किया जा सकता है। इसलिए जाति शब्दों के समान शेष तीनों में भी जाति में ही संकेतग्रह मानना चाहिये और जाति को ही उन शब्दों का प्रवृत्त–निमित्त मानना चाहिये।

जाति या सामान्य के लक्षण में दो बातें आवश्यक होती हैं। एक तो यह सामान्य ही अनुवृत्ति–प्रत्यय अर्थात् एकाकार–प्रतीति का कारण होता है। दूसरी बात यह है कि वह नित्य और अनेक में समवेत धर्म होता है। 'नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वं सामान्यम्' यह भी सामान्य का दूसरी तरह लक्षण किया गया है। इसके अनुसार शुक्लत्वादि को 'सामान्य' मानने में तो काई कठिनाई नहीं होती है, क्योंकि भिन्न–भिन्न पदार्थों में रहने वाले शुक्ल रूप भिन्न–भिन्न हैं। अभी 'जात्यादि' पक्ष की व्याख्या के अन्तिम भाग में अनेक पदार्थों में रहने वाले शुक्लादि गुणों के एकरूप होने का जो प्रतिपादन किया था, मीमांसक उस सिद्धान्त को नहीं मानते हैं। उनके मतानुसार भिन्न–भिन्न पदार्थो में रहने वाले शुक्ल आदि को अभिन्न मानना अनुभव के विपरीत है क्योंकि उनकी शुक्लता की प्रतीति में अन्तर है। अतः वे भिन्न ही हैं और उनमें अनुगत प्रतीति का कारण शुक्लत्व–सामान्य को मानना ठीक है। इसी प्रकार पाक आदि क्रियाओं में भी पारमार्थिक भेद होने के कारण उनमें पाकत्व आदि जाति को प्रवृत्ति–निमित्त मानना ही उचित है। इसलिए, जातिशब्दों के समान गुण–शब्द तथा क्रिया–शब्दों में भी जाति को ही प्रवृत्ति–निमित्त मानकर उसी में संकेतग्रह मानना उचित है, यह बात सिद्ध हो जाती है।

हिम–पयः–शङ्खाद्याश्रयेषु परमार्थतो भिन्नेषु शुक्लादिषु यद्वशेन शुक्लः शुक्ल इत्यभिन्नाभिधानप्रत्ययोत्पत्तिस्तत् शुक्लत्वादि सामान्यम्। गुडत डुलादिपाकादिष्वेवमेव पाकत्वादि। बालवृद्धशुकाद्युदीरितेषु डित्थादिशब्देषु च, प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु डित्थाद्यर्थेषु वा डित्थत्वाद्यस्तीति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्ये।

इस प्रकार मीमांसक जाति आदि चार के स्थान पर केवल एक जाति में ही संकेतग्रह मानते हैं। मम्मटाचार्य ने अपनी कारिका में 'जातिरेव वा' लिखकर उसी मीमांसक–मत का प्रदर्शन किया है। अगले अनुच्छेद में उसी मीमांसक–सिद्धान्त का उपपादन करते हुए वे लिखते हैं कि –

बर्फ, दूध और शंख आदि में रहने वाले वास्तव में भिन्न (अर्थात् प्रथम सिद्धान्त में कहे अनुसार एकरूप नहीं) शुक्ल आदि गुणों में जिनमें जिनके कारण शुक्लः शुक्लः इस प्रकार का एकाकार कथन और प्रतीति की उत्पत्ति होती है वह शुक्लत्व आदि सामान्य (जाति) है। गुड़ और तण्डुल आदि के पाकादि में भी इसी प्रकार पाकत्व आदि 'सामान्य' (रहता) है। इसी प्रकार बालक, वृद्ध और तोता आदि के द्वारा उच्चारण किये जाने वाले 'डित्थ' आदि शब्दों में अथवा प्रतिक्षण भिद्यमान–परिवर्तन–शील 'डित्थ' आदि पदार्थों में डित्थत्व आदि (सामान्य) रहता है। इसलिए सब शब्दों का प्रवृत्ति निमित्त केवल एक जाति ही है। (अर्थात् वैयाकरणों के पूर्वोक्त मत के अनुसार) जात्यादि चार को प्रवृत्ति–निमित्त न मानकर केवल जाति को ही प्रवृत्ति–निमित्त मानना चाहिये और उसी में संकेतग्रह मानना चाहिये यह अन्यों (अर्थात् मीमांसकों) का सिद्धान्त है।

यदृच्छा–शब्दों में जाति का उपपादन

सामान्य जाति के उक्त लक्षण में 'अनेकसमवेतत्व' का समावेश होने के कारण यदृच्छा–शब्दों में जाति को प्रवृत्ति–निमित्त मानने में थोड़ी कठिनाई प्रतीत हो सकती है। इसलिए उसके समाधान का विशेष मार्ग निकालना पड़ा है। कठिनाई यह उपस्थित होती है कि यदृच्छा शब्द तो अनेक व्यक्तियों के वाचक नहीं, अपितु केवल एक व्यक्ति–वाचक रूढ शब्द होते हैं। उनमें 'अनेकसमवेतत्व' के न रहने से जाति की

कल्पना कैसे की जाय। जाति तो अनेक व्यक्तियों में रहने वाला–अनेकसमवेत–धर्म है और यदृच्छा–शब्दों में स्फोट–रूप शब्द भी एक है और उसका वाच्यार्थ व्यक्ति–विशेष भी एक है तब उसमें जाति की कल्पना कैसे की जाय।

यह एक शंका हो सकती है। इसका समाधान करने के लिए मीमांसकों ने उच्चारण करने वाले व्यक्तियों के भेद से शब्दों में और प्रतिक्षण होने वाले वृद्धि वा ह्रासरूप परिवर्तन के आधार पर व्यक्तियों में भेद की कल्पना की है। अर्थात् बाल–वृद्ध–शुक आदि द्वारा उच्चारण किये जाने वाले 'डित्थ' या देवदत्त आदि एक व्यक्ति–वाचक शब्द–व्यक्तियों में अनेकत्व मानकर उनमें अनुगत–प्रतीति कराने वाली 'डित्थत्व' आदि जाति की कल्पना की जा सकती है। इसी प्रकार ''प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्वे भावा ऋते चितिशक्तेः'' एकमात्र चेतन आत्मा को छोड़कर सारे पदार्थों में प्रतिक्षण परिणाम, प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है इस सिद्धान्त के अनुसार प्रतिक्षण परिवर्तन के कारण यदृच्छा–शब्दों के वाच्यार्थ व्यक्तियों में भी भेद की कल्पना कर के उनमें अनुगत–प्रतीति के कारण रूप में जाति को माना जा सकता है। अतः यदृच्छा–शब्दों का संकेतग्रह भी जाति में ही मानना चाहिये।

अतः 'जातिरेव वा' लिखकर ग्रन्थकार ने शक्ति–विषयक जो यह दूसरा मत दिखलाया है वह ग्रन्थकार को मान्य नहीं है। मीमांसकों के मत को दिखलाने के लिए ही उसे लिखा है।

संकेतग्रह के सन्दर्भ में नैयायिकों का मत –

वैयाकरण, आलङ्कारिक और मीमांसकों के मत का वर्णन हो चुका है। इनके अतिरिक्त नैयायिकों तथा बौद्ध आदि अन्य दार्शनिकों ने भी इस प्रश्न पर विचार किया है और उनके मत पूर्व में बताये गये मतों से भिन्न हैं। नैयायिकों के मत में न केवल जाति में शक्तिग्रह माना जा सकता है और न केवल व्यक्ति में ही। केवल व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से आनन्त्य और व्यभिचार दोष आते हैं तो केवल जाति में शक्तिग्रह मानने पर शब्द से केवल जाति की उपस्थिति होने के कारण व्यक्ति का भान शब्द से नहीं हो सकता है। जाति में शक्ति मानकर यदि व्यक्ति का भान आक्षेप से माना जाय तो उसका शाब्द–बोध में अन्वय नहीं हो सकेगा। क्योंकि 'शाब्दी हि आकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यते' इस सिद्धान्त के अनुसार शब्द–शक्ति से लभ्य अर्थ का ही शाब्दबोध में अन्वय हो सकता है। आक्षेप–लभ्य अर्थ शाब्द–बोध में अन्वित नहीं हो सकता है। इसीलिए नैयायिकों के मतानुसार केवल व्यक्ति या केवल जाति किसी एक में शक्तिग्रह नहीं माना जा सकता। इसलिए 'व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः' (न्यायसूत्र 2, 2, 68) जाति तथा आकृति से विशिष्ट व्यक्ति पद का अर्थ होता है यह नैयायिक–सिद्धान्त है। इसे ग्रन्थकार ने अगली पंक्ति में 'तद्वान् पदार्थः' कहकर दिखलाया है। 'तद्वान् का अर्थ जातिमान् है। अर्थात् जाति विशिष्ट व्यक्ति में संकेतग्रह मानना चाहिये, यह नैयायिकों का मत है।

बौद्धों का मत

बौद्ध–दार्शनिकों का भी इस विषय में अलग मत है। उनके मत में शब्द का अर्थ 'अपोह' होता है। 'अपोह' का अर्थ 'अतद्–व्यावृत्ति' या 'तद्भिन्नभिन्नत्व' है। दस घट–व्यक्तियों में 'घटः–घटः' इस प्रकार की एकाकार प्रतीति का कारण नैयायिक आदि 'घटत्व सामान्य' को मानते हैं। उनका 'सामान्य' एक नित्य पदार्थ है क्योंकि 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वं सामान्यम्' यह सामान्य का लक्षण है। इसके अनुसार 'सामान्य' नित्य है। परन्तु बौद्धों का पहिला सिद्धान्त 'क्षणभङ्गवाद' है। उनके मत से सारे पदार्थ 'क्षणिक' हैं इसलिए वे 'सामान्य' जैसे किसी नित्य–पदार्थ को नहीं मानते। उसके स्थान पर अनुगत प्रतीति का कारण वे 'अपोह' को मानते हैं। 'अपोह' शब्द बौद्ध–दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। उसका अर्थ 'अतद्–व्यावृत्ति' या 'तद्भिन्नभिन्नत्व' होता है। अर्थात् दस घट–व्यक्तियों में जो 'घटः घटः' इस प्रकार की अनुगत प्रतीति होती है उसका

कारण 'अघट–व्यावृत्ति' या 'घटभिन्नभिन्नत्व' है प्रत्येक घट अघट अर्थात् घटभिन्न सारे जगत् से भिन्न है। इसलिए उमें 'घटः घटः' यह एक–सी प्रतीति होती है। इसलिए बौद्धों के मत में 'अपोह' ही शब्द का अर्थ होता है। उसी में संकेतग्रह मानना चाहिये। इस बौद्ध मत का संकेत ग्रन्थकार ने 'अपोहो वा शब्दार्थः' लिखकर किया है। इन सब पक्षों का विस्तार पूर्वक विवेचन ग्रन्थगौरव के भय से तथा प्रकृत में विशेष उपयोग न होने से ग्रन्थकार ने नहीं किया है। यही बात वे अगली पंक्ति में दिखलाते हैं –किन्हीं लोगों ने 'तद्वान्' (अर्थात् जातिविशिष्ट व्यक्ति) और 'अपोह' (अर्थात् अतद्–व्यावृत्ति या तद्भिन्नभिन्नत्व) शब्द का अर्थ है यह कहा है (ये दोनों मत क्रमशः नैयायिक तथा बौद्धों के हैं)। ग्रन्थ के बढ़ जाने के भय से और प्रकृत में उपयोग न होने से उनको (विस्तारपूर्वक) नहीं दिखलाया है।

आचार्य मम्मट का मत

यहाँ संकेतग्रह के विषय में जो तीन–चार मत दिखलाये हैं उनमें से पहिले के साथ 'इति महाभाष्यकारः', दूसरे के साथ 'इत्यन्ये' और तीसरे तथा चौथे के साथ 'कैश्चित्' शब्द का प्रयोग किया गया है। नरसिंह ठक्कुर आदि 'काव्यप्रकाश' के कुछ टीकाकारों ने इसका अर्थ यह लगाया है कि इनमें से कोई भी मत ग्रन्थकार को अभिमत नहीं है। इसलिए इन शब्दों के द्वारा सब मतों में अपना अस्वरस प्रदर्शित किया है। नरसिंह ठक्कुर तो यहाँ तक लिख दिया है कि 'तस्माद् व्यक्तिपक्ष एव क्षोदक्षमः', अर्थात् 'इसलिए व्यक्ति पक्ष ही अधिक उचित होता है।' परन्तु यह कथन ठीक नहीं है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, साहित्यशास्त्र में प्रायः व्याकरण शास्त्र के दार्शनिक सिद्धान्तों को अपनाया गया है। स्वयं काव्यप्रकाशकार ने 'बुधैर्वैयाकरणैः' आदि लिखकर इस सिद्धान्त की पुष्टि की है। इसलिए इस विषय में भी साहित्यशास्त्र में व्याकरण–सिद्धान्त के अनुसार 'जात्यादि' चार में संकेतग्रह मानना ही अभीष्ट है। मम्मटाचार्य भी इसी सिद्धान्त को मानते हैं। उन्होंने यहाँ महाभाष्यकार के नाम का उल्लेख अपने मत के समर्थन में प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए ही किया है।

श्री मम्मटाचार्य ने इसी विषय पर 'शब्द–व्यापार–विचारः' नामक एक और छोटा सा प्रकरण ग्रन्थ लिखा है। उसमें भी मीमांसक आदि अन्य मतों का खण्डन करके उन्होंने वैयाकरण–सम्मत और महाभाष्यकार द्वारा अनुमोदित जात्यादि चारों में संकेतग्रह मानने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उन्होंने उस ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से लिखा है कि –

'तत्र मुख्यश्चतुर्भेदो ज्ञेयो जात्यादिभेदतः।'

अर्थात् अभिधा–शक्ति से प्रतिपादित होने वाला 'मुख्य अर्थ जाति आदि के भेद से चार प्रकार का समझना चाहिये।' अतः नरसिंह ठक्कुर का लेख भ्रममूलक है।

अभिधा का लक्षण

वाच्यार्थ को ही मुख्यार्थ कहा जाता है –

(सू0 11) स मुख्योर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोस्याभिधोच्यते।। 8।।स इति साक्षात् संकेतितः। अस्येति शब्दस्य।

(सू0 11)–वह (साक्षात् संकेतिक अर्थ) मुख्य अर्थ (कहलाता) है, और उस (का बोधन कराने) में इस (शब्द) का जो व्यापार होता है वह अभिधा (व्यापार या अभिधा–शक्ति) कहलाता है।। 8।।

(कारिका में प्रयुक्त) 'सः' इस (पद) से साक्षात्–संकेतित (अर्थ लिया जाता है)। 'अस्य' इस (पद) से 'शब्द का' (यह अर्थ लिया जाता है)।।8।।

लक्षणा–निरूपण

मुख्यार्थ अथवा वाच्यार्थ की बोधिका अभिधा–शक्ति होती है और अन्य सबकी अपेक्षा सबसे पहले अभिधा–शक्ति ही अपने अर्थ अर्थात् वाच्यार्थ का बोध कराती है परन्तु जहाँ कहीं मुख्यार्थ का वाक्य के अन्य पदों के अर्थों के साथ अन्वय होने में बाधा होती है अथवा उससे तात्पर्य की उपपत्ति नहीं होती वहाँ रूढ़ि अर्थात् प्रसिद्धि के कारण अथवा किसी विशेष प्रयोजन के प्रतिपादन के लिए मुख्यार्थ से सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ की

प्रतीति हो सकती है। उस अन्य अर्थ को 'लक्ष्यार्थ' और उसकी बोधिका शक्ति को 'लक्षणा–शक्ति' कहा जाता है। लक्षणा–शहक्ति के व्यापार के लिए 1. मुख्यार्थ–बाध, 2. लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध तथा 3. रूढ़ि या प्रयाजन में से अन्यतर, इन तीन कारणों की आवश्यकता होती है। लक्षण करने के लिए ग्रन्थकार लिखते हैं –

(सू0 12) मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया।।9।।

(सू0 12)–1. मुख्यार्थ का बाध (अर्थात् अन्वय की अनुपपत्ति या तात्पर्य की अनुपपत्ति) होने पर, 2. उस (मुख्यार्थ) के साथ (लक्ष्यार्थ या अन्य अर्थ का) सम्बन्ध होने पर, 3. रूढ़ि अथवा प्रयोजन–विशेष से जिस (शब्द–शक्ति) के द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है वह (मुख्य रूप से अर्थ में रहने के कारण शब्द का) आरोपित व्यापार लक्षणा (कहलाता) है।।9।।

इस कारिका में 'लक्ष्यते यत् सा' इस स्थल पर जो 'यत्' शब्द का प्रयोग हुआ है उसकी दो प्रकार की व्याख्या की जाती है। प्रथम व्याख्या के अनुसार 'यदिति यया इत्यर्थे लुप्तकरणं तृतीयान्तमव्ययम्' 'यत्' पद 'यया' इस अर्थ में करण–विभक्ति के लोप द्वारा बना हुआ तृतीयान्त अव्ययपद है। उसके अनुसार 'यया शब्दशक्त्या अन्योर्थो लक्ष्यते सा लक्षणा' जिस शब्द शक्ति से अन्य अर्थ लक्षित होता है वह 'लक्षणा' कहलाती है, यह अर्थ होता है। दूसरी व्याख्या के अनुसार 'यत्' यह क्रिया विशेषण है 'यत् लक्ष्यते' अर्थात् 'यत् प्रतिपाद्यते' जो प्रतिपादित होता है वह 'लक्षणा' है। इन दोनों ही व्याख्याओं में और विशेषकर दूसरी व्याख्या में 'लक्ष्यते' यह पद णिजन्त से बना हुआ आख्यात का रूप है। णिच्–प्रत्यय का अर्थ प्रयोजक हेतु का व्यापार होता है, 'अन्योर्थो यत् लक्ष्यते' का अर्थ 'अन्यार्थ–प्रतिपत्तिहेतुः शब्दव्यापारो लक्षणा' यह होता है। परन्तु यह व्याख्या अधिक क्लिष्ट हो जाती है। इसलिए 'यत्' पद को 'यया' के अर्थ में लुप्तकरण तृतीयान्त अव्यय मानना ही अधिक अच्छा है।

'कर्मणि कुशलः' इत्यादौ दर्भग्रहणाद्ययोगात्, 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ च गङ्गादीनां घोषाद्याधारत्वासम्भवात्, मुख्यार्थस्य बाधे, विवेचकत्वादौ सामीप्ये च सम्बन्धे, रूढितः प्रसिद्धेः तथा गङ्गातटे घोष इत्यादेः प्रयोगात् येषां न तथा प्रतिपत्तिः तेषां पावनत्वादीनां धर्माणां तथाप्रतिपादनात्मनः प्रयोजनाच्च मुख्येन अमुख्योर्थो लक्ष्यते यत् स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा।

लक्षणा के उदाहरण

'कर्मणि कुशलः' (अर्थात् चित्रकर्म आदि किसी विशेष) 'काम में कुशल है' इत्यादि में 'कुशान् लाति आदत्ते इति कुशलः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार) कुशों के लाने का कोई सम्बन्ध न होने से (मुख्यार्थ का बाध होता है) और 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि में गङ्गा (पद के जलप्रवाह रूप मुख्यार्थ) आदि में घोष (आभीर–पल्ली) आदि का आधारत्व सम्भव न होने से मुख्यार्थ का बाध होने पर (प्रथम उदाहरण में) विवेचकत्वादि और (दूसरे उदाहरण में) सामीप्य–सम्बन्ध होने पर, (पहिले उदाहरण में कुशल पद के दक्षरूप अर्थ में रूढ़ होने के कारण) रूढ़ि से अर्थात् प्रसिद्धि से, और (दूसरे उदाहरण में) 'गङ्गातटे घोषः' इत्यादि (मुख्य शब्द) के प्रयोग से जिन (शैत्य, पावनत्वादि धर्मों) की उस रूप में प्रतीति नहीं है उन शैत्य, पावनत्व आदि धर्मों के उस प्रकार के प्रतिपादन स्वरूप प्रयोजन से मुख्य अर्थ से जो अमुख्य अर्थ लक्षित होता है यह शब्द का व्यवहितार्थ विषयक आरोपित शब्द–व्यापार 'लक्षणा' (कहलाता) है।

मुख्यार्थबाध के दो स्वरूप

इस कारिका में 'लक्षणा' का मुख्य कारण 'मुख्यार्थबाध' बतलाया गया है। इस 'मुख्यार्थबाध की भी दो प्रकार की व्याख्या की जाती है। अधिकांश व्याख्याकार मुख्यार्थबाध का अर्थ 'अन्वयानुपपत्ति' करते हैं। जैसे 'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरण में गङ्गा का अर्थ जल की धारा और 'घोष का अर्थ आभीरपल्लीघोषियों की बस्ती–है। गङ्गा की धारा के ऊपर घोषियों की बस्ती नहीं रह सकती है इसलिए यहाँ अन्वय के अनुपपन्न होने के कारण गङ्गा पद लक्षणा से तटरूप अर्थ का बोधक होता है।

परन्तु नागेश भट्ट ने 'परमलघुमञ्जूषा' में 'अन्वयानुपपत्ति' के स्थान पर 'तात्पर्यानुपपत्ति'

को लक्षणा का बीज माना है और उसका हेतु यह दिया है कि यदि अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज माना जायगा तो 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इस प्रयोग में लक्षणा नहीं हो सकेगी। कोई व्यक्ति अपना दही बाहर रखा हुआ छोड़कर किसी काम से तनिक देर के लिए कहीं जा रहा है। वह चलते समय अपने साथी से कहता है कि 'जरा कौओं से दही को बचाना'। इसका अभिप्राय केवल कौओं से बचाना ही नहीं है अपितु कौए, कुत्ते आदि जो कोई दही को बिगड़ने या खाने का प्रयत्न करें, उन सबसे दही की रक्षा करना यह वक्ता का अभिप्राय है। यह अभिप्राय 'काक' पद की 'दध्युपघातक' अर्थ में लक्षणा करने से ही पूरा हो सकता है। अन्यथा नहीं। परन्तु 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इस प्रयोग में 'अन्वयानुपपत्ति' नहीं है। सब पदों का अन्वय बन जाता है इसलिए यदि अन्वयानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज मानें तो यहाँ लक्षणा का अवसर ही नहीं आता। इसलिए नागेश भट्ट ने 'अन्वयानुपपत्ति' के स्थान पर 'तात्पर्यानुपपत्ति' को लक्षणा का बीज माना है। अन्वय में बाधा न होने पर भी 'काक' पद का मुख्यार्थ मात्र लेने से वक्ता के तात्पर्य की उपपत्ति नहीं होती है इसलिए लक्षणा करना आवश्यक हो जाता है। अतः तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज मानना चाहिये, यह नागेश भट्ट का अभिप्राय है।

प्रयोजनवती–लक्षणा के उदाहरण रूप में 'गङ्गायां घोषः' यह वाक्य यहाँ प्रस्तुत किया गया है। लक्षणा का यह उदाहरण साहित्यशास्त्र के सभी ग्रन्थों में दिया गया है, परन्तु वह उनका अपना बनाया हुआ उदाहरण नहीं है अपितु जिस प्रकार 'ध्वनि' शब्द तथा 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' के सिद्धान्त को उन्होंने व्याकरणशास्त्र से उधार लिया है उसी प्रकार यह उदाहरण भी उन्होंने व्याकरणशास्त्र से ही लिया है। महाभाष्यकार ने 'पुंयोगादाख्यायाम्' (4–1–48) सूत्र के महाभाष्य में 'गङ्गायां घोषः' तथा 'कूपे गर्गकुलम्' ये दो लक्षणा के उदाहरण दिये हैं। वहाँ से ही साहित्यशास्त्र में यह उदाहरण ले लिया गया है। साहित्यशास्त्र व्याकरण का अनुगामी है,यह भी प्रमाण है।

लक्षणा के दो भेद

ग्रन्थकार लक्षणा के 'उपादान–लक्षणा' तथा 'लक्षण–लक्षणा' नाम से दो भेद करते हैं। जहाँ शब्द अपने अन्वय की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप कर लेता है और स्वयं भी बना रहता है उसको 'उपादान–लक्षणा' कहते हैं। उसमें मुख्यार्थ का भी उपादान या ग्रहण रहता है इसलिए उसकी 'उपादान–लक्षणा' संज्ञा है।

जैसे 'कुन्ताः प्रविशन्ति' या 'यष्टयः प्रविशन्ति' आदि उदाहरणों में 'कुन्ता' और 'यष्टि' शब्द भाला और लाठी रूप अचेतन अर्थों के वाचक हैं, उनमें प्रवेश–क्रिया का अन्वय नहीं हो सकता है इसलिए यहाँ मुख्यार्थ का बाध होने पर 'कुन्त' आदि शब्द अपने अन्वय की सिद्धि के लिए 'पुरुष' पद या पदार्थ का आक्षेप कर लेते हैं। इस प्रकार 'कुन्त' शब्द 'कुन्तधारी पुरुष' का बोधक हो जाता है और उसका अन्वय होने में जो बाधा थी वह दूर हो जाती है। 'कुन्ताः प्रविशन्ति' का अर्थ 'कुन्तधारी पुरुष घुसे आ रहे हैं' यह हो जाता है। कुन्तधारी पुरुषों का बाहुल्य–सूचन ही लक्षणा का प्रयोजन है। इस प्रकार यह प्रयोजनवती उपादान लक्षणा का उदाहरण है। इसके विपरीत जहाँ वाक्य में कोई शब्द वाक्य में प्रयुक्त दूसरे शब्द के अन्वयक की सिद्धि के लिए अपने अर्थ का परित्याग कर अन्य अर्थ का बोधक हो जाता है वहाँ 'लक्षण–लक्षणा' होती है। जैसे 'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरण में वाक्य में प्रयुक्त 'घोष' पद के आधेयत्व रूप से अन्वय का उपपादन करने के लिए 'गङ्गा' शब्द अपने 'जल–प्रवाह' रूप मुख्यार्थ का परित्याग कर सामीप्य सम्बन्ध से 'तट' रूप अन्य अर्थ को बोधित करता है अतएव यह प्रयोजनवती 'लक्षण–लक्षणा' का उदाहरण है। लक्षणा के इन्हीं भेदों को ार निम्नलिखित प्रकार से दिखलाया गया है –

(सू0 13) स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा।।10।।

(सू0 13)–(वाक्य में प्रयुक्त किसी पद का) अपने अन्वय की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप करना 'उपादान' और दूसरे के (अन्वय की सिद्धि के) लिए अपने (मुख्य अर्थ) का परित्याग (समर्पण) 'लक्षण' (कहलाता) है, इस प्रकार वह शुद्धालक्षणा ही दो प्रकार

की कही गयी है (गौणी के ये भेद नहीं होते हैं)।।10।।

कुन्ताः प्रविशन्ति','यष्टयः प्रविशन्ति' इत्यादौ कुन्तादिभिरात्मनः प्रवेशसिद्ध्यर्थस्वसंयोगिनः पुरुषा आक्षिप्यन्ते। तत उपादानेनेयं लक्षणा।

उपादान–लक्षणा के दो उदाहरण

'**कुन्ताः प्रविशन्ति**' 'भाले घुस रहे हैं' और 'यष्टयः प्रविशन्ति' 'लाठियाँ घुस रही हैं, इत्यादि (वाक्यों) में 'कुन्त' आदि (पदों) के द्वारा अपने (अचेतन रूप में) प्रवेश (क्रिया) की सिद्धि के लिए अपने से संयुक्त (अर्थात् कुन्तधारी) पुरुषों का आक्षेप (द्वारा बोध) कराया जाता है। इसलिए स्वार्थ, अपने अर्थ का परित्याग किये बिना अन्य अर्थ के ग्रहणरूप अथवा स्वार्थ के भी ग्रहणरूप, उपादान से यह लक्षणा है। इसलिएः यह 'उपादान–लक्षणा' कहलाती है।

मुकुलभट्ट द्वारा प्रस्तुत उपादान लक्षणा के दो उदाहरण

उपादान–लक्षणा के इन उदाहरणों के बाद लक्षण–लक्षणा का उदाहरण देना चाहिये। परन्तु उसको प्रस्तुत करने के पूर्व मम्मट ने 'मुकुलभट्ट' तथा मण्डनमिश्र आदि मीमांसकों द्वारा दिये गये 'उपादान–लक्षणा' के दो उदाहरणों का खण्डन भी करते हैं। मुकुलभट्ट काव्यप्रकाशकार से कुछ पहले हुए हैं। उनका एकमात्र ग्रन्थ 'अभिधावृत्तिमातृका' है। इस ग्रन्थ में उन्होंने अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना इन तीनों शक्तियों के स्थान पर केवल 'अभिधा' शक्ति को ही मानने का सिद्धान्त रूप से प्रतिपादन किया है। अभिधा के उन्होंने दस भेद माने हैं। इनमें जात्यादि चार प्रकार के अर्थों की बोधक चार प्रकार की अभिधाशक्ति तथा लक्षणा के छह भेदों का भी अभिधा में अन्तर्भाव करके दस प्रकार की अभिधाशक्ति उन्होंने सिद्ध की है। व्यञ्जना के सब भेदों का अन्तर्भाव लक्षणा के छह भेदों में कर लिया है। इस प्रकार दस तरह की अभिधा के अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति के मानने की आवश्यकता नहीं है यह उन्होंने सिद्ध करने का प्रयास किया है। ग्रन्थ के उपसंहार में उन्होंने लिखा है –

'इत्येतदभिधावृत्तं दशधात्र विवेचितम्'।।13।।

उन्होंने 'उपादान–लक्षणा' के गौरनुबन्ध्यः' तथा 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' ये दो उदाहरण दिये हैं। जिस प्रकार काव्यप्रकाशकार आदि साहित्यशास्त्र के अधिकांश आचार्य वैयाकरणों के अनुयायी हैं और उन्होंने अन्य विषयों के साथ लक्षणा के उदाहरण भी व्याकरणशास्त्र से लिये हैं –'गङ्गायां घोषः', 'कुन्ताः प्रविशन्ति', 'यष्टयः प्रविशन्ति' इत्यादि लक्षणा के सब उदाहरण काव्यप्रकाशकार ने महाभाष्य से ही लिये हैं – उसी प्रकार 'मुकुलभट्ट' मीमांसक–मत के अनुयायी हैं इसलिए उन्होंने अपने उदाहरणों का संग्रह प्रायः मीमांसा के ग्रन्थों से किया है। 'गौरनुबन्ध्यः' और 'पीनों देवदत्ते दिवा न भुङ्क्ते' ये उदाहरण मुकुलभट्ट ने मीमांसा–ग्रन्थों से ही ग्रहण किये हैं।

'गौरनुबन्ध्यः' यह वैदिक प्रयोग में और पद में 'उपादान–लक्षणा' का उदाहरण है। उसका अर्थ 'गाय को बाँधना चाहिये' यह होता है। यज्ञ में गौ के उपाकरण आदि द्वारा पूजन के लिए यहाँ उसके बाँधने का विधान किया गया है। दूसरे लोग 'अनुबन्ध्यः' का अर्थ 'आलम्भः' 'हन्तव्यः' मारना चाहिये यह भी करते हैं। जैसा कि कहा जा चुका है, मीमांसक लोग केवल जाति में शब्द की शक्ति मानते हैं इसलिए गौ शब्द का वाच्यार्थ 'गोत्व' जाति होता है। उस जाति में बन्धन अथवा आलम्भन रूप क्रिया सम्भव नहीं है इसलिए मुख्यार्थ का बाध होता है। तब गो–शब्द बन्धन के साथ अपने 'गोत्व' जातिरूप अर्थ के अन्वय की सिद्धि के लिए व्यक्ति का आक्षेप से बोध कराता है। इसलिए यह पद में उपादान लक्षणा है। यह मुकुलभट्ट का या मीमांसकों का अभिप्राय है।

'गौरनुबन्ध्यः' इत्यादौ श्रुतिचोदितमनुबन्धनं कथं मे स्यादिति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते, न तु शब्देनोच्यते 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे' इति न्यायात्।

इत्युपादानलक्षणा तु नोदाहर्तव्या। न ह्यत्र प्रयोजनमस्ति न वा रूढिरियम्। व्यक्तयविनाभावित्वात्तु जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते।

मीमांसक लोग अथवाद–वाक्यों को 'प्राशस्त्य' का लक्षक मानकर वाक्य में भी लक्षणा स्वीकार करते हैं। इसलिए 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' 'देवदत्त मोटा हो रहा है परन्तु दिन में नहीं खाता है' यह लौकिक प्रयोग में वाक्य–लक्षणा का उदाहरण

मुकुलभट्ट आदि मीमांसकों ने दिया है। इस उदाहरण में दिन में न खानेवाला देवदत्त मोटा हो यह बात साधारणतः सम्भव नहीं है। इसलिए मुख्यार्थ का बाध होने पर यह वाक्य अपने अन्वय की सिद्धि के लिए रात्रि–भोजन का आक्षेप द्वारा बोध कराता है। इस दृष्टि से यह भी उपादान–लक्षणा का उदाहरण बन जाता है। मुकुलभट्ट ने उपादान–लक्षणा का लक्षण तथा इन दोनों उदाहरणों में उस लक्षण का समन्व करते हुए लिखा है कि –

'स्वसिद्धयर्थतयाक्षेपो यत्र वस्त्वन्तरस्य तत्।
उपादानं लक्षणन्तु तद्विपर्यासतो मतम्।।का0 93।

यत्र स्वसिद्धयर्थतया वस्त्वन्तरस्याक्षेपो भवति तत्रोपादानम्। यथा 'गौरनुबन्ध्यः' इति। अत्र हि गोत्वस्य याग प्रति साधनत्वं शाब्दं व्यक्त्याक्षेपमन्तरेण नोपपद्यत इति तत्सिद्धयर्थतया व्यक्तेराक्षेपः। यथा च 'पीनो देवदत्ते दिवा न भुङ्क्ते' इति। अत्र हि पीनत्वं दिनाधिकरणभोजनाभावविशिष्टतयावगम्यमानमेव कार्यत्वात् स्वसिद्धयर्थत्वेन कारणभूतं रात्रिभोजनमाक्षेपादभ्यन्तरीकरोति।

यत्र स्वसिद्धयर्थतया वस्त्वन्तरस्याक्षेपो भवति तत्रोपादानम्। यथा 'गौरनुबन्ध्यः' इति। अत्र हि गोत्वस्य याग प्रति साधनत्वं शाब्दं व्यक्त्याक्षेपमन्तरेण नोपपद्यत इति तत्सिद्धयर्थतया व्यक्तेराक्षेपः। यथा च 'पीनो देवदत्ते दिवा न भुङ्क्ते' इति। अत्र हि पीनत्वं दिनाधिकरणभोजनाभावविशिष्टतयावगम्यमानमेव कार्यत्वात् स्वसिद्धयर्थत्वेन कारणभूतं रात्रिभोजनमाक्षेपादभ्यन्तरीकरोति।

अत्र च 'रात्रौ भुङ्कते' इत्येतच्छब्दाक्षेपपूर्वकतया प्रमाणस्यापरिपूर्णस्य परिपूरणात् श्रुतार्थापपत्तित्वं भवत्वथवा कारणस्यैव रात्रिभोजनस्याक्षेप इति। सर्वथा स्वसिद्धयर्थत्वेनार्थान्तरस्याक्षेप– पूर्वकतयान्तर्भावनादुपादानत्वमुपपद्यते।'

अतः मुकुलभट्ट ने उपादान–लक्षणा के जो दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं उनका क्रमशः खण्डन करने के लिए काव्यप्रकाशकार पहले उनका अनुवाद करते हुए फिर उनका खण्डन करते हैं। 'गौरनुबन्ध्यः' के विषय में मुकुलभट्ट के मत का अनुवाद करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं –

मुकुलभट्ट के प्रथम उदाहरण का खण्डन

'गौरनुबन्ध्यः' इत्यादि (वाक्य) में, श्रुति में प्रतिपादित किया हुआ मेरा (अर्थात् गौ शब्द के मुख्यार्थ 'गोत्व' जाति का) 'अनुबन्धन' कैसे बन सके इसके (उपादन के) लिए (मुख्यार्थ) जाति से (अमुख्यार्थ भूत) व्यक्ति का आक्षेप किया जाता है। (क्योंकि गोत्वरूपी) 'विशेषण का बोध कराने में क्षीण हुई अभिधाशक्ति (किसी भी प्रकार से गो–व्यक्तिरूप) विशेष्य का बोध नहीं करा सकती है' इस युक्ति से। (अतः उस विशेष्यभूत गो–व्यक्ति का बोध उपादान–लक्षणा द्वारा होता है)।

आगे उसका खण्डन करते हुए बताते हैं –

यह उपादान–लक्षणा का उदाहरण (मुकुलभट्ट को) नहीं देना चाहिये। क्योंकि यहाँ (लक्षणा के प्रयोजक रूढ़ि तथा प्रयोजनरूप दो मुख्य हेतुओं में से) न तो कोई (विशेष) प्रयोजन ही है और न यह रूढिऋ है। किन्तु (व्यक्ति के बिना जाति रह नहीं सकती है इसलिए) अविनाभाव के कारण जाति से व्यक्ति का (अनुमान) आक्षेप किया जाता है (अतः यह लक्षणा का उदाहरण नहीं है)।

यथा 'क्रियताम्' इत्यत्र कर्ता। 'कुरु' इत्यत्र कर्म।'प्रविश', पिण्डीम्' इत्यादौ 'गृहम्', भक्षय' इत्यादि च।जैसे कोई यह कहे कि 'क्रियताम् ,तुम 'करो',इसमें कोई क्रिया बिना कर्ता के नहीं हो सकती है इसलिए इत्यादि में 'कृतिः अर्थात् यत्नः साश्रया गुणत्वात्' इस अनुमान से कर्ता 'त्वया' का लाभ होता है। 'करो' यहाँ 'कृतिः सविषया कृतित्वात्' इस अनुमान से 'पाकम् आदि कर्म का आक्षेप से लाभ होता है। 'प्रवेश करो' और 'पिण्डी को' इन दोनों के कहने पर अविनाभाव से क्रमशः घर में प्रवेश करा और पिण्डी को 'खाओ' इत्यादि की अविनाभाव से प्रतीति होती है, इनमें से किसी भी स्थल में लक्षणा नहीं मानी जाती है। इसी प्रकार 'गौरनुबन्ध्यः' में भी किसी प्रकार की लक्षणा नहीं है। अतः उसको उपादान–लक्षणा के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत नहीं करना चाहिये।

यहाँ 'क्रियताम्', 'कुरु', 'प्रविश', 'पिण्डीम्' इत्यादि सब असम्पूर्ण वाक्य प्रयुक्त किये गये

हैं। उनमें पूरक रूप से जिन अन्य अंशों की अपेक्षा रहती है उनकी पूर्ति 'अध्याहार' या 'आक्षेप' के द्वारा की जाती है। अध्याहार के विषय में मीमांसकों में दो प्रकार के सिद्धान्त पाये जाते हैं। कुमारिलभट्ट 'शब्दाध्याहारवाद' के मानने वाले हैं और उनके शिष्य प्रभाकर 'अर्थाध्याहारवाद' के समर्थक हैं। ऊपर जो अध्याहार के चार उदाहरण दिये गये हैं उनमें से पहिले दो अर्थाध्याहारवादी प्रभाकर के अभिप्राय से और अन्तिम दो शब्दाध्याहारवादी भट्ट–मत के अभिप्राय से दिये गये हैं। 'क्रियाताम्' तथा 'कुरु' ये दोनों क्रियापद हैं। उनमें पहिली जगह कर्ता 'त्वया' की और दूसरी जगह कर्म 'पाकम्' आदि की अपेक्षा है। इन दोनों की पूर्ति अध्याहार अथवा आक्षेप से की जाती है। किन्तु वहाँ कर्ता तथा कर्म पदों का अध्याहार न होकर उनके अर्थों का अध्याहार किया जाता है इसलिए वे 'अर्थाध्याहारवाद' के पोषक उदाहरण हैं। इसके विपरीत 'प्रविश' तथा 'पिण्डीम्' इन दोनों उदाहरणों में अपेक्षित 'गृहम्' तथा 'भक्षय' इन पूरक अंशों का शब्द रूप में 'अध्याहार' किया जाता है। इसलिए ये दोनों 'शब्दाध्याहार' के उदाहरण हैं। ग्रन्थकार ने इन उदाहरणों को इसलिए प्रस्तुत किया है कि जिस तरह यहाँ कर्ता या कर्म के बिना क्रिया–पदों का अन्वय सम्भव न होने से अविनाभाव द्वारा उन पदों या उनके अर्थों का अध्याहार या आक्षेप किया जाता है उसी प्रकार 'गौरनुबन्ध्यः' आदि उदाहरणों में व्यक्ति के बिना जाति नहीं रह सकती है इसलिए अविनाभाव द्वारा जाति से व्यक्ति का अध्याहार या आक्षेप किया जाता है। व्यक्ति का बोध लक्षणा से नहीं होता है। अतः इसको उपादान–लक्षणा के उदाहरणरूप में प्रस्तुत करना उचित नहीं है।

मुकुलभट्ट के दूसरे उदाहरण का खण्डन

मुकुलभट्ट ने इसी प्रकार 'उपादानलक्षणा' का दूसरा उदाहरण 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' यह दिया है। इस उदाहरण में विशेषता यह है कि यह 'पद–लक्षणा' के बजाय 'वाक्यलक्षणा' का उदाहरण है। मीमांसक लोग 'अर्थवाद' वाक्यों की 'प्राशस्त्य' में लक्षणा मानकर वाक्य में भी लक्षणा स्वीकार करते हैं। 'गौरनुबन्ध्यः' इस उदाहरण में गौपद में लक्षणा थी तो यहाँ पूरे वाक्य में लक्षणा है, इस दृष्टि से यह उदाहरण दिया गया है। इस उदाहरण में लक्षणा का खण्डन करते हुए ग्रन्थकार ने रात्रि भोजन को 'श्रुतार्थापत्ति अथवा अर्थार्थापत्ति' का विषय बतलाया है। अर्थात् यहाँ रात्रि–भोजन का ज्ञान लक्षणा से नहीं, अपितु अर्थापत्ति प्रमाण से होता है इसलिए यह भी उपादान–लक्षणा का उदाहरण नहीं हो सकता है। वह ग्रन्थकार का अभिप्राय है।

'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यत्र च रात्रिभोजनं न लक्ष्यते, श्रुतार्थापत्तेरर्थार्थापत्तेर्वा तस्य विषयत्वात्।'गंङ्गायां घोषः' इत्यत्र तटस्य घोषाधिकरणत्वसिद्धये गङ्गाशब्दः स्वार्थमर्पयति इत्येवमादौ लक्षणेनैषा लक्षणा।उभयरूपा चेयं शुद्धा, उपचारेणामिश्रितत्वात्।

अर्थापत्ति लक्षणा नहीं है–

मीमांसक लोग प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों के समान अर्थापत्ति को भी अलग प्रमाण मानते हैं और उसका लक्षण ''अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनम् अर्थापत्तिः'' इस प्रकार करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि किसी अनुपपद्यमान अर्थ को देखकर उसके उपपादक अर्थ की कल्पना जिस प्रमाण के द्वारा की जाती है उसको 'अर्थापत्ति' कहते हैं। जैसे 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' यहाँ 'देवदत्त मोटा है' यह अनुपपद्यमान अर्थ है और 'रात्रिभोजन' उसका उपपादकीभूत अर्थ है। यदि देवदत्त दिन में न खाय और रात्रि में भी न खाय तो वह मोटा नहीं हो सकता है। दिन में न खाने वाला व्यक्ति रात्रि भोजन के बिना पीन नहीं हो सकता। इसलिए यहाँ अनुपपद्यमान अर्थ दिवा अभुञ्जना के पीनत्व को देखकर उसके उपपादक रात्रि भोजन की कल्पना अर्थापत्ति के द्वारा होती है।

यह अर्थापत्ति दो प्रकार की होती है – एक दृष्टार्थापत्ति और दूसरी श्रुतार्थापत्ति। जहाँ अनुपपद्यमान अर्थ को स्वयं आँखों से देखकर उसके उपपादक अर्थ की कल्पना की जाती है वह दृष्टार्थापत्ति कहलाती है और जहाँ किसी अन्य के मुख के अनुपपद्यमान अर्थ को सुनकर उसके उपपादक अर्थ की कल्पना की जाती है वह श्रुतार्थापत्ति कहलाती है। 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' यही दोनों प्रकार की अर्थापत्तियों का उदाहरण बन सकता है।

यहाँ ग्रन्थकार ने दृष्टार्थापत्ति के स्थान पर अर्थार्थापत्ति शब्द का प्रयोग किया है। यह प्रयोग पूर्वोक्त अर्थाध्याहारवाद की दृष्टि से किया गया है। श्रुतार्थापत्ति–पक्ष में यहाँ रात्रि भोजन का ज्ञान ''रात्रौ भुङ्कते'' इस शब्द के अध्याहार से होता है और अर्थार्थापत्ति–पक्ष में शब्द का अध्याहार न कर के साक्षात् रात्रिभोजन रूप अर्थ का आक्षेप से ज्ञान होता है। इस प्रकार इन दोनों मीमांसक–सिद्धान्तों की दृष्टि से ही यहाँ ग्रन्थकार ने श्रुतार्थापत्ति तथा अर्थार्थापत्ति शब्दों का प्रयोग किया है।

और 'देवदत्त मोटा हो रहा है परन्तु दिन में नहीं खाता है, यहाँ रात्रि–भोजन लक्षणा से उपसिति नहीं होता है। क्योंकि वह श्रुतार्थापत्ति अथवा अर्थार्थापत्ति से सिद्ध होता है।अब लक्षण लक्षणा का उदाहरण देते हैं –

लक्षण–लक्षणा का उदाहरण

'**गङ्गायां घोषः**' इसमें (वाक्य के भीतर प्रयुक्त हुए) घोष के आधारत्व की सिद्धि के लिए 'गङ्गा शब्द अपने जलप्रवाह रूप मुख्य अर्थ का परित्याग कर देता है, इसलिए इस प्रकार के उदाहरणों में यह 'लक्षण–लक्षणा' होती है।

यह दोनों प्रकार की (लक्षणा) उपचार से मिश्रित न होने के कारण शुद्धा है।

'गङ्गायां घोषः' उदाहरण का विश्लेषण

लक्षण–लक्षणा का दूसरा नाम, जो वेदान्त–शास्त्र में मुख्यतः प्रयुक्त होता है, 'जहजत्स्वार्था'–लक्षणा' भी है। 'जहत्स्वार्था' तथा 'लक्षण–लक्षणा' दोनों ही नामों का अभिप्राय यह है कि यहाँ लक्षक पद दूसरे पदों के अन्वय की सिद्धि के लिए अपने मुख्यार्थ का परित्याग कर देता है। 'जहत्स्वार्था' या लक्षण–लक्षणा के अनेक उदाहरणों में 'गङ्गायां घोषः' यह उदाहरण बहुत प्रसिद्ध है। मुकुलभट्ट ने भी यह उदाहरण दिया है और 'काव्यप्रकाश' की अपेक्षा अधिक विस्तार से कई बार उन्होंने इस उदाहरण के अर्थ का विवेचन किया है।

परन्तु इस उदाहरण में यह बात स्पष्ट नहीं हो पाती है कि लक्षणा करने के बाद यहाँ केवल 'तटे घोषः' इतना ही अर्थ प्रतीत होता है अथवा गङ्गा अर्थ का सम्बन्ध भी तट के साथ जुड़ा रहता है और 'गङ्गा तटे घोषः' यह अर्थ प्रतीत होता है। मुकुलभट्ट ने आगे चलकर 'तटस्थे लक्षणा शुद्धा' इत्यादि पञ्चम कारिका की व्याख्या में इस प्रश्न पर कुछ प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है –

''गङ्गायां घोषः' इत्यत्र घोषाधिकरणभूततटोपलक्षणाभिसन्धानेन गङ्गायां घोषो न वितस्तायामिति गङ्गाशब्दे प्रयुज्यमाने तटस्य स्रोतोविशेषणोपलक्षकत्वमात्रोपयुक्तत्वेन उपरागो न प्रतीयते। तटस्थत्वेनैव तस्य तटस्य प्रत्ययात्।'' (पृ0 9)

इसका अभिप्राय यह हुआ कि गङ्गा शब्द से जो तट रूप अर्थ उपस्थित होता है वह केवल तट रूप से उपस्थित होता है। गङ्गा से उपरक्त या सम्बद्ध तट के रूप में उपस्थित नहीं होता है। गङ्गा शब्द के प्रयोग से केवल इतनी विशेषता हो जाती है कि वितस्ता नदी का तट नहीं उपस्थित होता है।

मुकुलभट्ट का यह सिद्धान्त 'ताटस्थ्य–सिद्धान्त' है।आचार्य मम्मट इसका खण्डन करेंगे। इस व्याख्या से जो शंका उपस्थित हुई थी उसका कुछ परोक्ष–सा समाधान तो होता है कि गङ्गा शब्द अपने मुख्यार्थ को बिलकुल छोड़ देता है। परन्तु यह समाधान कुछ शाब्दिक–सा समाधान ही प्रतीत होता है; क्योंकि वह तट वितस्ता (झेलम) नदी का नहीं, गङ्गा नदी का ही है। इस रूप में भी गङ्गा रूप लक्षक पद का तट रूप लक्ष्यार्थ के साथ सम्बन्ध प्रतीत होता ही है। तब यह पद जहत्स्वार्था या 'लक्षण–लक्षणा' का उदाहरण कैसे हो सकता है यह एक समस्या बनी ही रहती है।

मुकुलभट्ट के 'ताटस्थ्य'–सिद्धान्त का निराकरण

परन्तु मम्मटाचार्य इससे सहमत नहीं हैं। इसलिए अगले अनुच्छेदों में उन्होंने मुकुलभट्ट के इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए लिखा है कि –

(शुद्धा–लक्षणा के उपादान–लक्षणा तथा लक्षण–लक्षणा) इन दोनों भेदों में लक्ष्य (अर्थ) और लक्षक (अर्थ) का (अर्थात् गङ्गा के जल–प्रवाहरूप लक्षक अर्थ तथा तीररूप लक्ष्यार्थ का) भेद–प्रतीतिरूप 'ताटस्थ्य' नहीं (माना जा सकता) है। (क्योंकि लक्ष्यरूप)

तट आदि (अर्थों) के गङ्गा आदि शब्दों से प्रतिपादन करने में (तत्त्व अर्थात् गङ्गात्व की अथवा लक्ष्य तथा लक्षक, तीर तथा जलप्रवाह के) अभेद की प्रतीति होने पर ही (शैत्य–पावनत्वादि धर्मों के अतिशयरूप) अभीष्ट प्रयोजनों की प्रतीति हो सकतल है। (यदि तट में तत्त्व अर्थात् गङ्गात्व अथवा गङ्गाशब्द के मुख्यार्थ जलप्रवाह के साथ अभेद की प्रतीति न होकर) केवल गङ्गा का सम्बन्ध मात्र प्रतीत होने पर ('गङ्गायां घोषः' इस लाक्षणिक शब्द के स्थान पर 'गङ्गातटे घोषः') 'गङ्गा के किनारे घोष है, इस मुख्य शब्द से कथन करने से लक्षणा का भेद होगा।

न्याय में लक्षण–लक्षणा का उदाहरण

न्याय के ग्रन्थों में परम्परा–सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा को लक्षण–लक्षणा कहा गया है और उसका उदाहरण 'द्विरेफः' यह दिया गया है। 'द्विरेफ' पद का वावच्यार्थ दो रेफ से युक्त 'भ्रामर' पद होता है। 'भौंरा' अर्थ उससे 'लक्षण–लक्षणा' द्वारा बोधित होता है।

लक्षण–लक्षणा का अधिक स्पष्ट उदाहरण

मुकुलभट्ट के मत में तो फिर भी कुछ समाधान–सा हो सकता है परन्तु काव्यप्रकाशकार के मत में उतना भी आधार नहीं मिलता, क्योंकि उन्होंने आगे मुकुलभट्ट के इस सिद्धान्त का खण्डन कर के 'गङ्गात्वेन' या गङ्गा के साथ अभेद सम्बन्ध से ही तट की उपस्थिति मानी है। उस अवस्था में गङ्गा शब्द अपने अर्थ को छोड़कर केवल तट का बोध कराता है, यह बात और भी दुरूह–सी हो जाती है और साधारण विद्यार्थी की बुद्धि में नहीं बैठती है। इसलिए इस प्रकार का कोई दूसरा उदाहरण ऐसा होना चाहिये जिसमें यह स्पष्ट रूपसे प्रतीत हो सके कि यहाँ शब्द अपने मुख्यार्थ को छोड़कर केवल लक्ष्यार्थ का ही बोध करा रहा है। काव्यप्रकाशकार ने आगे चतुर्थ उल्लास के आरम्भ में सू0 29 में लक्षणामूल ध्वनि के 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' नामक भेद का जो उदाहरण दिया है वह इस दृष्टि से 'लक्षण–लक्षणा' या 'जहत्स्वार्था लक्षणा'का बहुत सुन्दर उदाहरण हो सकता है।वह उदाहरण निम्नलिखित प्रकार है –

> **'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।**
> **विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्।।'**

किसी अत्यन्त अपकार करने वाले व्यक्ति के प्रति उसके अपकार से पीड़ित व्यक्ति की यह उक्ति है। इसमें 'आपने बड़ा उपकार किया' यह 'उपकृतम्' शब्द का मुख्यार्थ बाधित होता है। इसलिए उपकृत शब्द अपने अर्थ को छोड़कर 'अपकृतम्' अर्थ को 'लक्षण–लक्षणा' या 'जहत्स्वार्था लक्षणा' से बोधित करता है। इसी प्रकार 'सुजनता', 'सखे', 'सुखितमास्स्व' आदि शब्द भी अपने अर्थों को छोड़कर अपने से विपरीत 'दुर्जनता', 'शत्रो', 'सद्यः म्रियस्व' आदि अर्थों को लक्षणा से बोधित करते हैं और अपकारातिशय व्यङ्गय होता है। इस प्रकार 'लक्षण–लक्षणा' या 'जहत्स्वार्था–लक्षणा' का यह उदाहरण बिलकुल स्पष्ट है। 'गङ्गायां घोषः' यह उदाहरण उतना स्पष्ट नहीं है।

शुद्धा तथा गौणी लक्षणा विषयक मम्मट मत

इस प्रकार उपादान–लक्षणा तथा लक्षण–लक्षणा के नाम से जो दो प्रकार की लक्षणा दिखलायी गयी है इसे मम्मट तथा मुकुलभट्ट दोनों ने शुद्धा लक्षणा माना है। शुद्धा से भिन्न लक्षणा का दूसरा भेद गौणी–लक्षणा नाम से कहा जाता है। इन शुद्धा तथा गौणी–लक्षणाओं का परस्पर–भेद का धर्म क्या है इसके विषय में भी मुकुलभट्ट तथा मम्मट का मतभेद है। जैसा कि ऊपर की मूल–ग्रन्थ की पंक्ति से प्रतीत होता है, मम्मटाचार्य 'उपचार' को 'शुद्धा' तथा 'गौणी' का भेदक धर्म मानते हैं। 'उभयरूपा चेयं शुद्धा, उपचारेण अमिश्रितत्वात्' इस पंक्ति से विदित होता है कि मम्मट के मत में उपचार से रहित लक्षणा 'शुद्धा' तथा उपचार से युक्त लक्षपणा 'गौणी' कही जाती है। उपचार का लक्षण 'उपचारो हि नाम अत्यन्तं विशकलितयोः पदार्थयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्' यह किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि अत्यन्त भिन्न दो पदार्थों में अतिशय सादृश्य के कारण उनके भेद की प्रतीति का न होना 'उपचार' कहलाता है। जैसे किसी पुरुष या बालक में शौर्य, क्रौर्य आदि के सादृश्यातिशय के कारण 'सिंहो माणवकः' 'यह बच्चा शेर है' आदि प्रयोग उपचार–मूलक

होते हैं; इसलिए गौण प्रयोग कहे जाते हैं। इन सब में गौणी लक्षणा होती है और जहाँ सादृश्य सम्बन्ध के अतिरिक्त सामीप्य आदि रूप कोई अन्य सम्बन्ध लक्षणा का प्रयोजक होता है वहाँ शुद्धालक्षणा होती है। इस प्रकार मम्मटाचार्य ने उपचार के अमिश्रण तथा मिश्रण को शुद्धा तथा गौणी लक्षणा का भेदक धर्म माना है।

(सू0 14) सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।

आरोप्यमाणः आरोपविषयश्च यत्रानपह्नुतभेदौ सामानाधिकरण्येत निर्दिश्येते सा लक्षणा सारोपा।

(सू0 15) विषय्यन्तःकृतेन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका।।11।।

विषयिणारोप्यमाणेनान्तःकृते निगीर्णे अन्यस्मिन्नारोपविषये सति साध्यवसाना स्यात्।

शुद्धा तथ गौणी लक्षणा के दो–दो भेद

अतः शुद्धा के उपादान–लक्षणा तथा लक्षण–लक्षणा इन दो भेदों के करने के बाद अब ग्रन्थकार शुद्धा और गौणी दोनों लक्षणा के सारोपा तथा साध्यवसाना ये दो–दो भेद कर के चार भेद खिलायेंगे और उन चारों के साथ आदि के उपादान–लक्षणा तथा लक्षण–लक्षणा इन दोनों भेदों को जोड़कर लक्षणा के कुल छह भेद सिद्ध करेंगे। पहले सारोपा तथा साध्यवसाना ये दो भेद कहते हैं –

(सू 14)–जहाँ आरोप्यमाण (उपमान) तथा आरोपविषय (उपमेय) दोनों शब्द के द्वारा कथित होते हैं वह दूसरी (गौणी) सारोपा लक्षणा होती है।

आरोप्यमाण (उपमान) तथा आरोप–विषय (उपमेय) जहाँ दोनों, स्वरूप का अपह्नव किये बिना, (शब्दतः) सामानाधिकरण्य से निर्दिष्ट किये जाते हैं वह सारोपा लक्षणा होती है।

(सू0 15)– विषयी (अर्थात् आरोप्यमाण, उपमान) के द्वारा दूसरे (अर्थात् आरोप विषयरूप उपमेय) का (अपने भीतर) अन्तर्भाव कर लिये जाने पर वह साध्यवसानिका लक्षणा हो जाती है।।11।।

विषयी अर्थात् आरोप्यमाण (उपमान) के द्वारा अन्य अर्थात् आरोप के विषय (उपमेय) के निगीर्ण कर लिये जाने पर साध्यवसाना लक्षणा होती है।

(सू0 16) भेदाविमौ व सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा।गौणी शुद्धा च विज्ञेयौ।

इमौ आरोपाध्यवसानरूपौ सदृश्यहेतू भेदौ 'गौर्वाहीकः' इत्यत्र 'गौरयम्' इत्यत्र च।

अत्र हि स्वार्थसहचारिणो गुणा जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणा अपि गो–शब्दस्य परार्थाभिधाने प्रवृत्तिनिमित्तत्वमुपयान्ति इति केचित्।

सारोपा तथा साध्यवसाना के शुद्धा और गौणी दो भेद

(सू0 16)–ये (सारोपा तथा साध्यवसानारूप) दोनों भेद सादृश्य से तथा (सादृश्य को छोड़कर) अन्य सम्बन्ध से (सम्पन्न) होने पर (क्रमशः) गौण तथा शुद्ध (लक्षणा के) भेद समझने चाहिये।

गौणी सारोपा तथा साध्यवसाना के उदाहरण

ये सारोपा तथा साध्यवसानारूप भेद सादृश्य–हेतुक होने पर 'गौर्वाहीकः' 'वाहीक देश का वासी पुरुष गौ है' और 'यह गौ है' इनमें है। (और सादृश्यमूलक होने से गौणी लक्षणा के भेद कहलाते हैं।

काव्यप्रकाशकार ने 'गौर्वाहीकः' सारोपा लक्षणा के और 'गौरयम्' साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरणरूप में प्रस्तुत किया है। लक्षणा के अन्य उदाहरणों के समान ये दोनों भी ग्रन्थकार ने 'पुंयोगादाख्यायाम्' सूत्र के महाभाष्य में से उद्धृत किये हैं। वाहीक किसी देश का नाम था। ऐसा जान पड़ता है, भारत की उत्तरी सीमा के परे 'अपगान–स्थान' अफगानिस्तान आदि देश उन दिनों वाहीक नाम से व्यवहृत होते थे। अन्य लोग 'बहिर्भवो वाहीकः' व्युत्पत्ति के आधार पर शास्त्रीय आचार का पालन न करने वाले को 'वाहीक' कहते हैं। 'वहिषष्टिलोपो यच्च' 'ईकक् च' इन दो वार्तिकों के द्वारा बहिः शब्द के टि–भाग का लोप और ईकक्–प्रत्यय करके 'बवयोरभेदः' के सिद्धान्त के अनुसार ब–वका अभेद मानकर 'वाहीक' शब्द सिद्ध होता है। इसलिए उसकी दोनों प्रकार की व्याख्या की जा सकती है। यहाँ गौ आरोप्यमाण (उपमान) और वाहीक आरोपविषय (उपमेय) है। दोनों का सामानाधिकरण्य से शब्दतः प्रतिपादन इस वाक्य में है। इसलिए दोनों के स्वरूप के अनपहनुत होने के कारण यह सारोपा लक्षणा का उदाहरण हैं।

इसके विपरीत 'गौरयम्' में आरोपविषय वाहीक का शब्दतः उपादान नहीं है, वह आरोप्यमाण गौ के द्वारा निगीर्ण हो गया है। इसलिए वह साध्यवसाना लक्षणा का उदाहरण है। सादृश्यमूलक होने के कारण दोनों गौणी लक्षणा के उदाहरण हैं। 'गौरयम्' में 'अयम्' पद से आरोप विषय का संकेत मिल जाने से वह साध्यवसाना का ठीक उदाहरण नहीं बनता है। उसके स्थान पर 'गौर्जल्पति' उदाहरण अधिक अच्छा है।

यहा (इन चारों उदाहरणों में से 'गौर्वाहीकः' तथा 'गौरयम्') गौणी के दोनों भेदों में (आरोप्यमाण गौ तथा आरोपविषय वाहीक का) भेद होने पर भी (उन दोनों के) तादात्म्य की प्रतीति (लक्षणा से होती है) और (उन दोनों के) सर्वथा अभेद का बोधन करना (उस गौणी लक्षणा का) प्रयोजन है। शुद्धा–लक्षणा के ('आयुर्घृतम्' तथा 'आयुरेवेदम्' आदि सारोपा तथा साध्यवसाना) दोनों भेदों में अन्यों से भिन्न प्रकार (अर्थात् अति प्रबलता) से तथा नियम से (अवश्य ही आयु आदि रूप) कार्य–कारित्वादि (लक्षणा का प्रयोजन) है।

सादृश्य से भिन्न सम्बन्ध होने पर शुद्धा–लक्षणा होती है यह बात अभी कही थी और उस शुद्धा–लक्षणा के दो उदाहरण भी दिये थे। उसी प्रकार के कुछ और भी उदाहरण आगे दिखलाते हैं, जिनमें सादृश्य–सम्बन्ध से भिन्न सम्बन्ध लक्षणा के प्रयोजक हैं। अतएव वे सब शुद्धा–लक्षणा के उदाहरण हैं।

कहीं तादर्थ्य (उसके लिए होने) से उपचार (अन्य के लिए अन्य के वाचक शब्द का प्रयोग) होता है, जैसे (यज्ञ में) इन्द्र के (पूजन के) लिए बनायी हुई स्थूणा (भी तादर्थ्य–सम्बन्ध से) 'इन्द्र' (कहलाती) है।

कहीं स्व–स्वाभिभाव सम्बन्ध से (अन्य शब्द का अन्यत्र प्रयोग होता है) जैसे राजा का (विशेष कृपा–पात्र) पुरुष (भी) 'राजा' (कहलाता) है।

कहीं अवयवावयविभाव से (औपचारिक प्रयोग होता है) जैसे – 'अग्रहस्त' यहाँ (हाथ के) केवल आगे के भाग के लिए 'हाथ' (शब्द का प्रयोग होता) है।

कहीं 'उस कर्म के करने के कारण' (तात्कर्म्य सम्बन्ध) से (औपचारिक शब्द का प्रयोग होता है), जैसे (बढ़ई का काम करने वाले) अतक्षा (बढ़ई से भिन्न ब्राह्मण आदि के लिए) बढ़ई (तक्षा शब्द का प्रयोग तात्कर्म्य सम्बन्ध से होता है)।

(सू0 17) लक्षणा तेन षड्विधा।।12।।आद्यभेदाभ्यां सह।

(सू0 17)–इसलिए लक्षणा छह प्रकार की हुई।।12।।

आदि के (उपादान–लक्षणा तथा लक्षण–लक्षणारूप) दोनों भेदों के साथ (शुद्धा तथा गौणी दोनों में से प्रत्येक के सारोपा तथा साध्यवसाना दो–दो भेद कुल चारों भेदों को मिलाकर लक्षणा के छह भेद हो जाते हैं)।

षड्विधा लक्षणा का विवेचन

मम्मट ने लक्षणा के छह भेदों का निरूपण किया। लक्षणा का यह छह प्रकार का विभाग मूलतः मुकुलभट्ट ने किया है। मम्मट ने भी उसी का अनुवाद कर के यहाँ 'लक्षणा तेन षड्विधा' ऐसा प्रतिपादन कर दिया है।

साहित्यदर्पणकार ने 'तेन षोडशभेदिता' लिखकर यहाँ तक ही लक्षणा के छह भेदों के स्थान पर सोलह भेद कर के दिखला दिये हैं। वे सोलह भेद इस प्रकार होते हैं – पहिले रूढ़ि–लक्षणा तथा प्रयोजनवती–लक्षणा ये दो भेद हुए। फिर उन दोनों के उपादान–लक्षणा तथा लक्षण–लक्षणा के भेद से, दो–दो भेद होकर चार भेद हुए। फिर उन चारों भेदों के सारोपा तथा साध्यवसाना रूप से दो–दो भेद होकर कुल आठ भेद हुए। फिर उन आठों भेदों के शुद्धा तथा गौणी भेद से दो–दो भेद होकर कुल सोलह भेद हुए। इस प्रकार साहित्यदर्पणकार ने यहाँ तक लक्षणा के सोलह भेद कर दिये हैं। मम्मट और मुकुलभट्ट ने यहाँ तक केवल छह भेद ही किये हैं। इस अन्तर का कारण यह है कि मम्मट और मुकुलभट्ट दोनों ने 'उपादान–लक्षणा' और 'लक्षण–लक्षणा' ये दोनों भेद केवल 'शुद्धा' के माने हैं, 'गौणी' के नहीं। विश्वनाथ ने 'गौणी' के भी ये दोनों भेद माने हैं। उनको मम्मट के 6 भेदों में मिला देने से 8 भेद बन जाते हैं। विश्वनाथ ने इनके रूढ़ि तथा प्रयोजन से दो भेद कर के 16 भेद बनाये हैं। मम्मट और मुकुलभट्ट ने ये भेद नहीं किये हैं। इसलिए उनके यहाँ भेदों की संख्या केवल 6 रह गयी है।

लक्षणा से लक्षणा मूल व्यञ्जना की ओर 'गौर्वाहीकः' आदि के विवेचन में जो तृतीय मत

मम्मट ने दिखलाया था वह मूलत् मुकुलभट्ट का मत था, परन्तु मम्मट भी उससे सहमत थे इसलिए उन्होंने उसका अपने मत के समान विस्तारपूर्वक और सप्रमाण उपपादन करने का प्रयत्न किया है। यह बात हम पहिले लिख चुके हैं। वहाँ से यहाँ तक मुकुलभट्ट के साथ उनका विशेष मतभेद नहीं है इसलिए उसी पद्धति पर उन्होंने विषय का विवेचन किया है परन्तु आगे उनका मुकुलभट्ट के साथ मतभेद है और वह मतभेद व्यञ्जना के विषय में है। मुकुलभट्ट व्यञ्जना को अलग वृत्ति नहीं मानते हैं परन्तु काव्यप्रकाशकार इस विषय में ध्वनिवादी आचार्यों के अनुयायी हैं। ध्वन्यालोककार ने प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन को व्यञ्जनागम्य ही माना है। इसलिए मम्मट भी लक्षणा के विवेचन के साथ ही लक्षणा–मूल व्यञ्जना का भी विवेचन करना चाहते हैं। अतएव यहाँ से आगे उनकी शैली मुकुलभट्ट से भिन्न हो जाती है। लक्षणा–मूला व्यञ्जना के विवेचन की भूमिका बाँधते हुए वे लिखते हैं –

(सू0 18) व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने। प्रयोजनं हि व्यञ्जन–व्यापारगम्यमेव।

(सू018)–रूढ़ि (गत भेदों) में व्यङ्ग्य से रहित तथा प्रयोजन (मूलक भेदों) में (व्यङ्ग्य के) सहित होती है।

क्योंकि प्रयोजन व्यञ्जना–व्यापार से ही जाना जा सकता है।प्रयोजनवती लक्षणा में व्यङ्ग्य प्रयोजन अवश्य रहता है। अतएव वह व्यङ्ग्य–सहित ही होती है।

(सू0 19) तच्च गुढमगूढं वा।तच्चेति व्यङ्ग्यम्।

(सू0 19)– वह (व्यङ्ग्य प्रयोजन कहीं) गूढ (दुर्ज्ञेय, सहृदयगम्य और कहीं) अगूढ़ (स्पष्ट, सर्वजनसंवेद्य) होता है।

वह अर्थात् व्यङ्ग्य ('तत्' सर्वनाम इस पूर्व–प्रयुक्त व्यङ्ग्य का परामर्शक है)।

गूढ का उदाहरण –

गूढं यथा –

> **मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिम प्रेक्षितं**
> **समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः।**
> **उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं**
> **वतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते।।9।।**

अगूढ का उदाहरण–

अगूढं यथा –

> **श्रीपरिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम्।**
> **उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि।।10।।**

गूढ़ (व्यङ्ग्य का उदाहरण है) जैसे –

मुख पर मुस्कराहट खिल रही है, बाँकपन दृष्टि का दास हो रहा है, चलने में हाव–भाव छलक रहे हैं, बुद्धि मर्यादा का अतिक्रमण कर (अत्यन्त तीव्र हो) रही है। छाती पर स्तनों की कलियाँ निकल रही हैं। जाँघें अवयवों के बन्ध से उभर रही हैं। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि उस चन्द्रबदनी के शरीर में यौवन का उभार किलोल कर रहा है।।9।।

इस उदाहरण में स्मित–मुस्कुराहट–के खिलने का वर्णन किया गया है। परनतु विकास या खिलना तो फूलों का धर्म है, मुख में उसका सम्बन्ध लक्षणा से ही किया जा सकता है। उस लक्षणा से असंकुचितत्वरूप सम्बन्ध द्वारा स्मित का अतिशय लक्षित होता है ओर मुख के सौरभ आदि व्यङ्ग्य हैं। 'मर्यादा के त्याग' रूप चेतनधर्म का मति के साथ जो सम्बन्ध दिखलाया गया है उससे अधीरता लक्षित होती है और अतिशय अनुराग व्यङ्ग्य है। 'मुकुलितत्व' रूप पुष्प के धर्म का स्तन के साथ सम्बन्ध दिखलाने से स्तनों का काठिन्य या उभार लक्षित होता है और आलिङ्गनयोग्यत्व व्यङ्ग्य है। उत्कृष्टधुरात्वरूप 'उद्धुरत्व' के जंघाओं के साथ सम्बन्ध से रमणीयत्व लक्षित होता है और विलक्षण रतियोग्यत्व व्यङ्ग्य है। 'मोद' से उत्कर्ष लक्षित होता है और स्पृहणीयत्व व्यङ्ग्य है।

इस प्रकार इस श्लोक में जो व्यङ्ग्य अर्थ है व सर्वजनसंवेद्य नहीं है अपितु केवल सहृदयों के ही समझने योग्य है अतएव उसको गूढ – व्यङ्ग्य के उदाहरण के रूप में

प्रस्तुत किया गया है।

अगूढ (व्यङ्ग्य का उदाहरण) जैसे –

लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाने पर मूर्ख (मनुष्य) भी चतुरों के व्यवहार को समझने वाले हो जाते हैं। (अर्थान्तरन्यास से इसका समर्थन करते हैं कि जैसे) यौवन का मद ही कामिनियों को ललितों का उपदेश कर देता है। ('अनायार्चोपदिष्टं स्याल्ललितं रतिचेष्टितम्' बिना सिखलाये रतिचेष्टाओं का ज्ञान 'ललित' कहलाता है)।।10।।

यहाँ 'उपदिशति' पद अगूढ–व्यङ्ग्य है। क्योंकि शब्द द्वारा अज्ञातार्थ का ज्ञापन रूप 'उपदेश' चेतन का धर्म है वह यौवन–मद में सम्भव नहीं है। इसलिए उससे 'आविष्करोति' अर्थ पता चलताा है।

(सू0 23) यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया।।14।।

(सू0 23) – जिस (प्रयोजन विशेष की) प्रतीति कराने के लिए (लक्षणा अर्थात्) लाक्षणिक शब्द (वृत्ति में 'लक्षणया शब्दप्रयोगः' इस प्रकार की व्याख्या होने से यहाँ 'लक्षणा' शब्द का अर्थ 'लाक्षणिक शब्द' ही करना उचित है) का आश्रय लिया जाता है (अनुमान आदि से नहीं अपितु) केवल शब्द से गम्य उस फल (प्रयोजन) के विषय में व्यञ्जना के अतिरिक्त (शब्द का) और कोई व्यापार नहीं हो सकता है।।14।।

प्रयोजनप्रतिपिपादयिषया यत्र लक्षणया शब्दप्रयोगस्तत्र नान्यतस्तत्प्रतीतिरपि तु तस्मादेव शब्दात्। न चात्र व्यञ्जनादृतेन्यो व्यापारः।

तथाहि –

प्रयोजन की वाच्यता का निराकरण

(व्यञजनाव्यापार ही) क्यों (होता है) यह कहते हैं –

प्रयोजन विशेष का प्रतिपादन करने की इच्छा से जहाँ लक्षणा से (लाक्षणिक) शब्द का प्रयोग किया जाता है वहाँ (अनुमान आदि) अन्य किसी (साधन या उपाय) से उस प्रयोजन रूप अर्थ की प्रतीति नहीं होती है अपितु उसी शब्द से होती है। और उस (के बोधन) में (शब्द का) व्यञ्जना के अतिरिक्त और कोई व्यापार नहीं (होता) है।

(इसी बात को स्पष्ट करने के लिए कहते हैं) क्योंकि –

(सू0 24) नाभिधा समयाभावात्।

'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ ये पावनत्वादयो धर्मास्तटादौ प्रतीयन्ते न तत्र गङ्गादिशब्दाः संकेतिताः।

(सू0 24)–संकेतग्रह न होने से अभिधावृत्ति (प्रयोजन की बोधिका) नहीं है।

'गङ्गायां घोषः' इत्यादि में जो पावनत्व आदि धर्म तट में प्रतीत होते हैं उनमें गङ्गा आदि शब्दों का संकेतग्रह नहीं है (अतः अभिधा से उनका ज्ञान नहीं हो सकता है)

इस लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह तट को लक्ष्यार्थ मानते हैं। इसलिए प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानने की सम्भावना नहीं रहती है। उस दशा में व्यञ्जना का आश्रय लिये बिना पुण्यत्व, मनोहरत्व आदि प्रयोजनों की गङ्गा–शब्द से प्रतीति होने का केवल एक ही मार्ग शेष रह जाता है कि प्रयोजन विशिष्ट तट की उपस्थिति लक्षणा से मानी जाय। इसी प्रभिप्राय से ग्रन्थकार आगे लिखते हैं –

(सू0 25)हेत्वभावान्न लक्षणा।।15।।मुख्यार्थबाधादित्रयं हेतुः।

(सू0 25)–(लक्षणा के प्रयोजक मुख्यार्थबाध आदि) हेतुओं के न होने से लक्षणा (भी प्रयोजन की बोधिका) नहीं हो सकती है।

(1) मुख्यार्थ का बाध (और उसके साथ–साथ 2. मुख्यार्थ से सम्बन्ध तथा 3. रूढ़ि एवं प्रयोजन में से कोई एक) आदि (लक्षणा के) तीन कारण हैं। (वे तीनों यहाँ नहीं पाये जाते हैं। अतः प्रयोजक–सामग्री के न होने से प्रयोजन का बोध लक्षणा से भी नहीं हो सकता है)।

(सू0 28) प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते।।17।।

(सू0 28)–प्रयोजन के सहित (अर्थात् शैत्य–पावनत्वादि वशिष्ट तीर को) लक्ष्यार्थ (लक्षणीय) मानना सङ्गत नहीं है।।17।।

कुत इत्याह –

(सू0 29) ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्।

(सू0 29) क्योंकि ज्ञान का विषय (घट आदि) अलग और (ज्ञान का) फल (नैयायिक के मत में 'अनुव्यवसाय' तथा मीमांसक के मत में 'ज्ञातता') अलग कहे गये हैं।

(नैयायिक तथा मीमांसक–दोनों ही इस बात को स्वीकार करते हैं कि ज्ञान का विषय और उसका फल दोनों अलग–अलग होते हैं। दोनों मत में ज्ञान का विषय तो समान है परन्तु फल के विषय में भेद है) प्रत्यक्ष आदि (जन्य ज्ञान) का विषय नील आदि है और फल (मीमांसक के मत में प्रकटता अर्थात्) 'ज्ञातता' अथवा (नैयायिक के मत में संवित्ति अर्थात्) 'अनुव्यवसाय' (होता) है।

दोनों ही मतों में ज्ञान का विषय ज्ञान के फल से भिन्न होता है। विषय ज्ञान का कारण होता है। इसलिए उसकी स्थिति ज्ञान के पहिले रहती है तथा फल ज्ञान का कार्य होता है इसलिए उसकी उत्पत्ति ज्ञान के बाद होती है। इसलिए लक्षणा–जन्य ज्ञान के विषय 'तटादि' और उसके फल पुण्यत्व, मनोहरत्व आदि शैत्य–पावनत्वादि की स्थिति भी अलग–अलग है। उन दोनों की समकालीन उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इस कारण प्रयोजन के सहित तट आदि को लक्ष्यार्थ मानना युक्ति सङ्गत नहीं है।

तट आदि (रूप लक्ष्यार्थ) में जो पावनत्व आदि विशेष (प्रयोजनभूत धर्म प्रतीत होते) हैं वे अभिधा, (अभिहितान्वयवादी कुमारिलभट्ट द्वारा स्वीकृत) तात्पर्या तथा लक्षणा से भिन्न व्यापार से गम्य हैं और व्यञ्जना, ध्वनन, द्योतन आदि शब्दों से वाच्य वह व्यञ्जना–व्यापार) अवश्य मानना चाहिये (उसके बिना प्रयोजन आदि का बोध नहीं हो सकता है।

अभिधामूलं त्वाह ––

(सू0 32)**अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।**
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम्।।19।।
''संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।।
सामर्थ्यमौचितीदेशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।।''
इत्युक्तदिशा

अभिधामूला (व्यञ्जना)

मीमांसकों के व्यञ्जना–विरोधी मत का खण्डन कर के ग्रन्थकार ने व्यञ्जना को अलग वृत्ति मानने के सिद्धान्त का उपपादन किया। यह व्यञ्जना–वृत्ति 'शाब्दी–व्यञ्जना' तथा 'आर्थी–व्यञ्जना' भेद से दो प्रकार की मानी गयी है। इनमें से शाब्दी–व्यञ्जना के भी 'अभिधामूला' तथा 'लक्षणामूला' व्यञ्जना ये दो भेद किये गये हैं। लक्षणा के प्रसङ्ग में प्रयोजन के लिए व्यञ्जना की आवश्यकता अनुभव में आयी इसलिए लक्षणामूला–व्यञ्जना का निरूपण भी ग्रन्थकार ने उसी के साथ कर दिया है। शाब्दी–व्यञ्जना के दूसरे भेद अभिधामूला–व्यञ्जना का निरूपण अगली कारिका में करते हैं।

अभिधामूला (व्यञ्जना) –

(सू0 32) – संयोग आदि के द्वारा अनेकार्थक शब्दों के वाचकत्व के (किसी एक अर्थ में) नियन्त्रित हो जाने पर (उससे भिन्न) अवाच्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला (शब्द का) व्यापार व्यञ्जना (अर्थात् अभिधामूला–व्यञ्जना कहलाता है)।।19।।

एकार्थ नियामकता का हेतु

अनेकार्थक शब्द का एक अर्थ में संयोगादि के द्वारा नियन्त्रण हो जाने पर भी उससे जो अन्य अर्थ की प्रतीति होती रहती है उस प्रतीति का कराने वाला शब्द–व्यापार 'अभिधामूला–व्यञ्जना' नाम से कहा जाता है। यह अभिधामूला–व्यञ्जना का लक्षण हुआ। अब यहाँ यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि अनेकार्थक शब्द का एकार्थ में नियन्त्रण करने वाले संयोगादि का क्या अभिप्राय है। इस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए ग्रन्थकार ने अपने व्याकरणानुगत सिद्धान्त के अनुसार भर्तृहरि–प्रणीत व्याकरणशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' से दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं। जिनका अर्थ निम्नलिखित

प्रकार है –

1 संयोग, 2 विप्रयोग, 3 साहचर्य, 4 विरोधिता, 5 अर्थ, 6 प्रकरण, 7 लिङ्ग, 8 अन्य शब्द की सन्निधि, 9 सामर्थ्य, 10 औचित्य, 11 देश, 12 काल, 13 (पुल्लिङ्ग–स्त्रीलिङ्ग आदि रूप) व्यक्ति और 14 स्वर आदि (अनेकार्थक) शब्द के अर्थ का निर्णय न होने पर विशेष अर्थ में निर्णय कराने के कारण होते हैं।

(भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित) इस मार्ग से (निम्नलिखित उदाहरणों में अनेकार्थ शब्दों का एक अर्थ में नियन्त्रण किया जा सकता है)।

भर्तृहरि की इन कारिकाओं के आधार पर अनेकार्थक शब्दों का एकार्थ से नियन्त्रण करने के जो 14 कारण दिखलाये हैं इन सबके उदाहरण दिखलाते हुए आगे उनकी व्याख्या करेंगे। सबसे पहिले 'संयोग' और 'वियोग' के उदाहरण देते हैं –

'सशंखचक्रो हरिः, 'अशंखचक्रो हरिः' इति अच्युते।'राम–लक्ष्मणौ' इति दाशरथौ ।रामार्जुन गतिस्तयोः' इति भार्गव–कार्तवीर्ययोः।'स्थाणुं भज भवच्छिदे' इति हरे। 'सर्वं जानाति देवः' इति युष्मदर्थे।

संयोग और विप्रयोग की नियामकता

यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु।
शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु।।

अर्थात् पुल्लिङ्ग में प्रयुक्त हरि शब्द यम, अनिल, इन्द्र, चन्द्रमा, सूर्य, विष्णु, सिंह, रश्मि, घोड़ा, तोता, सर्प, बन्दर और मेढ़क का वाचक होता है और कपिल अर्थात् पीले अर्थ के 'हरि' शब्द का तीनों लिङ्गों में प्रयोग हो सकता है।इस कोश के अनुसार हरि शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं परन्तु उसके साथ जब शंख–चक्र के संयोग या विप्रयोग का वर्णन हो तो उन दोनों ही दशाओं में 'हरि' शब्द विष्णु का वाचक होगा। क्योंकि शंख–चक्र का योग तथा वियोग उन्हें के साथ हो सकता है इसलिए–

'शंख–चक्र सहित हरि' (यहाँ संयोग से) और 'शंख–चक्र से रहित हरि' (यहाँ विप्रयोग से) यह (हरि शब्द) अच्युत में नियन्त्रित होता है)।

साहचर्य–विरोध की नियामकता

रामः पशुविशेष स्याज्जामदग्न्ये हलायुधे।
राघवे चासिते श्वेते मनोज्ञेपि च वाच्यवत्।।

इस प्रकार राम शब्द के अनेक अर्थ होते हुए भी जब लक्ष्मण के नाम के साथ 'रामलक्ष्मणौ' इस रूप में राम पद का प्रयोग किया जाता है तब साहचर्य के कारण उससे दशरथ–पुत्र राम का ही ग्रहण होता है और जब 'रामार्जुनौ' इस प्रकार का प्रयोग होता है तब परशुराम तथा कार्तवीर्य अर्जुन का विरोध होने से विरोधिता के द्वारा उसका परशुराम अर्थ में नियन्त्रण हो जाता है।

'राम–लक्ष्मण' इस (प्रयोग) में (साहचर्य के कारण राम और लक्ष्मण दोनों शब्दों का) दशरथ के पुत्र में (नियन्त्रण होता है) और 'रामार्जुनगतिस्तयोः' (प्रयोग) में ('राम' और 'अर्जुन' इन दोनों शब्दों का विरोधिता के कारण क्रमशः) परशुराम तथा कार्तवीर्य अर्जुन अर्थ में (नियन्त्रण होता है)।

अर्थ और प्रकरण की नियामकता

इसी प्रकार 'स्थाणु' शब्द के कोश में निम्नलिखित प्रकार अनेक अर्थ दिखलाये हैं –

स्थाणुर्वा ना ध्रुवः शंकुः। स्थाणू रुद्र उमापतिः।

अर्थात् 'स्थाणु' शब्द के वृक्ष का ठूठ या स्थिर खड़ा हुआ खूँटा तथा शिव आदि अनेक अर्थ होते हैं परन्तु जब उसका प्रयोग संसार से पार उतारने की प्रार्थना में किया जाय तो वह 'अर्थ' या कार्य केवल शिव से ही सिद्ध हो सकता है इसलिए उस दशा में 'अर्थ' अर्थात् प्रयोजन के कारण 'स्थाणु' पद शिव का वाचक होगा।

'संसार के पार उतरने के लिए स्थाणु का भजन कर'। यहाँ (स्थाणु शब्द प्रयोजन रूप अर्थ के कारण) शिव में (नियन्त्रित हो जाता है)।

(इस प्रकार) 'देव सब जानते हैं' यहाँ (प्रकरण से अनेकार्थक 'देव' शब्द) 'आप' ('र्थ') में (नियन्त्रित हो जाता है)।

'कुपितो मकरध्वजः' इति कामे। 'देवस्य पुरारातेः' इति शम्भौ। 'मधुना मत्तः कोकिलः' इति

वसन्ते। 'पातु वो दयितामुखम्' इति साम्मुख्ये। 'भात्यत्र परमेश्वरः' इति राजधानीरूपाद् देशाद्राजनि। 'चित्रभानर्विभाति' इति दिने रवौ रात्रौ वह्नौ। मित्रं भाति' इति सुहृदि। 'मित्रो भाति' इति

इन्द्रशत्रुरित्यादौ वेद एव न काव्ये स्वरो विशेषप्रतीतिकृत्।

(इस प्रकार मकरध्वज पद समुद्र, औषधि विशेष और कामदेव आदि अनेक अर्थों का वाचक है। परन्तु) 'मकरध्वज कुपित होरहा है' यहाँ (लिङ्ग अर्थात् कोपरूप चिह्न से मकरध्वज पद) कामदेव में (नियन्त्रित हो जाता है)।

'पुराति देव का' यहाँ (अनेकार्थक 'देव शब्द' पुराराति रूप अन्य शब्द के सन्निधान के कारण) 'शम्भू' अर्थ में (नियन्त्रित हो जाता है)।

'कोकिल मधु से मत्त हो रहा है' यह (कोकिल को मत्त करने का सामर्थ्य केवल वसन्त में होने से 'मधु शब्द–सामर्थ्य–वश) 'वसन्त' अर्थ में (नियन्त्रित हो जाता है)।

मुख तुम्हारी रक्षा करे' इसमें (अनेकार्थक 'मुख' शब्द औचित्य के कारण 'साम्मुख्य' अर्थात्) 'आनुकूल्य' अर्थ में (नियन्त्रित हो जाता है)।

'यहाँ परमेश्वर शोभित होते हैं' इसमें राजधानी रूप देश के कारण (अनेकार्थक 'परमेश्वर' शब्द) 'राजा' अर्थ में (नियन्त्रित हो जाता है)।

'चित्रभानु चमक रहा है' यहाँ (अनेकार्थ चित्रभानु शब्द) 'सूर्य' अर्थ में, और रात्रि में 'अग्नि' अर्थ में (काल के कारण नियन्त्रित हो जाता है)।

'मित्रं भाति' 'मित्र शोभित होता है' यह (नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त हुआ अनेकार्थक 'मित्र' शब्द 'व्यक्ति' अर्थात् लिङ्ग के कारण) 'सुहृत्' अर्थ में (नियन्त्रित हो जाता है)।

'मित्रो भाति' (पुल्लिङ्ग में प्रयुक्त अनेकार्थक 'मित्र' शब्द लिङ्ग के सामर्थ्य से) सूर्य अर्थ में (नियन्त्रित हो जाता है। सुहृत्का वा... मित्र शब्द नपुंसकलिङ्ग में और सूर्य का वाचक मित्र शब्द पुल्लिङ्ग में प्रयुक्त होता है)।

ऊपर भर्तृहरि की जो कारिकाएँ उद्धृत की थीं उनमें अनेकार्थ शब्द का एकार्थ में नियन्त्रण करने वाले संयोगादि 14 हेतु बतलाये थे। उनमें 13 के उदाहरण दिखला दिये गये हैं। चौदहवां हेतु 'स्वर' कहा गया है। यह उदात्त आदि स्वरों का भेद वेद में ही अर्थ भेद का नियामक होता है, काव्य में नहीं। इसलिए यहाँ उसका उदाहरण नहीं दिया गया है। इस बात को कहते हैं –

'इन्द्रशत्रु' आदि में वेद में ही स्वर अर्थविशेष का बोधक होता है, काव्य में नहीं (इसलिए उसके लौकिक उदाहरण नहीं दिये हैं)।

स्वर भेद का प्रभाव

'इन्द्रशत्रु' यह स्वर का वैदिक–प्रयोग ग्रन्थकार ने अर्थभेद दर्शाने के लिए प्रस्तुत किया है, वह भी उन्होंने अपनी परम्परा के अनुसार व्याकरण के प्रसिद्ध ग्रन्थज्ञ महाभाष्य से उद्धृत किया है। महाभाष्य में व्याकरण के अध्ययन के मुख्य 14 प्रयोजन बतलाये हैं। उनमें दुष्ट शब्दों के प्रयोग से बचना भी व्याकरण का एक प्रयोजन बतलाया गया है। इसके विषय में महाभाष्यकार ने लिखा है –

> **"दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।**
> **स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात्।।"**

आदिग्रहणात् –

(एतावन्मात्रस्तनिका एतावन्मात्राभ्यामक्षिपत्राभ्याम्।

एतावन्मात्रावस्था एतावन्मात्रैर्दिवसैः।। इति संस्कृतम्)

इत्यादावभिनयादयः।

इत्थं संयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे निवारितेप्यनेकार्थस्य शब्दस्य यत् क्वचिदर्थान्तरप्रतिपादनम्, तत्र नाभिधा नियमनात् तस्याः। न च लक्षणा मुख्यार्थ–वाधाद्यभावात्। अपितु अञ्जनं व्यञजनमेव व्यापारः। यथा –

इस श्लोक में 'इन्द्रशत्रुः' सम्बन्धी जिस घटना का संकेत किया गया है उस कथा का उल्लेख तैत्तिरीय संहिता के द्वितीय काण्ड के पञ्चम प्रपाठ में पाया जाता है, जिसका सारांश यह है कि – त्वष्टका का पुत्र विश्वरूप, जो असुरों का भानजा भी होता था, देवताओं का पुरोहित था। वह प्रत्यक्ष रूप से देवताओं का कार्य करता था परन्तु परोक्ष

रूप से असुरों का भी कार्य करता रहता था। इसलिए इन्द्र ने क्रुद्ध होकर वज्र से उसका सिर काट दिया। उसके मारे जाने पर त्वष्टा ने इन्द्र को मारने वाले दूसरे पुत्र को उत्पन्न करने के लिए यज्ञ का आरम्भ किया। उस यज्ञ में उसने 'इन्द्रशत्रुर्वधस्य' आदि मन्त्र का 'ऊह' करके पाठ किया। उसका अभिप्राय यह था कि 'इन्द्र के मारने वाले पुत्र की वृद्धि हो'। 'शत्रु' शब्द यहाँ 'शातयिता' मारने वाले के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'इन्द्रशत्रु' पद में दो प्रकार के समास हो सकते हैं। एक 'इन्द्रस्य शत्रुः शातयिता इन्द्रशत्रु' अर्थात् इन्द्र का मारने वाला इस अर्थ में षष्ठी तत्पुरुष समास हो सकता है और दूसरा 'इन्द्रः शत्रुः शातयिता यस्य स इन्द्रशत्रुः' 'इन्द्र जिसको मारने वाला है' इस विग्रह में बहुव्रीहि समास हो सकता है। इन दोनों समासों से शब्द का अर्थ बिलकुल उलटा हो जाता है। एक जगह षष्ठी तत्पुरुष समास में 'इन्द्रः को मारने वाले पुत्र की वृद्धि हो' यह अर्थ होता है और दूसरी ओर बहुव्रीहि समास में 'इन्द्र जिसको मारे' अर्थात् जिसकी मृत्यु इन्द्र के हाथ से हो उस पुत्र की उत्पत्ति हो, यह अर्थ हो जाता है। इनमें से षष्ठी तत्पुरुष समास वाला अर्थ यजमान को अभीष्ट था। उस षष्ठी तत्पुरुष समास में 'अन्तोदात्त' स्वर का प्रयोग होना चाहिये था, परन्तु मन्त्र पढ़ते समय उसने 'इन्द्रशत्रु' शब्द का 'आद्युदात्त' उच्चारण किया, जिससे प्रार्थना का अर्थ ही उल्टा हो गया। इस प्रकार अन्तोदात्त और आद्युदात्त स्वर के भेद से अनेकार्थक वेद में ही 'इन्द्रशत्रु' शब्द का भिन्न–भिन्न अर्थों में नियतन्त्र होता है। अतः यहाँ स्वर के उदाहरण नहीं दिये हैं।

संकेत की नियामकता

कारिका में आदि (पद के) ग्रहण किये जाने से –

इतने बड़े स्तनों वाली, इतनी बड़ी आँखों से (उपलक्षित वह तरुणी) इतने दिनों में ऐसी हो गयी।।11।।

इत्यादि में अभिनय आदि (कृत संकेत एकार्थ में नियन्त्रण करने वाले होते हैं)।

इस प्रकार संयोग आदि के द्वारा अन्य अर्थ के बोधकत्व का निवारण हो जाने पर भी अनेकार्थ जो कहीं दूसरे अर्थ काप्रतिपादन करता है वहाँ अभिधा नहीं हो सकती है, क्योंकि उसका नियन्त्रण हो चुका है ओर मुख्यार्थबाध आदि के न होने से लक्षणा भी नहीं हो सकती है। अपितु अञजन अर्थात् व्यञ्जना व्यापार ही होता है। जैसे –

भद्रात्मनो दुरधिारोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोभूत्।।12।।

इस प्रकार राजा–परक अर्थ हो जाने पर हाथी–परक दूसरा अर्थ इस प्रकार प्रतीत होता है–

भद्र जातिवाले, जिसके ऊपर चढ़ने में कठिनाई होती है (अर्थात् बहुत ऊँचे), जिसकी पीठ की हड्डी (वंश) बहुत विशाल और उन्न है, जिसकी गति (अनुपप्लुत अर्थात्) धीर है और जिसने (अपने मद–जल के कारण बहुत–से) भ्रमरों का संग्रह कर रखा है इस प्रकार के (परवारण अर्थात्) उत्तम हाथी की (कर अर्थात्) सूंड़ (के समान राजा का हाथ) मद–जल के बहने से सदा सुन्दर मालूम होती है।।12।।

अभ्यास प्रश्न –

1–प्रश्न–जिस शब्द का जिस अर्थ में प्रतीति होती है, उसे क्या कहते है?
2–प्रश्न–संकेतित अर्थ जाति आदि भेदों से कितने प्रकार का होता है?
3–प्रश्न–उपाधिभेद द्वारा शब्दों का कितना विभाग होता है?
4–प्रश्न–शुद्धा तथ गौणी लक्षणा के कितने–कितने भेद होते हैं?
5–प्रश्न–संकेतग्रह के विषय में कितने मत दिखलाये हैं?

4.4सारांश

इस इकाई में शब्दशक्तियों का विस्तृत व्याख्या किया गया है संकेतग्रह के विषय में जो तीन–चार मत दिखलाये हैं उनमें से पहिले के साथ 'इति महाभाष्यकारः', दूसरे के साथ 'इत्यन्ये' और तीसरे तथा चौथे के साथ 'कैश्चित्' शब्द का प्रयोग किया गया है। नरसिंह ठक्कुर आदि 'काव्यप्रकाश' के कुछ टीकाकारों ने इसका अर्थ यह लगाया है

कि इनमें से कोई भी मत ग्रन्थकार को अभिमत नहीं है। इसलिए इन शब्दों के द्वारा सब मतों में अपना अस्वरस प्रदर्शित किया है। नरसिंह ठक्कुर ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि 'तस्माद् व्यक्तिपक्ष एव क्षोदक्षमः', अर्थात् 'इसलिए व्यक्ति पक्ष ही अधिक उचित होता है।' परन्तु यह कथन ठीक नहीं है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, साहित्यशास्त्र में प्रायः व्याकरण शास्त्र के दार्शनिक सिद्धान्तों को अपनाया गया है। स्वयं काव्यप्रकाशकार ने 'बुधैर्वैयाकरणैः' आदि लिखकर इस सिद्धान्त की पुष्टि की है।

4.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
भद्रात्मनो	कल्याणकारी आत्मा
मुखसंग्रहस्य	मुखसंग्रह का
यस्य	जिसका
परवारणस्य	परवारण का
तद्युक्तो	उसका कथन
व्यञ्जकः	व्यंजक
शब्दः	शब्द
व्यञ्जनयुक्तः	व्यंजन से युक्त
तथेति	इस प्रकार यह
काव्यप्रकाशे	काव्यप्रकाश में
शब्दार्थस्वरूपे	शब्दार्थ स्वरूप में

4. 6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उत्तर –जिस शब्द का जिस अर्थ में प्रतीति होती है, उसे संकेतग्रह कहते है।
उत्तर –संकेतित अर्थ जाति आदि भेदों से चार प्रकार का होता है।
उत्तर –उपाधिभेद द्वारा शब्दों का चतुर्विध विभाग होता है।
उत्तर –शुद्धा तथ गौणी लक्षणा के दो–दो भेद होते है।
उत्तर –संकेतग्रह के विषय में तीन–चार मत दिखलाये हैं

4. 7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1–ग्रन्थ नाम लेखक प्रकाशक
शिवराजविजय अम्बिकादत्तव्यास चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी
2–संस्कृत साहित्य का इतिहास बलदेव उपाध्याय शारदा निकेतन वी, कस्तुरवानगर सिगरा वाराणसी
3–ग्रन्थ नाम लेखक प्रकाशक
किरातार्जुनीयम् भारवि चौखम्भा
4–काव्यप्रकाश आचार्यमम्मट चौखम्भासंस्कृत भारती वाराणसी

4. 8 उपयोगी पुस्तकें

4–काव्यप्रकाश आचार्य मम्मट चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी

4. 9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.संकेतग्रह के विषय में परिचय दीजिये ।
2. लक्षणा शक्ति का निरूपण कीजिए ।

खण्ड–2

इकाई .1 .रसोत्पत्तिवाद, विभिन्न मतों का सांगोपांग वर्णन

इकाई की रूप रेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 रसोत्पत्तिवाद विभिन्नमतों का सांगोपांग वर्णन
1.4 सारांश
1.5 शब्दावली
1.6 अभ्यासार्थ प्रश्न – उत्तर
1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.8 उपयोगी पुस्तके
1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

काव्यशास्त्र से सम्बन्धित खण्ड दो की यह प्रथम इकाई है। इस इाकई के अध्ययन से आप बता सकते हैं कि रस का स्वरूप क्या है इसका सम्यग् रूप से वर्णन किया गया काव्य प्रकाश आदि ग्रन्थों में किस प्रकार किया गया है। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव तथा स्थायिभाव से रस की निष्पत्ति का वर्णन किया गया है और यह बतलाया है कि रति आदि की उत्पत्ति के जो कारण हैं वे विभाव शब्द से कार्य, अनुभाव शब्द से और सहकारी व्यभिचारिभाव नाम से कहे जाते हैं।

इनमें से रति आदि के कारण का नाम 'विभाव' है। रति आदि के कारण दो प्रकार के होते हैं, एक आलम्बन रूप और दूसरे उद्दीपन रूप। सीता, राम आदि एक दूसरे की प्रीति के आलम्बनरूप कारण होते हैं। क्योंकि सीता को देखकर राम के मन में और राम को देखकर सीता के मन में प्रेम या रति की उत्पत्ति होती है। इसलिए वे दोनों आलम्बन विभाव कहलाते हैं और परस्पर रति या प्रेम की उत्पत्ति के प्रति कारण होते हैं।

अतः इस इकाई के अध्ययन के बाद आप रस की उत्पत्ति विषयक अवधारणा से लेकर सभी मतों की सम्यक विवेचना कर सकेगें ।

1. 2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप रसोत्पत्तिवाद विभिन्नमतों का सांगोपांग वर्णन किया गया है इसके के महत्त्व पूर्ण बातों का अध्ययन करेंगे।

- स्थायिभाव के विषय में आप अध्ययन करेंगे
- मौलिक रसों का सिद्धान्त इसके विषय में आप अध्ययन करेंगे
- स्थायिभावों का तुलनात्मक चित्र इसके विषय में आप अध्ययन करेंगे
- व्यभिचारिभा के विषय में आप अध्ययन करेंगे

2.3 रसोत्पत्तिवाद, विभिन्न मतों का सांगोपांग वर्णन

रस स्वरूप निरूपण

(सू0 43)**कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।**
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।।27।।
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः।।28।।

(सू0 43) – लोक में रति आदिरूप स्थायी भाव के जो कारण, कार्य और सहकारी होते हैं, वे यदि नाटक या काव्य में (प्रयुक्त) होते हैं तो क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहलाते हैं और उन विभाव (आलम्बन या उद्दीपन) आदि (रूप कारण, कार्य तथा सहकारियों के योग) से व्यक्त वह (रति आदिरूप) स्थायी भाव 'रस' कहलाता है।।27,28।।

उपर्युक्त कारिकाओं में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव तथा स्थायिभाव से रस की निष्पत्ति का वर्णन किया गया है और यह बतलाया गया है कि रति आदि की उत्पत्ति के जो कारण हैं वे विभाव शब्द से, कार्य अनुभाव शब्द से और सहकारी व्यभिचारिभाव नाम से कहे जाते हैं। इनमें से रति आदि के कारण का नाम 'विभाव' है। रति आदि के कारण दो प्रकार के होते हैं, एक आलम्बन रूप और दूसरे उद्दीपन रूप। सीता, राम आदि एक दूसरे की प्रीति के आलम्बनरूप कारण होते हैं। क्योंकि सीता को देखकर

राम के मन में और राम को देखकर सीता के मन में प्रेम या रति की उत्पत्ति होती है। इसलिए वे दोनों आलम्बन विभाव कहलाते हैं और परस्पर रति या प्रेम की उत्पत्ति के प्रति कारण होते हैं। इस प्रीति या रति को उद्‌बुद्ध करने वाली चाँदनी, उद्यान, नदी तीर आदि सामग्री को उद्दीपन विभाव कहा जाता है, क्योंकि वे पूर्वोत्पन्न रति आदि को उद्दीप्त करने वाले हैं। इस प्रकार आलम्बन और उद्दीपन दोनों मिलकर स्थायी भाव को व्यक्त करते हैं।

1.स्थायिभाव

रस की प्रक्रिया में आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव को रस का बाह्य कारण समझना चाहिये। रसानुभूति का आन्तरिक और मुख्य कारण स्थायिभाव है। स्थायिभाव मन के भीतर स्थिर रूप से रहने वाला प्रसुप्त संस्कार है जो अनुकूल आलम्बन तथा उद्दीपन रूप उद्बोधक सामग्री को प्राप्त कर अभिव्यक्त हो उठता है और हृदय में एक अपूर्व आनन्द का संचार कर देता है। इस स्थायिभाव की अभिव्यक्ति ही रसास्वादजनक या रस्यमान होने से रस–शब्द से बोध्य होती है। इसलिए 'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसःस्मृतः' आदि कहा गया है।

अर्थात् उन पूर्वोक्त विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों के संयोग से व्यक्त होने वाले स्थायिभाव को रस कहते हैं।

व्यवहार की दशा में मनुष्य को जिस–जिस प्रकार की अनुभूति होती है उसको ध्यान में रखकर प्रायः आठ प्रकार के स्थायिभाव साहित्यशास्त्र में माने गये हैं। काव्यप्रकाशकार ने उनकी गणना इस प्रकार की है –

(सू0 45)रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः।।

अर्थात 1. रति, 2. हास, 3. शोक, 4. क्रोध, 5. उत्साह, 6. भय, 7. जुगुप्सा या घुणा और 8. विस्मय ये आठ स्थायिभाव कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त 9. निर्वेद को भी नौवाँ स्थायिभाव माना गया है। काव्यप्रकाशकार ने लिखा है –

(सू0 47)–निर्वेदस्थायिभावोस्ति शान्तोपि नवमो रसः।

इस प्रकार नौ स्थायिभाव और उनके अनुसार ही 1. श्रृंगार, 2. हास्य, 3. करुण, 4. रौद्र, 5. वीर, 6. भयानक, 7. वीभत्स, 8. अद्‌भुत और 9. शान्त ये नौ रस माने गये हैं।

ये नौ स्थायिभाव मनुष्य के हृदय में स्थायी रूप से सदा विद्यमान रहते हैं इसलिए 'स्थायिभाव' कहलाते हैं।सामान्य रूप से वे अव्यक्तावस्था में रहते हैं, किन्तु जब जिस स्थायिभाव के अनुकूल विभावादि सामग्री प्राप्त हो जाती है तब वह व्यक्त हो जाता है और रस्यमान या आस्वाद्यमान होकर रसरूपता को प्राप्त हो जाता है। बीच में चार मौलिक रसों के सिद्धान्तों की बात आ जाती है।प्रसंग वश उनकी चर्चा भी आवश्यक है।

चार मौलिक रसों का सिद्धान्त

अधिक सूक्ष्म विवेचन करने वाले धनिक तथा धनञ्जय आदि आचार्यों ने नौ मालिक मनःसंवेगों अथवा स्थायिभावों के स्थान पर केवल चार स्थायिभाव या चार रस मानने का भी निर्णय किया है और शेष रसों की उत्पत्ति उन चार से ही मानी है। उनका कहना है कि रसानुभूति के काल में चित्त की विकास, विस्तार, विक्षोभ तथा विक्षेप रूप चार प्रकार की ही अवस्थाएँ होती हैं इसलिए चार ही रस मानने चाहिये। दशरूपककार ने इस विषय का विवेचन करते हुए लिखा है –

विकासविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः।।
श्रृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात्
हास्यादीुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि।।

अर्थात् काव्य के परिशीलन से आत्मा में आनन्द की अनुभूति का नाम स्वाद या रसास्वाद है। वह आत्मानन्द चित्त के विकास, विस्तार, विक्षोभ तथा विक्षेप रूप से चार प्रकार का होता है। चित्त की यह चार प्रकार की अवस्था क्रमशः श्रृङ्गार, वीर, बीभत्स तथा रौद्र रस में होती है। शेष हास्य, अद्‌भुत, भयानक तथा करुण रस में भी चित्त की वे ही अवस्थाएँ होती हैं –

अतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम्।।
शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्]ुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः।।

अर्थात् शृङ्गार रस से हास्य की उत्पत्ति होती है और रौद्र रस से करुण रस उत्पन्न होता है। इसी प्रकार वीर रस से अद्भुत तथा बीभत्स रस से भयानक रस की उत्पत्ति होती है। अर्थात् हास्य आदि अन्तिम चार रसों की उत्पत्ति शृङ्गार आदि पहिले के चार रसों से होती है। इसलिए चार ही मुख्य रस हैं, इस प्रकार का अवधारण किया जा सकता है।

प्राचीन साहित्यशास्त्रियों ने जो रस और उनसे सम्बद्ध स्थायिभावों की कल्पना की थी वह पूर्णतः मनोवैज्ञानिक आधार पर ही की थी। आज के मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर भी उनकी मनोवैज्ञानिकता का समर्थन किया जा सकता है।

2.विभाव

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, रसानुभूति के कारणों को 'विभाव' कहते हैं। वे दो प्रकार के होते हैं—एक 'आलम्बन—विभाव' और दूसरा 'उद्दीपन—विभाव'। जिसको आलम्बन कर के रस की उत्पत्ति होती है उसको 'आलम्बन—विभाव' कहते हैं। जैसे सीता को देखकर राम के मन में और राम को देखकर सीता के मन में रति की उत्पत्ति होती है और उन दोनों को देखकर सामाजिक के भीतर रस की अभिव्यक्ति होती है। इसलिए सीता, राम आदि शृङ्गार रस के 'आलम्बन—विभाव' कहलाते हैं। चाँदनी, उद्यान, एकान्त स्थान आदि के द्वारा उस रति का उद्दीपन होता है। इसलिए उनको शृङ्गार रस के 'उद्दीपन—विभाव' कहा जाता है। प्रत्येक रस के आलम्बन तथा उद्दीपन—विभाव अलग—अलग होते हैं।

3. अनुभाव

'स्थायीभाव' रसानुभूति का प्रयोजक अन्तरङ्ग या आभ्यन्तर कारण है। आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव उसके बाह्य या बहिरङ्ग कारण हैं। इसी प्रकार अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव उस आन्तर रसानुभूति से उत्पन्न, उसकी बाह्याभिव्यक्ति के प्रयोजक शारीरिक तथा मानसिक व्यापार हैं। इनको रस का कारण, कार्य तथा सहकारी कहा जाता है। साहित्यदर्पणकार ने अनुभाव का लक्षण इस प्रकार किया है –

उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन।
लोके यः कार्यरूपः सोनुभावः काव्यनाट्ययोः।।3, 132।।

अर्थात् अपने—अपने आलम्बन या उद्दीपन कारणों से, सीता—राम आदि के भीतर उद्बुद्ध रति आदि रूप स्थायिभाव को बाह्य रूप में जो प्रकाशित करता है वह रत्यादि का कार्यरूप, काव्य और नाट्य में 'अनुभाव' के नाम से कहा जाता है।

भरतमुनि ने अनुभाव का लक्षण निम्नलिखित प्रकार किया है –

वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोनुभाव्यते।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः।। 7, 5।

अर्थात् जो वाचिक या आङ्गिक अभिनय के द्वारा रत्यादि स्थायिभाव की आन्तर अभिव्यक्तिरूप अर्थ का बाह्य रूप में अनुभव कराता है उसको 'अनुभाव' कहते हैं।

भरत—नाट्यशास्त्र के अनुसार अनुभावों का विशेष उपयोग अभिनय की दृष्टि से ही होता हैं किसी रस की बाह्य अभिव्यक्ति के लिए अलग—अलग अभिनय—शैली का अवलम्बन किया जाता है। अलग—अलग रस को प्रकाशित करने वाले स्मित आदि बाह्य व्यापार 'अनुभाव' कहलाते हैं और वे प्रत्येक रस में अलग—अलग होते हैं। वैसे अनुकार्य की दृष्टि से भी वे उसकी रसानुभूति के बाह्य प्रदर्शक होते हैं।

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के सप्तमाध्याय में अलग—अलग स्थायिभावों और रसों के अनुभावों का वर्णन इस प्रकार किया है –

स्थायिभाव और उनके अनुभावों का चित्र

स्थायिभाव,और उनके अनुभाव

1. रतिः तामभिनयेत् स्मितवदन—मधुरकथन—भ्रूक्षेप—कटाक्षादिभिरनभावैः।
2. हासः तमभिनयेत् पूर्वोक्तैर्हसितादिभिरनुभावैः।

3. शोकः तस्यास्रपात –परिदेवित –विलपित –वैवर्ण्य–स्वरभेद –स्रस्तगात्रता–भूमि –पतन–सस्वनरुदित–आक्रन्दित–दीर्घनिःश्वसित–जडता–उन्माद–मोह–मरणादिभिरनुभावैर भिनयः प्रयोक्तव्यः।

4. क्रोधः अस्य कृष्टनासापुट –उद्वृत्तनयन –सन्दष्टोष्ठपुट –गण्डस्फुरणादिभि रनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

5. उत्साहः तस्य धैर्य–शौर्य–त्याग–वैशारद्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

6. भयम् तस्य प्रकम्पितकरचरण –हृदयकम्पन –स्तम्भ –मुखशोष– जिह्वापरिलेहन स्वेदवेपथु–त्रास –परित्राणान्वेषण–धावन–उत्क्रुष्टादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

7. जुगुप्सा तस्याःसर्वाङ्गसङ्कोच–निष्ठीवन–मुखविकूणन–हृल्लेखादिभि नुभावै रभिनयः प्रयोक्तव्यः।

8. विस्मयः तस्यनयनविस्तार–अनिमेषप्रेक्षित–भ्रूक्षेपरोमहर्षणशिरः कम्पसाधुवादादिभि रनुभावैरभिनयःप्रयोक्व्यः।

भरतमुनि के द्वारा अनुभावों का यह जो विशेष रूप से अभिनय में प्रयोग दिखलाया गया है उससे प्रतीत होता है कि अनुभाव वस्तुतः आन्तर रसानुभूति की बाह्य अभिव्यञ्जना के साधन हैं और उनमें शारीरिक व्यापार की प्रधानता रहती है। नट कृत्रिम रूप से इन अनुभावों का अभिनय करता है परन्तु अनुकार्य राम आदि की अन्तःस्थ रसानुभूति की बाह्य अभिव्यक्ति इन साधनों के द्वारा होती है। वे रसानुभूति के 'अनु पश्चात् भवन्ति इत्यनुभावाः' बाद में होते हैं, रसानुभूति के कार्य होते हैं, इसलिए 'अनुभाव' कहलाते हैं। अथवा अनुकार्य राम आदि की रसानुभूति का अनुभव, अनुमान सामाजिकों को कराते हैं, इसलिए अनुभाव कहलाते हैं।

4.व्यभिचारिभाव

उद्बुद्ध हुए स्थायिभावों की पुष्टि तथा उपचय में जो उनके सहकारी होते हैं उनको व्यभिचारिभाव कहते हैं। भरतमुनि ने 'नाट्य–शास्त्र' के सप्तम अध्याय में व्यभिचारिभाव शब्द की निरुक्ति करते हुए लिखा है –

'व्यभिचारिण इदानीं व्याख्यास्यामः। अत्राह–व्यभिचारिण इति कस्मात्। उच्यते–विअभि इत्येतावुपसर्गौ, चर इति गत्यर्थो धातुः। विविधम् आभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः। वागङ्गसत्त्वोपेताः प्रयोगे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिणः। अत्राह–कथं नयन्तीति। उच्यते–लोक–सिद्धान्त एषः यथा सूर्य इदं दिनं नक्षत्रं वा नयतीति। न च तेन बाहुभ्यां सकन्धेन वा नीयते। किन्तु लोकप्रसिद्धमेतत्, यथेदं सूर्यो नक्षत्रं दिनं वा नयतीति। एवमेते व्यभिचारिणः इत्यवगन्तव्याः। तानिह संग्रहाभिहितांस्त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणो भावान् वर्णयिष्यामः।'

उक्तं हि भरतेन –

''विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'' इति।

एतद्विवृण्वते –

अर्थात् जो रसों में नाना रूप से विचरण करते हैं और रसों को पुष्ट कर आस्वाद के योग्य बनाते हैं उनको 'व्यभिचारिभाव' कहते हैं। इन व्यभिचारिभावों की संख्या 33 मानी गयी है। ये 33 व्यभिचारिभाव सब रसों में मिलकर होते हैं। अलग–अलग रसों के हिसाब से उनका वर्गीकरण नहीं किया गया है। भरतमुनि ने व्यभिचारिभावों की गणना इस प्रकार की है–

निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूया मदः श्रमः।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः।।18।।
ब्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च।।19।।
सुप्तं विवोधो•मर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च।।20।।
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः।।21।।

भरतमुनि के रससूत्र का परिचय

रस की निष्पत्ति का सर्वप्रथम उल्लेख भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में किया है। वही सारे रस–सिद्धान्त की आधार–भित्ति है। भरतमुनि के 'रससूत्र' की व्याख्या में उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपनी शक्ति लगायी है और उसके परिणामस्वरूप 1. उत्पत्तिवाद, 2. अनुमितिवाद, 3. भुक्तिवाद और 4. अभिव्यक्तिवाद इन चार सिद्धान्तों का विकास हुआ है। विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है इस भरत–सूत्र में जो 'निष्पत्ति' शब्द आया है उसके भी चार अर्थ होते हैं। भट्टलोल्लट के मत में 'निष्पत्ति' का अर्थ 'उत्पत्ति', शंकुक के मत में 'अनुमिति', भट्टनायक के मत में 'भुक्ति' और अभिनवगुप्त के मत में 'निष्पत्ति' शब्द से अाीव्यक्ति का ग्रहण होता है।
'विभाव–अनुभाव–व्यभिचारि–संयोगाद् रसनिष्पत्तिः' विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। यह भरतमुनि का सूत्र है। इस सूत्र की अनेक प्रकार की व्याख्या उनके टीकाकारों ने की है जिनमें से 1. भट्टलोल्लट, 2. शंकुक, 3. भट्टनायक तथा 4. अभिनवगुप्त मुख्य व्याख्याकार हैं। इन चार आचार्यों द्वारा की गयी व्याख्या यहाँ काव्यप्रकाशकार मम्मट ने भी उद्धृत की है। इन चारों आचार्यों द्वारा की जानेवाली यह व्याख्या अभिनवगुप्त–रचित भरतनाट्यशास्त्र की 'अभिनवभारती' नामक टीका में से ली गयी है। (जैसा कि) भरतमुनि ने कहा भी है –
'विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है'। अब यहाँ क्रमशः सभी आचार्यों के मतों का विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है।

1. भट्टलोल्लट, 2. शंकुक, 3. भट्टनायक और 4. अभिनवगुप्त

1.भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद

विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनित :, अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः, व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानान्नर्त्तके•पि प्रतीयमानो रस इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः।

भरत के रससूत्र के व्याख्याकारों में भट्टलोल्लट उत्पत्तिवाद के पोषक हैं। उनके मत में विभाव, अनुभाव आदि के संयोग से अनुकार्य राम आदि में रस की उत्पत्ति होती है। उनमें भी विभाव सीता आदि मुख्य रूप से रस के उत्पादक होते हैं। अनुभाव उस उत्पन्न हुए रस को बोधित करने वाले होते हैं और व्यभिचारिभाव उस उत्पन्न रस के परिपोषक होते हैं। अतः स्थायिभाव के साथ विभावों का उत्पाद्य उत्पादक भाव, अनुभावों का गम्य–गमकभाव और व्यभिचारिभावों का पोष्य–पोषक भाव सम्बन्ध होता है। इसलिए भरत–सूत्रों में 'संयोग' शब्द आया है भट्टलोल्लट के मत में उसके भी तीन अर्थ हैं। विभावों के साथ संयोग अर्थात् उत्पाद्य–उत्पादक–भाव सम्बन्ध अनुभावों के साथ गम्य–गमकभाव सम्बन्ध तथा व्यभिचारिभावों के साथ पोष्य–पोषकभावरूप सम्बन्ध 'संयोग' शब्द का अर्थ होता है। इसी बात को आगे कहते हैं –
(विभावों अर्थात् रस के आलम्बन तथा उद्दीपन के कारणभूत) ललना (आलम्बनविभाव) और उद्यान आदि (उद्दीपन–विभावों) से रति आदि (स्थायी) भाव उत्पन्न हुआ, (रति आदि की उत्पत्ति के) कार्यभूत कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि अनुभावों से प्रतीति के योग्य किया गया और सहकारीरूप निर्वेद आदि व्यभिचारिभावों से पुष्ट किया गया मुख्य रूप से अनुकार्यरूप राम आदि में और उनके स्वरूप का अनुकरण करने से नट में प्रतीयमान (अर्थात् आरोप्यमाण रत्यादि स्वायिभाव ही) रस (कहलाता) है। यह भट्टलोल्लट आदि का मत है।
वह जो भट्टलोल्लट आदि का मत दिखलाया है इसमें स्थायिभाव के साथ विभावों का 'संयोग' अर्थात् उत्पाद्य–उत्पादकभाव सम्बन्ध, अनुभावों के साथ गम्य–गमकभाव सम्बन्ध तथा व्यभिचारिभावों के साथ पोष्य–पोषकभाव सम्बन्ध 'संयोग' से अभिप्रेत है ऐसा मान कर ही व्याख्या में क्रमशः 'जनितः', 'प्रतीतियोग्यः कृतः' तथा 'उपचितः इन पदों का

प्रयोग किया गया है। दूसरी बात यह है कि इस मत में रस मुख्य रूप से अनुकार्य राम आदि में रहता है और उनका अनुकर्ता होने के कारण गौण रूप से नट में भी रस की स्थिति मानी जाती है। परन्तु सामाजिक में रस की उत्पत्ति नहीं होती है। तीसरी बात यह है कि जैसे भरत–सूत्र में आये हुए 'संयोग' शब्द के तीन अर्थ यहाँ माने गये हैं उसी प्रकार भरत–सूत्र में आये हुए 'निष्पत्ति' शब्द के भी तीन अर्थ समझने चाहिये। विभाव के साथ स्थायिभाव का 'संयोग' अर्थात् उत्पाद्य–उत्पादकभाव सम्बन्ध होने पर रस की 'निष्पत्ति' अर्थात् 'उत्पत्ति' होती है। यहाँ 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ 'उत्पत्ति' होता है। अनुभावों के साथ 'संयोग' अर्थात् गम्य–गमकभाव सम्बन्ध होने पर रस की 'निष्पत्ति' अर्थात् 'प्रतीति' होती है। यहाँ 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ 'प्रतीति' होता है और व्यभिचारिभावों के साथ पोष्य–पोषकभाव सम्बन्ध होने से रस की 'निष्पत्ति' तथा 'पुष्टि' होती है। यहाँ 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ पुष्टि होता है। यह इस व्याख्या का अभिप्राय है। इस व्याख्या को टीकाकारों ने मीमांसा–सिद्धान्त के अनुसार की गयी व्याख्या बतलाया है। 'मीमांसा' से यहाँ 'उत्तर–मीमांसा' अर्थात् 'वेदान्त' का ग्रहण करना चाहिये। वेदान्त में जगत की आध्यासिक प्रतीति मानी गयी है। जैसे रज्जु में सर्प की आध्यासिक या आरोपित प्रतीति के समय सर्प के विद्यमान न होने पर भी सर्प की प्रतीति और उससे भयादि कार्यों की उत्पत्ति होती है; उसी प्रकार अभिनयादि के समय रामादिगत सीताविषयिणी अनुरागादिरूपा रति के विद्यमान न होने पर भी नट में विद्यमान रूप से उसकी प्रतीति और उसके द्वारा सहृदयों में चमत्कारानुभूति आदि कार्यों की उत्पत्ति होती है। इसी सादृश्य के कारण इस सिद्धान्त को 'मीमांसा' अर्थात 'उत्तर–मीमांसा' या 'वेदान्त' का अनुगामी सिद्धान्त कहा जा सकता है। इस व्याख्या के करने वाले भट्टलोल्लट मीमांसक पण्डित थे।

भट्टलोल्लट के मत में कमी

भट्टलोल्लट की इस व्याख्या में सबसे बड़ी कमी यह प्रतीत होती है कि इसमें मुख्य रूप से अनुकार्य तथा गौण रूप से नट में तो रस की उत्पत्ति, अभिव्यक्ति और पुष्टि आदि मानी गयी है, परन्तु सामाजिक को रसानुभूति क्यों होती है इस समस्या पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। दूसरी बात यह है कि अनुकार्य सीता–राम आदि तो अब इस जगत् में नहीं हैं। अतः इस समय किये जाने वाले अभिनय से उनमें रस की उत्पत्ति नहीं बन सकती है। इसलिए उनके अनुकर्ता नट में भी रस की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। ये दो इस व्याख्या के मुख्य दोष हैं। इसलिए यह व्याख्या अन्य आचार्यों को रुचिकर प्रतीत नहीं हुई।

2. शंकुक का अनुमितिवाद

राम एवायम् अयमेव राम इति, न रामोयमित्यौत्तरकालिके बाधे रामोयमिति, रामः स्याद्वा न वायमिति, रामसदृशोयमिति, च सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे –

> **'सेयं ममाङ्गेषु सुधारसच्छटा सुपूरकर्पूरशलाकिका दृशोः।**
> **मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता।।25।।**
> **दैवादमह्य तया चपलायतनेत्रया वियुक्तश्च।**
> **अविरलविलोलजलदः कालः समुपागतश्चायम्।।26।।**

इत्यादिकाव्यानुसन्धानबलाच्छिक्षाभ्यासनिर्वर्तितस्वकार्यप्रकटेन च नटेनैव प्रकाशितैः कारणकार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः संयोगात् गम्यगमकभावरूपात्, अनुमीयमानोपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशङ्कुकः।

न्याय–सिद्धान्त के अनुयायी भरत–सूत्र के दूसरे टीकाकार शंकुक ने इस सूत्र की दूसरे प्रकार की व्याख्या उपस्थित की है। उसमें उन्होंने सामाजिक के साथ रस का सम्बन्ध दिखलाने का प्रयत्न किया है। इस व्याख्या के अनुसार नट कृत्रिम रूप से अनुभाव

आदि का प्रकाशन करता है। परन्तु उनके सौन्दर्य के बल से उनमें वास्तविकता–सी प्रतीत होती है। उन कृत्रिम अनुभाव आदि को देखकर सामाजिक, नट में वस्तुतः विद्यमान न होने पर भी, उसमें रस का आत्मसात कर लेता है और अपनी वासना के वशीभूत होकर उस अनुमीयमान रस का आस्वादन करता है। शंकुक की इस व्याख्या को काव्यप्रकाशकार ने निम्नलिखित प्रकार से उपस्थित किया है –

1. 'यह राम ही है' अथवा 'यह ही राम है' (इस प्रकार की सम्यक् प्रतीति), 2. 'यह राम नहीं है' इस प्रकार उत्तरकाल में बाधित होने वाली 'यह राम' है (इस प्रकार की मिथ्याप्रतीति), 3. 'यह राम है या नहीं' (इस प्रकार की संशयरूप प्रतीति) और 4. 'यह राम के समान है' (इस प्रकार की सादृश्य–प्रतीति,) इन 1. सम्यक्प्रतीति, 2. मिथ्याप्रतीति, 3. संशयप्रतीति तथा 4. सादृश्यप्रतीतियों से भिन्न प्रकार की 'चित्र–तुरग–न्याय' से होने वाली (पाँचवें प्रकार की) प्रतीति से ग्राह्य नट में –

मेरे अङ्गों में सुधा रस के समान (आनन्ददायिनी), आँखों के लिए कर्पूर की शलाका के समान (शीतलतादायक) और मन के लिए शरीर–धारिणी मनोरथ्ज्ञ श्री के समान यह प्राणेश्वरी मुझे अब दिखलायी दे रही है।।25।।

दैवात् मैं चञ्चल, बड़ी–बड़ी आँखों वाली उस (प्रियतमा) से आज ही अलग हुआ और (आज ही) निरन्तर उमड़ते हुए मेघों से युक्त यह (सन्तापकारी वर्षा का) काल आ गया।।26।।

इत्यादि काव्यों के अनुशील से तथा शिक्षा के अभ्यास से सिद्ध किये हुए अपने (अनुभाव इत्यादि) कार्य से नट के ही द्वारा प्रकाशित किये जाने वाले, कृत्रिम होने पर भी कृत्रिम न समझे जाने वाले, विभाव आदि शब्दों से व्यवहृत होने वाले, कारण, कार्य और सहकारियों के साथ 'संयोग' अर्थात् गम्य–गमकभाव रूप सम्बन्ध से, अनुमीयमान होने पर भी, वस्तु के सौन्दर्य के कारण तथा आस्वाद का विषय होने से अन्य अनुमीयमान अर्थों से विलक्षण स्थायी रूप से सम्भाव्यमान रति आदि भाव यहाँ (अर्थात् नट में वास्तव रूप में) न रहते हुए भी सामाजिक के संस्कारों से (स्वात्मगतत्वेन) आस्वाद किया जाता हुआ 'रस' कहलाता है। यह श्रीशंकुक का मत है। (इस मत में भरत–सूत्र के 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ 'अनुमिति' और 'संयोग' शब्द का अर्थ गम्य–गमकभाव सम्बन्ध है।)

श्रीशंकुक के मत का विश्लेषण किया जाय तो उसमें निम्नलिखित बातें विशेष ध्यान देने योग्य पायी जाती हैं –

1–शंकुक ने नट में रस की अनुमेय माना है। अनुमान की सामग्री में, नट में 'चित्रतुरग–न्याय' से राम–बुद्धि का प्रतिपादन किया है। जैसे घोड़े के चित्र को देखकर 'यह घोड़ा है' इस प्रकार का व्यवहार होता है, परन्तु इस प्रतीति को 1. न सत्य कहा जा सकता है, 2. न मिथ्या, 3. न संशय रूप कहा जा सकता है और 4. न सादृश्य रूप प्रतीति ही माना जा सकता है। चित्रस्थ तुरग में होने वाली बुद्धि इन चारों प्रकार की बुद्धियों से भिन्न होती है। इसी प्रकार नट में जो राम–बुद्धि होती है वह 1. सम्यक्, 2. मिथ्या, 3. संशय तथा 4. सादृश्य इन चारों प्रकार की प्रतीतियों से विलक्षण होती है।

2–रस की अनुमिति में राम–सीता आदि विभावों की प्रतीति तो चित्रतुरग–न्याय से होती ही है, उसके अतिरिक्त जिन अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव रूप लिङ्गों से उनमें 'इयं सीता रामविषयक रतिमती, तस्मिन् विलक्षणस्मितकटाक्षादिमत्त्वात्' इस प्रकार का अनुमान होता है, वे लिङ्ग भी यथार्थ नहीं हैं। यथार्थ स्मित–कटाक्षादि अनुभाव तो यथार्थ सीता–राम आदि में ही रहे होंगे। पर यहाँ चित्रतुरग–न्याय से उपस्थित सीता–राम रूप नट में यथार्थ स्मित–कटाक्षादि नहीं हैं। नट अपने शिक्षा और अभ्यास से कृत्रिम स्मित–कटाक्षादि का प्रदर्शन करता है। इस प्रकार कृत्रिम आलम्बन रूप सीता–राम आदि में नटों द्वारा कृत्रिम रूप से प्रकाशित स्मित–कटाक्षादि से 'इयं सीता रामविषयक–रतिमती' या 'अयं रामः सीताविषयकरतिमान् तत्र विलक्षणस्मित–कटाक्षादिमत्त्वात्' इस प्रकार आनुमानिक रस की प्रतीति होती है।

3–इसलिए भरत के रस सूत्र में प्रयुक्त 'संयोगात्' शब्द का अर्थ 'गम्यगमकभावसम्बन्धात्' होता है।

4–इसलिए आनुमानिक रस की प्रतीति का आधार भी सामाजिक नहीं होता है। कृत्रिम राम और सीता में रहने वाली रति या रस का सामाजिक को केवल अनुमान होता है।
5–सामान्यतः अनुमान आदि प्रमाणों से होने वाले ज्ञान 'परोक्ष' रूप माने जाते हैं। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से ही 'अपरोक्ष' प्रतीति होती है। परन्तु इस रसानुमिति में विशेषता यह है कि वह अनुमिति होने पर भी अन्य अनुमितियों से भिन्न और 'अपरोक्ष' रूप होती है। इसलिए उस अनुमित रस का भी सामाजिक को आस्वाद होता है।
6–सामाजिक के रसास्वाद का कारण उसकी वासना और रस प्रतीति में विलक्षण अपरोक्षता की कल्पना है। वस्तुतः अनुमित रस न सामाजिक में रहता है और न कृत्रिम रामादि में रहता है, परन्तु वासना के बल से सामाजिक में न रहनेवाले और नट में भी वस्तुतः अविद्यमान किन्तु अनुमीयमान रस का सामाजिक को आस्वाद होता है।
शंकुक के 'अनुमितिवाद' को न्यायमतानुसारी सिद्धान्त माना गया है। इसका कारण उसका अनुमिति–प्रधान होना ही है। न्यायशास्त्र अनुमिति–प्रधान शास्त्र है। विशेष रूप से नव्य–न्याय के आचार्यों ने तो अपनी सारी शक्ति अनुमान के परिष्कार में ही लगा दी थी।न्याय की इस 'अनुमितिप्रधान' प्रक्रिया के आधार पर ही शंकुक ने अपने 'अनुमितिवाद' की स्थापना की है। इसीलिए उसको न्याय मतानुसारी सिद्धान्त कहा जाता है।
'शंकुक' के मत में चतुर्विध प्रतीतियों में से सम्यक् प्रतीति का प्रदर्शन करते हुए ग्रन्थकारों ने 'राम एवायम्', 'अयमेव रामः' इन दो वाक्यों का प्रयोग किया है। इनमें वस्तुतः 'एव' पद का दो प्रकार से प्रयोग किया गया है। 'राम एवायम्' और 'अयमेव रामः' इन दोनों वाक्यों में 'रामः' विशेषण पद है, 'अयम्' विशेष्य पद है। इनमें से प्रथम वाक्य में विशेषणभूत 'रामः' पद के साथ 'एवकार' का प्रयोग किया गया है और 'अयमेव रामः' इस दूसरे वाक्य में 'अयम्' इस विशेष्य पद के साथ 'एवकार' का प्रयोग किया है। पहले वाक्य में 'रामः' इस विशेषण पद के साथ एवकार को मिलाकर 'राम एवायम्' यह प्रयोग किया गया है। 'विशेषणसङ्गतः एवकारः अयोगव्यवच्छेदकः' इस नियम के अनुसार वह विशेष्यभूत 'अयम्' पद के अर्थ में 'रामत्व' के अयोग का व्यवच्छेद कर उसमें 'रामत्व' का नियमन करता है–अर्थात् 'यह राम से भिन्न नहीं है।' दूसरे वाक्य में विशेष्यभूत 'अयम्' के साथ प्रयुक्त 'एवकार' अन्य योग का व्यवच्छेदक होता है। अर्थात् विशेष्य से भिन्न किसी अन्य पदार्थ में विशेषणीभूत धर्म के सम्बन्ध का निवारक होता है। इसलिए वहाँ विशेष्यभूत 'अयम्' के साथ प्रयुक्त 'एवकार' इससे भिन्न अर्थ में 'रामत्व' के सम्बन्ध का निवारण करता हुआ 'यही राम है, अन्य कोई राम नहीं' इस प्रकार 'अयम्' में रामत्व का नियमन करता है। 'राम एवायम्' और 'अयमेव रामः' ये दोनों अंश मिलकर सम्यक् प्रतीति का प्रदर्शन करते हैं।
'एवकारस्त्रिधा मतः'

'अयोगमन्ययोगं च अत्यन्तायोगमेव च।
व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य एवकारस्त्रिधा मतः।।'

इस 'एव' का प्रयोग तीन प्रकार से होता है और उन तीनों में उसके अर्थ में भेद हो जाता है। वह कभी विशेषण के साथ प्रयुक्त होता है, कभी विशेष्य के साथ और कभी क्रिया के साथ। विशेष्य के साथ प्रयोग होने पर वह अन्य–योग का व्यवच्छेदक होता है (विशेष्यसङ्गतस्त्वेवकारो अन्ययोगव्यवच्छेदकः) जैसे 'पार्थ एवं धनुर्धरः'। यहाँ पार्थ विशेष्य है उसके साथ प्रयुक्त एवकार अन्य योगा का व्यवच्छेदक होता है। अर्थात् वह विशेष्य पार्थ से अन्य में विशेषण 'धनुर्धर' के सम्बन्ध का निषेध करता है। 'पार्थ एव धनुर्धरो नान्यः' (पार्थ ही धनुर्धर है अन्य नहीं) यह उसका भावार्थ होता है। विशेषण के साथ प्रयुक्त 'एव' अयोगव्यवच्छेदक होता है (विशेषणसङ्गतस्त्वेवकारो अयोगव्यवच्छेदकः) जैसे 'पार्थो धनुर्धर एव' यहाँ विशेषा धनुर्धर के साथ प्रयुक्त 'एव' विशेष्य में विशेषण के अयोग अर्थात् सम्बन्धाभाव का निषेध करता है और 'पार्थ धनुर्धर ही है' इस रूप में उसमें धनुर्धरत्व का नियमन करता है। इसी प्रकार ब 'एव' क्रिया के साथ अन्वित होता है तब अत्यन्ता योग का व्यवच्छेदक होता है। जैसे 'नीलं कमलं भवत्येव' इस वाक्य में 'भवति' क्रिया के साथ अन्वित एवकार कमल में नीलत्व के

अत्यन्त असम्बन्ध का निषेधक है। यहाँ वह न तो सब कमलों में नीलत्व के सम्बन्ध को नियमित करता है और न कमल भिन्न में अनीलत्व के सम्बन्ध को, किन्तु किसी विशेष कमल में नीलत्व के सम्बन्ध को नियमित करता है। इस प्रकार एव के तीन प्रकार के प्रयोग होते हैं।

श्री शंकुक के मत में कमी

श्री शंकुक ने सामाजिक में रस प्रतीति बताने का प्रयत्न अवश्य किया है, परन्तु वह पर्याप्त रूप से सन्तोषजनक नहीं है। उनकी प्रक्रिया के अनुसार सामाजिक को कृत्रिम विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों के साथ कृत्रिम स्थायिभाव के सम्बन्ध से नट में कृत्रिम राम–सीतादि विषयक रति का अनुमान होता है। परन्तु उससे सामाजिक की रसानुभूति की समस्या हल नहीं होती है। सामाजिक को रस का साक्षात्कार होता है इसका उपपादन करना चाहिये। रसानुभव में इस प्रकार की साक्षात्कारात्मक प्रतीति का उपपादन अनुमान के द्वारा नहीं किया जा सकता है। अनुमान से होने वाला ज्ञान परोक्ष होता है, साक्षात्कारात्मक नहीं। फिर वह अनुमिति भी कैसी, जिसमें सब–कुछ कृत्रिम है। इसलिए अनुमितिवाद के आधार पर रसास्वादन का ठीक तरह से उपपादन नहीं किया जा सकता है। यही अनुमितिवादक का सबसे बड़ा दोष है।

2.भट्टनायक का भुक्तिवाद

'न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते अपितु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विज्ञावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी, सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यते' इति भट्टनायकः।

भरतमुनि के सूत्र के तीसरे व्याख्याकार भट्टनायक हैं उन्होने सामाजिक को होने वाली साक्षात्कारात्मक रसानुभूति के उपपादन के लिए एक नये ही मार्ग का अवलम्बन किया है। उसे साहित्यशास्त्र में 'भुक्तिवाद' नाम से कहा जाता है। उसका आशय यह है कि रस की 'निष्पत्ति' न अनुकार्य राम आदि में होती है और न अनुकर्ता नट आदि में। अनुकार्य और अनुकर्ता दोनों तटस्थ हैं, उदासीन हैं। उनको रसानुभूति नहीं होती है। वास्तविक रसानुभूति सामाजिक को होती है। उसका उपपादन अन्य किसी व्याख्याकार ने नहीं किया है। भट्टलोल्लट ने मुख्य रूप से 'तटस्थ' राम आदि में गौण रूप से 'तटस्थ' नट में रस की 'उत्पत्ति' मानी है। पर इसमें सामाजिक का स्थान कहीं नहीं आया है। अतएव 'ताटस्थ्येन रसोत्पत्ति' मानने वाले भट्टलोल्लट का सिद्धान्त ठीक नहीं हैं। श्री शंकुक ने 'तटस्थ' नट में रस की 'अनुमिति' (प्रतीति) मानी है और उसके द्वारा संस्कारवश सामाजिक की रस–चर्वणा का उपपादन करने का यत्न किया है। परन्तु 'अनुमिति' तो केवल परोक्ष–ज्ञानरूप होती है। साक्षात्कारात्मक रसानुभूति की समस्या उसके द्वारा हल नहीं हो सकती है। इसलिए यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं है। 'न ताटस्थ्येन रस उत्पद्यते, न प्रतीयते' ताटस्थ्य से अर्थात् अनुकार्यगत या अनुकर्तृगत रूप से न रस की उत्पत्ति होती है और न प्रतीति या अनुमिति होती है। यहाँ 'न उत्पद्यते' में भट्टलोल्लट के 'उत्पत्तिवाद' का और 'प्रतीयते' से शंकुक के 'अनुमितिवाद' का निराकरण किया गया है।

भट्टनायक नें रस की स्थिति 'तटस्थ' रीाम या नट आदि में न मानकर 'आत्मगत' अर्थात् सामाजिकगत मानी है। भट्टनायक ने 'उत्पत्तिवाद', 'अनुमितिवाद' और 'अभिव्यक्तिवाद' तीनों का खण्डन करके अपने 'भुक्तिवाद' की स्थापना की है और उसी को रसानुभूति की समस्या का सबसे सुन्दर समाधान माना है।

भट्टनायक ने अपने 'भुक्तिवाद' की स्थाना करने के लिए शब्द में स्वीकृत अभिधा और लक्षणा शक्ति के अतिरिक्त 'भावकत्व' तथा 'भोजकत्व' रूप दो नये व्यापारों की कल्पना की है। उनके मतानुसार अभिधा या लक्षणा से काव्य का जो अर्थ उपस्थित होता है उसको शब्द का 'भावकत्व' व्यापार परिष्कृत कर सामाजिक के उपभोग के योग्य बना देता है। काव्य से जो अर्थ अभिधा द्वारा उपस्थित होता है वह एक विशेष नायक और विशेष नायिका की प्रेमकथा आदि के रूप में व्यक्ति विशेष से सम्बद्ध होता

है। इस रूप में सामाजिक के लिए उसका कोई उपयोग नहीं होता है। शब्द का 'भावकत्व' व्यापार इस कथा में परिष्कार कर उसमें से व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध को हटाकर उसका 'साधारणीकरण' कर देता है। उस साधारणीकरण के बाद सामाजिक का उस कथा के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। अपनी रुचि या संस्कार के अनुरूप सामाजिक उस कथा का एक पात्र स्वयं बन जाता है। इस प्रकार असली नायक–नायिका आदि की जो स्थिति उस कथा में थी, 'साधारणीकरण' व्यापार के द्वारा सामाजिक को लगभग वही स्थान मिल जाता है। यह शब्द के 'भावकत्व'; नामक दूसरे व्यापार का प्रभाव हुआ।

भट्टनायक के मत में इस 'भावकत्व' व्यापार से काव्यार्थ का 'साधारणीकरण' हो जाता है तब शब्द का 'भोजकत्व' नाकम तीसरा व्यापार सामाजिक को रस का साक्षात्कारात्मक 'भोग' करवाता है। यही भट्टनायक का 'भोजकत्व' सिद्धान्त है, जो 'भुक्तिवाद' कहलाता है। इस प्रकार भट्टनायक ने शब्द में अभिधा, लक्षणा आदि के अतिरिक्त 'भावकत्व' तथा 'भोजकत्व' रूप दो नवीन व्यापारों की कल्पना कर सामाजिक की रसानुभूति का उपपादन करने का प्रयत्न किया है। आचार्य मम्मट ने उनके सिद्धान्त का उल्लेख इस प्रकार किया है –

न तटस्थ रूप से (अर्थात् नटगत या अनुकार्यगत रूप से) रस की प्रतीति (अर्थात् अनुमिति) होती है और न उत्पत्ति होती है (क्योंकि तटस्थगत रस की उत्पत्ति या अनुमिति मानने से सामाजिक को रस का आस्वादन नहीं हो सकता है) और न सामाजिकगत रूप से (आत्मगतत्वेन रस की) अभिव्यक्ति होती है (क्योंकि 'अभिव्यक्ति' सदा पूर्व से विद्यमान अर्थ की होती है। रस केवल अनुभूति स्वरूप ही है। अनभति से भिन्न काल में उसकी स्थिति नहीं है। इस प्रकार 'नोत्पद्यते' से भट्टलोल्लट के मत का, 'न प्रतीयते' से श्री शंकुक के मत का तथा 'नाभिव्यज्यते' पद वसे आगे दिखाये जाने वाले अभिनवगुप्त के मत का, सब का ही निराकरण कर दिया गया है। तब भट्टनायक के मत में सामाजिक को रसास्वादन कैसे होता है यह आगे बतलाते हैं। अपितु काव्य अथवा नाटक में (शब्द के) अभिधा (तथा लक्षणा) से भिन्न विभावादि के

साधारणीकरण स्वरूप 'भावकत्व' नामक व्यापार से (विशेष सीता–राम आदि के सम्बन्ध के बिना 'भाव्यमानः' अर्थात्) साधारणीकृत (रत्यादि) स्थायिभाव (योगाभ्यास आदि काल में) सत्त्व (गुण) के उद्रेक से (ब्रह्मानन्द सदृश) प्रकाश और आनन्दमय अनुभूति की (वेद्यान्तर–सम्पर्क–शून्य रूप से) स्थिति के सदृश (अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कारजन्य आनन्दानुभूति के सदृश) भोग से (अर्थात् शब्द के 'भोजकत्व' नामक व्यापार से 'भुज्यते' अर्थात्) आस्वादित किया जाता है यह भट्टनायक का मत है। (इस मत में सूत्र के 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ 'भुक्ति' है और 'संयोग' का अर्थ 'भोज्य–भोजकभाव सम्बन्ध' है)। भट्टनायक के इस 'भुक्तिवाद' को व्याख्याकारों ने सांख्यमतनुयायी सिद्धान्त माना है। इस सिद्धान्त को सांख्य–सिद्धान्त का अनुगामी इस रूप में कहा जा सकता है कि जैसे सांख्य में सुख–दुःख आदि वस्तुतः अन्तःकरण के धर्म है, आत्मा के धर्म नहीं, परन्तु पुरुष का अन्तःकरण के साथ सम्बन्ध होने से पुरुष में उनकी औपाधिक प्रतीति होती है, उसी प्रकार सामाजिक में न रहने वाले रस का भोग उसको होता है इस सादृश्य के आधार पर ही इस सिद्धान्त को सांख्य–सिद्धान्त का अनुगामी कहा जा सकता है।

भट्टनायक के मत में कमी

भट्टनायक ने अपनी इस प्रक्रिया द्वारा सामाजिकगत रसानुभूति के उपपादन का अच्छा प्रयत्न किया है। पर उसमें उन्होंने शब्द में 'भावकत्व' तथा 'भोजकत्व' नामक जिन दो नवीन–व्यापारों की कल्पना की है वे अनुभवसिद्ध नहीं हैं और जिस स्थायिभाव का 'भोग' बतलाया है वह राम–सीतादिगत स्थायिभाव है या नटगत या सामाजिकगत, इसका भी स्पष्टीकरण नहीं हुआ है। इसलिए मुख्य रूप से अप्रामाणिक 'भोजकत्व' व्यापार पर आश्रित होने से भट्टनायक का 'भुक्तिवाद' विद्वानों में आदर प्राप्त न कर सकता।

4.अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेभ्यासपाटववतां काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्त्वादलौकिक विभावादिशब्दव्यावहार्य्यैर्ममैवैते, शत्रोरेवैते, तटस्थस्यैवैते, नममैवैते,नशत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते, इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मकतया स्थितः स्थायी रत्यादि को निपयमप्रमातृगतत्वेनस्थितोपि साधारणोपायबलात्तत्कालविगलित परिमितप्रमातृभाव वशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्र सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकार इवाभि"ोपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राणः, विभावादिजीवितावधिः, पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन्, सर्वाङगीणमिवालिङ्गन्, अन्यत्सर्वमिव तिरोदधद्, ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्, अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः।

सर्वप्रमुख व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने 'अभिव्यक्तिवाद' की स्थापना की है। जिस प्रकार भट्टलोल्लट ने उत्तरमीमांसा के, श्री शंकुक ने न्याय के और भट्टनायक ने सांख्य के आधार पर अपने–अपने मतों की स्थापना की है, उसी प्रकार अभिनवगुप्त ने अपने पूर्ववर्ती अलङ्कारशास्त्र के प्रमुख ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन के आधार पर अपने 'अभिव्यक्तिवाद' का प्रतिपादन किया है इसलिए उनका मत आलङ्कारिक मत कहा गया है। उन्होंने स्पष्ट रूप से सामाजिकगत रसानुभूति के उपपादन के लिए दूसरे मार्ग का अवलम्बन किया है। उसमें पहली बात उन्होंने यह स्पष्ट कर दी है कि सामाजिकगत स्थायिभाव ही रसानुभूति का निमित्त होता है। मूल मनःसंवेग अर्थात् वासना या संस्कार रूप में रति आदि स्थायिभाव सामाजिक की आत्मा में स्थित रहता है। वह साधारणीकृत रूप से उपस्थित विभावादि–सामग्री से अभिव्यक्त या उद्बुद्ध हो जाता है और तन्मयीभाव के कारण वेद्यान्तर के सम्पर्क से शून्य ब्रह्मास्वाद के सदृश परमानन्द रूप में अनुभूत होता है। इस मत में भट्टनायक के समान शब्द में 'भावकत्व' तथा 'भोजकत्व' रूप दो व्यापारों की कल्पना नहीं की गयी है, परन्तु 'भावकत्व' व्यापार के स्थान पर 'साधारणीकरण' व्यापार, अभिधा तथा लक्षणा के साथ शब्द की 'व्यञ्जना' नामक तृतीय वृत्ति मानी गयी है। अभिनवगुप्त के इस सिद्धान्त को मम्मट के काव्यप्रकाश में निम्नलिखित रूप से प्रस्तुत किया है –

लोक में प्रमदा आदि (अर्थात् प्रमदा, उद्यान, कटाक्ष आदि विभाव, अनुभावादि के देखने) से (उन प्रमदादि में रहने वाले रति आदि रूप) स्थायी (भावों) के अनुमान करने में निपुण सहृदयों का, काव्य तथा नाटक में कारणत्व (कार्यत्व तथा सहकारित्व) आदि को छोड़कर विभावन आदि व्यापार (रत्यादीनाम् आस्वादयोग्यतानयनरूपाविर्भावनं विभावनम् अर्थात् रत्यादि को आस्वाद योग्य रूप प्रदान करना 'विभावन व्यापार' कहलाता है आदि पद से 'अनुभावन' तथा 'व्यभिचारण' व्यापार का भी संग्रह होता है। इस प्रकार के आस्वाद योग्य रत्यादि को 'अनुभवविषयकरणनुभावनम्' अनुभव का विषय बनाना 'अनुभावन' तथा 'काये विशेषेण अभितः रत्यादीनां सञ्चारणं व्यभिचारणम्' शरीर में रति आदि के प्रभाव का सञ्चारण 'व्यभिचारण' व्यापार) से युक्त होने से विभावादि शब्दों से व्यवहार्य उन्हीं (प्रमदादि रूप कारण, कार्य, सहकारियों) से (जो) 'ये मेरे ही हैं' या 'शत्रु के ही हैं' या 'तटस्थ के ही है' अथवा 'ये न मेरे ही हैं', 'न शत्रु के ही हैं' और 'न तटस्थ के ही हैं' इस प्रकार के सम्बन्ध विशेष का स्वीकार अथवा परिहार करने के नियम का निश्चय न होने से साधारण (अर्थात् विशेष व्यक्ति के सम्बन्ध से रहित) रूप से प्रतीत होने वाले (उन विभावादि) से ही अभिव्यक्त होने वाला और सामाजिकों में वासना रूप से विद्यमान रति आदि स्थायी (भाव) नियत प्रमाता (अर्थात् विशिष्ट एक सामाजिक) में स्थित होने पर भी साधारणोपाय (अर्थात् व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध के बिना

प्रतीत होने वाले विभावादि) के बल से उसी (रसानुभव के) काल में (मैं ही इसका आस्वादनकर्ता हूँ, या ये विभावादि मेरे ही हैं, इस प्रकार के व्यक्तिगत भावनाओं रूप) परिमित प्रमातृ भाव के नष्ट हो जाने से वेद्यान्तर के सम्पर्क से शून्य और अपरिमित प्रमातृभाव जिसमें उदित हो गया है इस प्रकार के (प्रमाता) सामाजिक के द्वारा समस्त (सामाजिकों के) हृदयों के साथ समान रूप से (व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध से रहित साधारण्य से) अपनी आत्मा के समान (आस्वाद से) अभिन्न होने पर भी, (आस्वाद का) विषय होकर, (अर्थात् जैसे आत्म–साक्षात्कार में चिद् रूप से अभिन्न आत्मा को भी साक्षात्कार का 'विषय' माना जाता है, इसी प्रकार रसानुभूति में अनुभूति से अभिन्न होने पर भी रस को ('विषय' कहा जा सकता है), आस्वाद मात्र स्वरूप (चर्व्यमाणतैकप्राणः), विभावादि की स्थितिपर्यन्त ही रहने वाला, (इलायची, कालीमिर्च, शक्कर, इमली, आम आदि को मिलाकर तैयार किये गये प्रपाणक अर्थात्) पने के रस के समान (अर्थात् प्रपाणक की घटक सामग्री के रस से विलक्षण रस के समान) आस्वाद्यमान, साक्षात् प्रतीत होता हुआ सा, हृदय में प्रविष्ट होता हुआ सा, समस्त अङ्गों का आलिङ्गनकरता हुआ सा, अन्य सब को तिरोभूत करता हुआ सा,ब्रह्मसाक्षात्कार का अनुभव कराता हुआ सा, अलौकिक आनन्द को प्रदान करने वाला (चमत्कारी) शृङ्गार आदि 'रस' होता है। यह अभिनवगुप्त का मत है और यह आलङ्कारिकों का सिद्धान्त माना जाता है।

रस के अलौकिकता की सिद्धि

अभिनवगुप्त ने यहाँ रस को 'अलौकिक' कहा है, अर्थात् वह लौकिक अन्य वस्तुओं से भिन्न प्रकार का है। उसकी इस अलौकिकता का उपपादन ग्रन्थकार ने अगले अनुच्छेद में किया है। लोक में पायी जाने वाली अनित्य वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं – एक 'कार्य' रूप और दूसरी 'ज्ञाप्य' रूप। घट, पट आदि 'कार्य' पदार्थ हैं। ये किसी कारण से उत्पन्न होते हैं इसलिए 'कार्य' कहलाते हैं और इनका जनक 'कारण' या 'कारक' कहलाता है। दूसरे प्रकार से ये पदार्थ ज्ञान के 'विषय' या 'ज्ञाप्य' होते हैं; जैसे दीपक के प्रकाश से घट का ज्ञान होता है इसलिए दीपक के द्वारा घट 'ज्ञाप्य' ह। पूर्वसिद्ध पदार्थ का जब किसी साधन के द्वारा ज्ञान होता है तो वह पदार्थ 'ज्ञाप्य' कहलाता है और जो पदार्थ पूर्वसिद्ध नहीं है, कारण के व्यापार के बाद उसकी उत्पत्ति होती है वह 'कार्य' कहलाता है। संसार के सारे अनित्य पदार्थ 'कार्य' और 'ज्ञाप्य' दो वर्गों में ही अवश्य अन्तर्भूत हो जाते हैं। परन्तु रस को न 'कार्य' कहा जा सकता है और न 'ज्ञाप्य'। 'कार्य' तो इसलिए नहीं हो सकता है कि 'कार्य' पदार्थ अपने निमित्त का नाश हो जाने पर भी बने रहते हैं; जैसे, कुम्हार का बनाया हुआ घड़ा कुम्हार के मर जाने के बाद भी बना रह सकता है। यदि रस को 'कार्य' माना जाय तो उसके निमित्तकारण विभावादि ही होंगे। इसलिए विभावादि का नाश हो जाने के बाद भी उसकी प्रतीति होनी चाहिये। परन्तु विभावादि के नाश के बाद रस की प्रतीति नहीं होती है। इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार ने 'विभावादिजीवितावधिः' इस विशेषण का प्रयोग ऊपर किया है। इसलिए रस को 'कार्य' नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार रस 'ज्ञाप्य' भी नहीं है, क्योंकि 'ज्ञाप्य' पदार्थ ज्ञान होने के पूर्व भी विद्यमान होता है और बाद को भी विद्यमान रहता है। परन्तु रस की सत्ता न अनुभव से पूर्व काल में रहती है और न अनुभव के बाद। जब तक रस की अनुभूति होती है तब तक ही उसकी सत्ता रहती है। इसलिए वह 'कार्य' तथा 'ज्ञाप्य' दोनों प्रकार के लौकिक पदार्थों से भिन्न है। इसी कारण रस 'अलौकिक' कहा जाता है ।

अलौकिकता की दूसरी युक्ति

एक प्रश्न उपस्थित होता है कि आप रस को न 'कार्य' मानते हैं और न 'ज्ञाप्य'। फिर भी यह कह रहे हैं कि वह विभावादि से व्यञ्जित होकर चर्वण योग्य होता है। ये दोनों बातें कैसे सङ्गत हो सकती हैं। क्योंकि संसार में दो ही प्रकार के कारण होते हैं, एक 'कारक' दूसरे 'ज्ञापक'। जब रस 'कार्य' नहीं है तो उसका कोई

'कारक' हेतु नहीं हो सकता है और इसके 'ज्ञाप्य' न होने से उसका कोई 'ज्ञापक' हेतु भी नहीं हो सकता है। इन 'कारक' तथा 'ज्ञापक' हेतुओं के अतिरिक्त और कोई तीसरा हेतु होता ही नहीं है तो विभावादि रस के 'व्यञ्जक' कैसे हो सकते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर ग्रन्थकार यह देते हैं कि इसीलिए तो हम रस को 'अलौकिक' कहते हैं। लोक में जो 'कारक' तथा 'ज्ञापक' दो प्रकार के हेतु पाये जाते हैं, रस के 'व्यञ्जक' हेतु विभावादि उन दोनों से विलक्षण अतएव 'अलौकिक' हैं। इसलिए यह अलौकिकत्व सिद्धि का भूषण है, दूषण नहीं। पहले ही यह कहा गया था कि रस न 'कार्य' है न 'ज्ञाप्य', इससे रस की अलौकिकता सिद्ध होती है। इस बार यह कहा है कि रस का हेतु न 'कारक' हेतु है, न 'ज्ञापक' हेतु। यह हेतु की अलौकिकता को सिद्ध करता है। इस प्रकार हेतु की अलौकिकता से भी रस की अलौकिकता सिद्ध हो जाती है।

अभ्यास प्रश्न

1–प्रश्न–शृङ्गार रस से किसकी उत्पत्ति होती है?
2–प्रश्न–रौद्र रस से किस रस की उत्पत्ति होती है?
3–प्रश्न–रसानुभूति के कारणों को क्या कहते हैं?
4–प्रश्न–'भुक्तिवाद' को व्याख्याकारों ने किस सिद्धान्त को माना है?
5–प्रश्न–'अभिनवगुप्त ने किसकी स्थापना की है।

1.4 सारांश

इस इकाई में रसोत्पत्तिवाद विभिन्नमतों का सांगोपांग वर्णन किया गया है। काव्यप्रकाश' का यह प्रकरण साहित्यशास्त्र के इतिहास में सामाजिक गत रसनिष्पत्ति के सिद्धान्त का द्योतक है। भरत सूत्र की व्याख्या में जो अनेक मत पाये जाते हैं उनका संग्रह काव्यप्रकाशकार ने बड़ी सुन्दरता के साथ किया है। यह प्रकरण यद्यपि काव्यप्रकाशकार ने 'अभिनवभारती' से लिया है, परन्तु उन्होंने 'अभिनवभारती' के अत्यन्त विस्तृत एवं जटिल विवेचन को संक्षिप्त एवं अपेक्षाकृत सरल रूप में प्रस्तुत करने का यत्न किया है। इन मतों में से अभिनवगुप्तपादाचार्य द्वारा प्रतिपादित मत ही काव्यप्रकाशकार का अभिमत सिद्धान्त पक्ष है।

1.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
व्याघ्रादयो	व्याघ्र आदि
विभावा	विभाव
भयानकस्येव	भयानक ही
शृङ्गारस्येव	शृङ्गार ही
करुणभयानकयोः	करुण और भयानक
चिन्तादयो	चिन्ता आदि
व्यभिचारिणः	व्यभिचारी
कारणैः	कारणों से
प्रकाशयन	प्रकाशित करते हुए
लोके यः	लोक में जो
काव्यनाट्ययोः	काव्य और नाटक का

1.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उत्तर – शृङ्गार रस से हास्य की उत्पत्ति होती है।
उत्तर – रौद्र रस से करुण रस की उत्पत्ति होती है।
उत्तर – रसानुभूति के कारणों को 'विभाव' कहते हैं।

उत्तर – 'भुक्तिवाद' को व्याख्याकारों ने सांख्यमतानुयायी सिद्धान्त को माना है।
उत्तर – अभिनवगुप्त ने 'अभिव्यक्तिवाद' की स्थापना की है।

1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1–ग्रन्थ नाम	लेखक	प्रकाशक
शिवराजविजय	अम्बिकादत्तव्यास	चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी
2–संस्कृत साहित्य का इतिहास .	बलदेव उपाध्याय	प्रकाशक शारदा निकेतन वी, कस्तुरवानगर सिगरा वाराणसी भारती वाराणसी

3–काव्यप्रकाश आचार्य मम्मट चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी

1.8 उपयोगी पुस्तकें

4–काव्यप्रकाश	आचार्य मम्मट	चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी

1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. शृङ्गार रस के विषय में परिचय दीजिये ।
2.अभिव्यक्तिवाद की व्याख्या कीजिए।
3.शंकुक के मत की विवेचना कीजिए।

इकाई 2.रस भेद ,उदाहरण सहित ज्ञान

इकाई की रूप रेखा

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 रस भेद, उदाहरण सहित ज्ञान
2.4 सारांश
2.5 शब्दावली
2.6 अभ्यासार्थ प्रश्न – उत्तर
2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.8 उपयोगी पुस्तके
2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

काव्यशास्त्र से सम्बन्धित खण्ड दो की दूसरी इकाई है। इस झाकई के अध्ययन से आप बता सकते हैं कि साहित्य में रस के कितने भेद बताये गये है। काव्य और नाटक में अलग – अलग रूप से रस भेदों के कहा गया है ! साहित्य जगत में मूलतः काव्य के लिये नौ रसों की संकल्पना है किन्तु नाटकों के लिये अति प्रसि'द्ध विचारकों ने भी आठ ही रस माने हैं ।

सबसे पहले भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में आठ रसों को स्थान दिया जो नाटकों में प्रयुक्त होते हैं । परवर्ती आचार्यों ने काव्य की सीमा में शान्तोऽपि नवमो रसः की बात स्वीकार किया है, और अष्टौ नाट्ये रसास्मृताः को माना । जो संकल्पना आचार्य भरत की थी उसी का प्रतिपद अनुकरण करके आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में रस भेदों का निरूपण किया, जो इस इकाई में आपके अध्ययनार्थ प्रस्तुत है ।

अतः प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप काव्य और नाटक में अलग – अलग रसों के प्रयोग और इनके महत्व को समझा सकेगें ।

2.2 उद्देश्य

रस भेद के वर्णन से सम्बन्धित इस इकाई का सम्यक् अध्ययन कर लेने के बाद आप–

- रस भेद को बता सकेगें ।
- काव्य और नाटक में किन – किन रसों का प्रयोग होता है, इसे समझाा सकेगें।
- किस रस से किस रस की उत्पत्ति होती है यह भी बतायेगें ।
- आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में रसों का निरूपण किस आधार पर किया है यह भी समझा सकेगें ।
- रसों की महत्ता बता सकेगें ।
- रसों की परिभाषायें और इनके उदाहरण भी समझा सकेगें ।

2.3 रसभेद, उदाहरण सहित ज्ञान

(सू0 44) शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।।29।।

रस के (आठ) भेद –

(सूत्र 44) –1. शृङ्गार, 2. हास्य, 3. करुण, 4. रौद्र, 5. वीर, 6. भयानक, 7. वीभत्स और 8. अद्भुत , नाट्य में ये आठ रस माने जाते हैं।। 29 ।।

रसों का यही विशेष क्रम क्यों रखा गया है ? इसका उत्तर यह है कि उक्त कारिका मूल रूप से भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की है। मम्मट ने इसे भरत के नाट्यशास्त्र अ. 6–16 से ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है। इसमें विशेषतः नाट्यगत आठ रसों का क्रमशः उद्देश अर्थात् नाम मात्र से कथन किया गया है। भरतमुनि ने इन आठों रसों का जो इस विशेष क्रम से कथन किया है उसका विशेष प्रयोजन है। इसे स्पष्ट करने के लिए 'अभिनवभारती' में अभिनवगुप्त ने लिखा है –

तत्र कामस्य सकलजातिसुलभतयात्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान् प्रति हृद्यतेति पूर्व शृङ्गारः। तदनुगामी च हास्यः। निरपेक्षभावत्वात् तद्विपरीतस्ततः करुणः। ततस्तन्निमित्तं रौद्रः। स चार्थप्रधानः। ततः कामार्थयोर्धर्ममूलत्वाद्वीरः सहिधर्मप्रधानः। तस्य च भीताभयप्रदानसारत्वात्। तदन्तरं भयानकः। तद्विभावसाधारण्यसम्भावनात्ततो वीभत्सः। वीरस्य पर्यन्तेद्भुतः। यद्वीरेण आक्षिप्तं फलमित्यनन्तरं तदुपादानम्।तथा चवक्ष्यते –'पर्यन्ते कर्त्तव्यो नित्यं रसोद्भुतः' इति। ततस्त्रिवर्गात्मकप्रवृत्तिधर्मविपरीतनिवृत्तिधर्मात्मको मोक्षफलः शान्तः। तत्र स्वात्मावेशेन रसचर्वणा।

अर्थात् रति या काम न केवल मनुष्य–जाति में अपितु सभी जातियों में मुख्य प्रवृत्ति के रूप में पाया जाता है और सबको उसके प्रति आकर्षण होता है, इसलिए सबसे पहिले शृङ्गार को स्थान दिया गया है। हास्य शृङ्गार का अनुगामी है, इसलिए शृङ्गार के बाद हास्य रस को स्थान दिया गया है। सम्भोग शृङ्गार में नायक –नायिका का मिलन होता है इसलिए एक –दूसरे की अपेक्षा रहती है। विप्रलम्भशृङ्गार में भी दोनों को मिलन की आशा रहती है, अतः वे दोनों सापेक्ष आशामय रस हैं।

करुण रस की स्थिति हास्य से विपरीत है। इसलिए हास्य के बाद करुण रस को स्थान दिया गया है। अपने प्रियतम बन्धु के वास्तविक विनाश या भ्रमवश ही उसके विनाश का निश्चय हो जाने के बाद करुण रस की सीमा प्रारम्भ होती है, उसमें पुनर्मिलन की आशा नहीं रहती है। अतएव करुण रस नैराश्यमय होने से निरपेक्ष–रस माना जाता है। भवभूति ने 'तटस्थं नैराश्यात्' कहकर करुण रस के निराशात्मक स्वरूप को सूचित किया है। अतः आशामय सापेक्ष भाव से विपरीत नैराश्यमय–निरपेक्ष रस होने से शृंगार और उसके अनुगामी हास्य के बाद करुण रस को रखा गया है। करुण रस की सीमा मरण के बाद प्रारम्भ होती है। मरण का सम्बन्ध प्रायः रौद्र रस से होता है। इसलिए करुण रस का निमित्त रूप होने से करुण के बाद उससे सम्बद्ध रौद्र रस को स्थान दिया गया है। रौद्र रस अर्थ प्रधान होता है। काम और अर्थ के धर्ममूलक होने से रौद्र रस के बाद वीर रस रखा गया है। यह धर्मप्रधान होता है। वीर रस का मुख्य कार्य भयभीतों को अभय प्रदान करना है। इसलिए वीर के साथ उसके विरोधी भयानक रस को स्थान दिया गया है। उस भयानक रस के समान ही वीभत्स रस के विभाव होते हैं। क्योंकि वीर रस के प्रभाव से ही वीभत्स दृश्य उपस्थित होते हैं, इसलिए भयानक के बाद वीभत्स रस को रखा गया है। वीर के बाद में अद्‌भुत होता है। इसीलिए आगे कहा जायेगा कि अन्त में सदा अद्‌भुत रस को स्थान देना चाहिये। इसलिए वीर के बाद अद्‌भुत रस को रखा गया है। उसके बाद धर्म–अर्थ–काम–रूप त्रिवर्ग के साधनभूत प्रवृत्ति धर्मों से विपरीत निवृत्ति धर्म प्रधान और मोक्षफल वाला शान्तरस आता है। यद्यपि शान्त रस की गणना यहाँ नहीं की गयी है, परन्तु काव्य में शान्तरस भी माना जाता है। इसलिए सबसे अन्त में उसको स्थान दिया जा सकता है।

शान्त रस की स्थिति

शान्त रस की स्थिति के विषय में न केवल आधुनिक विद्वानों में, किन्तु प्रचीन विद्वानों में भी, मतभेद पाया जाता है। इस मतभेद का मुख्य आधार भरतमुनि का यह 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' (6–16) श्लोक ही है। उसी को यहाँ काव्यप्रकाशकार ने भी रसों की संख्या का निरूपण करते हुए उद्‌धृत किया है। भरत के इसी वचन के आधार पर प्राचीन आचार्यों में महाकवि कालिदास, अमरसिंह, भामह और दण्डी आदि ने भी नाटक के आठ ही रसों का उल्लेख किया है तथा शान्त रस का प्रतिपादन नहीं किया है। इसके विपरीत उद्भट, आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त ने स्पष्ट रूप से शान्त रस का प्रतिपादन किया है। बड़ौदा से प्रकाशित 'अभिनवभारती' व्याख्या से युक्त भरत–नाट्य शास्त्र के द्वितीय संस्करण के सम्पादक श्री रामस्वामी शास्त्री शिरोमणि ने लिखा है कि शान्त रस की स्थापना सबसे पहिले भरत–नाट्यशास्त्र के टीकाकार उद्भटने अपने 'काव्यालङ्कारसंग्रह' नामक ग्रन्थ में की है। उसके बाद आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त आदि ने उनका समर्थन किया है। उद्भट के पहिले शान्त रस की कोई सत्ता नहीं मानी जाती थी। भरत–नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में भी शान्त रस का वर्णन पाया जाता है, परन्तु उसके विरोध में उक्त सम्पादक महोदय का मत है कि वह प्रक्षिप्त या बाद का बढ़ाया हुआ है। इस अंश को प्रक्षिप्त मानने के लिए उन्होंने दो हेतु दिये हैं। पहिला हेतु तो यह है कि भरतमुनि ने पहिले आठ ही रसों का उल्लेख किया है तब बाद में नवम रस का वर्णन उनके ग्रन्थ में नहीं होना चाहिये था। अतः यह अंश प्रक्षिप्त है। उनकी युक्ति यह है कि शान्त रस वाला यह प्रकरण 'नाट्यशास्त्र' की कुछ पाण्डुलिपियों में नहीं पाया जाता है। इसलिए वे इसको प्रक्षिप्त मानते हैं और शान्त रस

की सत्ता न मानने वाले पक्ष के समर्थक हैं।

प्राचीन आचार्यों में शान्त रस के सबसे प्रबल विरोधी धनञ्जय और धनिक हैं। 'दशरूपक' तथा उसकी टीका, दोनों में बड़ी प्रौढ़ता के साथ शान्त रस का खण्डन किया गया है। उनके मत में नाट्य में आठ ही रस होते हैं। इसका अर्थ यह है कि नाट्य में शान्त रस होता ही नहीं है। शान्त रस को नाट्य में स्थान न दिये जाने का कारण उसका अनभिनेयत्व है। जैसा कि अभी कहा है, शान्त रस निवृत्ति प्रधान है। अभिनय में प्रवृत्ति का प्राधान्य होता है। निवृत्ति का अभिनय नहीं किया जा सकता है। इसलिए अभिनय के उपयोगी न होने से अभिनय प्रधान नाट्य में शान्त रस को स्थान नहीं दिया जाता है। इसकी चर्चा करते हुए 'दशरूपक' के टीकाकार ने कुछ विस्तार के साथ इस प्रकार विवेचन किया है –

'शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।
निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम्।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः।।'

'इह शान्तरसं प्रति वादिनामनेकविधा विप्रतिपत्तयः। केचिदाहुः–नास्त्येव शान्तो रसः, तस्याचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनाल्लक्षणाकरणात्। अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभावं वर्णयन्ति, अनादिकालप्रवाहायातरागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात्। अन्ये तु वीरवीभत्सादावन्तर्भावं वर्णयन्ति। यथा तथा अस्तु। सर्वथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते। तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याभिनयायोगात्।यत्तु कैश्चिन्नागा नन्दादौ शमस्य स्थायित्वमुपवर्णितम्, तत्तु मलयवत्यनुरागेण आप्रबन्धप्रवृत्तेन विद्याधर चक्रवर्तित्वप्राप्त्या च विरुद्धम्। नह्येकांनुकार्यविभावालम्बनौ विषयानुरागापरागावुपलब्धौ। अतो दयावीरोत्साहस्यैव तत्र स्थायित्वम्।विरुद्वाविरुद्धाविच्छेदित्वस्य निर्वेदादीनामभावादस्थायित्वम्। अत एव ते चिन्तादिस्वस्व व्यभिचार्यन्तरिता अपि परिपोषं नीयमाना वैरस्यमावहन्ति।' (दशरूपक 4/35, 36)

इसका अभिप्राय यह है कि शान्त रस को रस अथवा उसके स्थायिभाव शम को स्थायिभाव मानने में कई प्रकार के मतभेद पाये जाते हैं। उनमें एक मत यह है कि भरतमुनि ने उसके अनुभाव आदि का वर्णन नहीं किया है तथा उसका लक्षण नहीं किया है अतः शान्तरस नहीं है। दूसरा मत यह है कि वास्तम में शान्त रस बन ही नहीं सकता है। क्योंकि अनादि काल से चले आये रागद्वेष के संस्कारों का सर्वथा नाश नहीं किया जा सकता है। इसलिए निर्वेदरूप स्थायिभाव तथा शान्त रस का उपपादन नहीं किया जा सकता है। तीसरे विचारकों का मत है कि वीर, वीभत्स आदि रसों में उसका अन्तर्भाव किया जा सकता है। इन तीन मतों का उल्लेख करने के बाद ग्रन्थकार कहते हैं कि इनमें कोई मत भी ठीक हो, हमें उसका विचार नहीं करना है। हमारा कहना तो यह है कि नाट्य में शम को स्थायिभाव नहीं माना जा सकता, क्योंकि समस्त व्यापारों के निवृत्तिरूप शम का अभिनय नहीं किया जा सकता है, इसलिए अभिनय प्रधान नाट्य में शान्त रस को स्थान नहीं दिया जा सकता है।

कुछ का यह मानना है कि यदि नाटक में शान्त रस का अभिनय नहीं हो सकता है, तो शान्त रस प्रधान 'नागानन्द' आदि नाटकों की रचना कैसे हुई ? उसका उत्तर दशरूपककार ने यह दिया है कि 'नागानन्द' में शान्त रस मानना उचित नहीं है, क्योंकि उसमें नायक का मलयवती के प्रति अनुराग का वर्णन सारे नाटक में पाया जाता है और अन्त में उसको विद्याधरों के चक्रवर्ती राजा होने का अवसर प्राप्त होता है। इसलिए 'नागानन्द' का मुख्य रस शान्त रस नहीं है। अपितु दयावीर का उत्साह उसका स्थायिभाव है और वीररस की उसमें प्रधानता है। वीर रस केवल युद्धप्रधान ही नहीं है, उसका स्थायिभाव उत्साह है। वह उत्साह जैसे युद्ध के लिए हो सकता है उसी प्रकार दया और धर्म के प्रति भी हो सकता है। इसलिए 'नागानन्द' में दया–वीर प्रधान रस है; शान्त रस नहीं।

किन्तु 'दशरूपक' के इस सारे विवेचन से केवल इतना ही सिद्ध है कि नाट्य में शान्त रस की उपयोगिता नहीं है। उससे शान्त रस का सर्वथा अभाव नहीं माना जा सकता है। विशेषकर इस अवस्था में जब कि आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त, दोनों ने बड़े

विस्तार के साथ शान्त रस की स्थापना की है। 'अभिनवभारती' में अभिनवगुप्त ने लगभग सौ पृष्ठों में अत्यन्त विस्तार के साथ शान्त रस का विवेचन किया है। आनन्दवर्धन ने भी 'ध्वन्यालोक' पृष्ठ 465 (दिल्ली–संस्करण) में 'महाभारत' का मुख्य रस शान्तरस माना है। इस प्रकार इन दोनों आचार्यों ने शान्त रस का प्रबल समर्थन किया है। इसके अतिरिक्त भरतसूत्र के टीकाकार भट्टनायक ने भी शान्तरस की सत्ता स्वीकार की है। इसका परिचय 'अभिनवभारती' के प्रथम श्लोक की व्याख्या के प्रसङ्ग में भट्टनायक कृत व्याख्या के उद्धृत भाग से प्राप्त होता है। पृष्ठ 35 (दिल्ली–संस्करण) पर 'शान्तरसोपक्षेपोयं भविष्यति' यह भट्टनायक का वचन अभिनवगुप्त ने उद्धृत किया है। इन लेखों से यह स्पष्ट होता है कि भरत–नाट्यशास्त्र के भट्टोद्भट, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त आदि सभी टीकाकार शान्त रस की स्थिति मानते हैं।

भक्तिरस

इन नौ रसों के अतिरिक्त कुछ लोग भक्ति रस को भी अलग रस मानते हैं। इसकी स्थापना साहित्यिक क्षेत्र में न होकर धार्मिक क्षेत्र में हुई है। साहित्यशास्त्र में इसकी गणना देवादि विषयक रति के रूप में भावों में की गयी है। उसे रस नहीं माना है। किन्तु गौडीय वैष्णव उसको अलग रस ही नहीं, अपितु सर्वश्रेष्ठ रस मानते हैं। रूप गोस्वामी ने अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक ग्रन्थों में भक्तिरस का प्रतिपादन बड़े विस्तार के साथ किया है। वे देवता विषयक रति को तो साहित्यशास्त्रियों के समान 'भाव' ही कहते हैं, किन्तु भक्तिरस का स्थायिभाव केवल श्री कृष्ण विषयक रति को मानते हैं। श्री कृष्ण देवता नहीं अपितु साक्षात् भगवान् हैं। इसलिए तद्विषयक रति देव विषयक रति से सर्वथा भिन्न है। इसीलिए 'भक्तिरस' 'भाव' के अन्तर्गत नहीं अपितु स्वतन्त्र रस है, ऐसा उनका मत है। भक्तिरस के उदाहरण के रूप में 'पद्माकर' के निम्नलिखित पद्य को जो काव्यप्रकाश में है ,उसे उद्धृत किया जा सकता है –

व्याधहुँ ते बेहद असाधु हौं अजामिल लौं,
ग्राह ते गुनाही, कैसे तिनको गिनाओगे,
स्योरी हौं न शूद्र, नहीं केवट कहीं को त्यौं,
न गौतमी–तिया जापै पग धरि आओगे,
रामसौं कहत पद्माकर पुकारि पुनि,
मेरे महा पापन को पार न पाओगे।
झूठो ही कलंक सुनि सीता जैसी सती तजी नाथ,
हौं तो साँचो ही कलङ्की ताहि कैसे अपनाओगे।

इस पद्य में कवि भगवान् के सामने अपने अपराधों को स्वीकार करता है और क्षमा की याचना के अभिप्राय से विनती कर रहा है। भगवान् राम आलम्बन–विभाव हैं तथा भगद्विषयक रति स्थायिभाव है।

वात्सल्यरस

कुछ आचार्यों ने 'वात्सल्यरस' को भी अलग रस माना है। साहित्यशास्त्र के आचार्यों में साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने विशेषतया स्वतन्त्र रस के रूप में वात्सल्य रस को प्रतिष्ठित किया है। हिन्दी कवियों में तुलसी तथा सूर की रचनाओं में इस रस का विशेष प्रभाव दिखलायी देता है। इसके उदाहरण के रूप में निम्नलिखित पद्य प्रस्तुत किया जा सकता है –

कबहूँ ससि माँगत आरि करैं, कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं,
कबहूँ करताल बजाइके नाचत, मातु सबै मन मोद भरैं।
कबहूँरिसिआय कहैं हठिकै, पुनि लेत वही जेहि लागि अरैं,
अवधेसके बालक चारि सदा, तुलसी मन मन्दिर में बिहरैं।।

छोटों के प्रति स्नेह इसका स्थायिभाव है। छोटे बालक आलम्बन–विभाव, बालकों की

तोतली बोली, सौन्दर्य, क्रीड़ा आदि उद्दीपन और स्नेह से गोद में ले लेना, आलिङ्गन, चुम्बन आदि व्यभिचारिभाव हैं।

मूलरस

यद्यपि विभिन्न आचार्यों ने आठ से लेकर ग्यारह तक रसों की संख्या मानी है, किन्तु इनमें भी अनेक आचार्यों ने प्रधानता और अप्रधानता की दृष्टि से अलग–अलग मूल रसों की कल्पना की है। स्वयं भरतमुनि आठ रसों में से शृङ्गार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स इन चार रसों को प्रधान मानकर शेष चार रसों की उत्पत्ति इन चार रसों से ही होती है इस बात का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं –

शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिः वीभत्साच्च भयानकः।।
शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु प्रकीर्तितः।
रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः।।
वीरस्यापि च यत्कर्म सोद्भुतः परिकीर्तितः।
वीभत्सदर्शनं यत्र ज्ञेयः स त भयानकः।।

एकरसवादी मत

अपनी–अपनी दृष्टि से किसी एक ही विशेष रस को मूल रस मानने की प्रवृत्ति भी साहित्यशास्त्र में पायी जाती है। इस विषय में निम्नलिखित मतों को उद्धृत किया जा सकता है।

(1) महाकवि भवभूति ने करुण रस को एकमात्र रस बतलाते हुए अपने करुणरस प्रधान नाटक 'उत्तमरामचरितम्' में लिखा है –

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्।।

(2) भोजराज ने (12वीं शता0) अपने 'शृङ्गारप्रकाश' नामक ग्रन्थ में शृङ्गार रस को ही एकमात्र मूल रस बतलाते हुए लिखा है –

शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य–
वीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं तु
शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः।।

(3) साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने अपने पूर्वज नारायण पण्डित के केवल अद्भुत रस को ही मूल रस मानने का उल्लेख करते हुए लिखा है –

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वात् सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।।
तस्माददद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।

(4) अभिनवगुप्त ने शान्त रस को ही एकमात्र मूल रस प्रतिपादन करते हुए 'अभिनवभारती' में लिखा है –

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते।।

आगे ग्रन्थकार इन सारे रसों के उदाहरण देंगे। इन उदाहरणों के साथ उस रस का परिचय देने के लिए उसके लक्षण आदि का वर्णन कर दिया जाता तो अच्छा होता, परन्तु काव्यप्रकाशकार ने उसको बिलकुल छोड़कर उदाहरण मात्र दे दिये हैं। 'साहित्यदर्पण' में नाट्यशास्त्र के आधार पर रसों का अच्छा परिचय दिया गया है।

रसों की सुख–दुःखरूपता रसों की अलौकिकता के साथ उनकी सुख–दुःखरूपता का प्रश्न भी प्राचीन साहित्यशात्रियों के लिए एक विवेचनीय प्रश्न रहा है। इस विषय में

प्रायः तीन प्रकार के मत पाये जाते हैं। धनिक, धनञ्जय और विश्वनाथ आदि, सभी रसों को नितान्त सुख रूप मानते हैं। इन लोगों ने करुण रस को भी सर्वथा सुखात्मक रस माना है। विश्वनाथ ने इसका प्रतिपादन करते हुए लिखा है –

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।।
किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोपि स्यात् तदुन्मुखः।
तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता।।सा0 द0 3–4, 5।।

विश्वनाथ आदि के सुखात्मतावाद के विपरीत अभिनवगुप्त ने प्रत्येक रस को उभयात्मक रस माना है, अर्थात् प्रत्येक रस में सुख और दुःख दोनों का समावेश रहता है, किन्तु इनमें से शृङ्गार, हास्य, वीर तथा अद्भुत इन चार रसों में सुख की प्रधानता के साथ दुःख का अनुवेध रहता है। इसके विपरीत रौद्र, भयानक, करुण तथा वीभत्स इन चार रसों में दुःख की प्रधानता के साथ सुख का आंशिक अनुवेध रहता है। केवल शान्त रस को उन्होंने सर्वथा सुखात्मक रस माना है। इस विषय का प्रतिपादन अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में विस्तारपूर्वक किया है।

शृङ्गार रस और उसके भेद

रसों में से शृङ्गार के दो भेद होते हैं–(1) सम्भोग (शृङ्गार) और (2) विप्रलम्भ। उनमें से पहिला (अर्थात् सम्भोग शृङ्गार) परस्पर अवलोकन, आलिङ्गन, अधरपान, चुम्बन आदि अनन्त प्रकार का असंख्येय हो जाता है, इसलिए उसके भेदों की गणना सम्भव न होने से एक ही गिना जाता है।

यथा –

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छन–
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वण्य पत्युर्मुखम्।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता।।30।।

तथा –

त्वं मुगधाक्षि विनैव कञ्चुलिकया धत्से मनोहारिणीं
लक्ष्मीमित्याभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि।
शय्योपान्तनिविष्टसस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दितो
निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः।।31।।

पति के बराबर अलग पलंग पर लेटी हुई नवोढ़ा नायिका ने वासगृह अर्थात् अपने लेटने के कमरे को शून्य (अर्थात् सखियों से खाली) देखकर अपनी खाट पर से तनिक–सा उठकर और नींद का बहाना कर के लेटे हुए पति के मुख को बहुत देर तक देखकर (ये सो रहे हैं ऐसा समझकर) निश्शंक भाव से चुम्बन कर लेने से उसके) पति के कपोल पर (प्रसन्नताजन्य) रोमाञ्च देखकर नायिका यह समझ गयी कि वे जग रहे थे। इसलिए उसका मुख लज्जा से झुक गया। उस लज्जा से नम्र मुखवाली बाला को (पकड़कर) हँसते हुए प्रियतम (नायक) ने बहुत देर तक चुम्बन किया।।30।।

यह सम्भोग शृङ्गार रस का उदाहरण है। नायक इसका आलम्बन है, शून्य वासगृह, उद्दीपन विभाव है। मुख–निर्वर्णन, चुम्बनादि अनुभाव तथा लज्जा, हास तथा उससे व्यङ्ग्य हर्षादि व्यभिचारिभाव हैं। रति स्थायिभाव है। उससे सामाजिक को रस की चर्वणा होती है। साहित्यशास्त्र में पहिले नारी के अनुराग का वर्णन उचित माना गया है। (पूर्व रक्ता भवेन्नारी पुमान् पश्चात्तदिङ्गितैः) इसी सिद्धान्त के अनुसार यहाँ सम्भोग शृङ्गार का यह उदाहरण दिया गया है। इसमें नायिका की प्रथम अनुरक्ति दिखलायी गयी है। आचार्य मम्मट ने यह पद्य 'अमरुकशतक' से लिया है। हिन्दी के महाकवि बिहारी ने अमरुक के इस पद्य का छायानुवाद एक दोहे में इस प्रकार किया गया है –

हौं मिसहा सोयो समुझि मुख चूम्यो ढिग जाय।
हस्यों, खिसानी, गर गह्यो, रही गले लपटाय।।

अमरुक के इस लम्बे पद्य के भाव को दोहे के छोटे से कलेवर में भरकर बिहारी ने अपने अद्‌भुत कौशल का परिचय दिया है। इसीलिए बिहारी के दोहे के विषय में कहा गया है –

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे लगें घाव करें गम्भीर।।

अपरस्तु अभिलाषविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पञ्चविधः।

दूसरा (अर्थात् विप्रलम्भ शृङ्‌गार) अभिलाष, ईर्ष्या, विरह, प्रवास तथा शाप (रूप पाँच प्रकार के हेतुओं) से होने के कारण पाँच प्रकार का होता है।क्रमशः उदाहरण दिये जा रहे हैं ।

क्रमेणोदाहरणम् –

प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्‌गाढरागोदया–
स्तास्ता मग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि।
यास्वन्तःकरणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधी (क्षणा–
दाशंसापरिकल्पितास्वपि भवत्यानन्दसान्द्रो लयः।।32।।

इस उदाहरण में प्रेम, प्रणय तथा परिचय शब्दों का प्रयोग किया गया है। वे सब लगभग एक अर्थ के वाचक हैं। किन्तु उनमें थोड़ा–थोड़ा भेद समझना चाहिये, अन्यथा पुनरुक्ति हो जायेगी। 'यह मेरा है मैं इसका हूँ' इस प्रकार का पक्षपात विशेष 'प्रेम' कहलाता है। परस्पर अवलोकनादि से जो प्रेम प्रकर्ष को प्राप्त हो जाता है, जिसमें किसी एक के अनेक अपराध करने पर भी कमी नहीं आती है, उस प्रकार के अविरल प्रेम को 'प्रणय' शब्द से सूचित किया गया है और अधिक काल तक साथ रहने से जो प्रणय की दृढ़ता होती है उसे 'परिचय' शब्द से सूचित किया गया है।

उस सुन्दर नेत्रोंवाली मालती की प्रेम से सनी हुई, प्रणय का स्पर्श करने वाली तथा परिचय के कारण उद्‌गाढ़ (अर्थात् गुरुजन आदि के प्रतिबन्ध की भी चिन्ता न करने वाले) अनुराग से भरी हुई इस प्रकार की वे भावपूर्ण चेष्टाएँ मेरे प्रति हों, जिनकी (इस समय अपने मन में) कल्पना करने पर भी तत्क्षण बाह्य इन्द्रियों को व्यापार शून्य बना देने वाला अन्तःकरण का आनन्दमय लय–सा हो जाता है (अर्थात् जिन चेष्टाओं की कल्पना मात्र से इस समय सब–कुछ सुध–बुध भूलकर मन आनन्द सागर में लीन हो जाता है)।।32।।

अन्यत्र व्रजतीति का खलु कथा नाप्यस्य तादृक् सुहृद्
यो मां नेच्छति नागतश्च हह हा कोयं विधेः प्रक्रमः।
इत्यल्पेतरकल्पनाकवलितस्वान्ता निशान्तान्तरे
वाला वृत्तविवर्तनव्यतिकरा नाप्नोति निद्रां निशि।।33।।

एषा विरहोत्कण्ठिता।

सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं बिना
नो जानाति सविभ्रमाङ्‌गवलनावक्रोक्तिसंसूचनम्।
स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलालकैरश्रुभिः।।34।।

यह विप्रलम्भ शृङ्‌गार के अभिलाष या पूर्व राग भेद का उदाहरण है। इसके बाद विरह या समागम के बाद गुरुजनों की लज्जा आदि के कारण समागम में विलम्ब होने पर विकलता का प्रदर्शन कराने वाला उदाहरण देते हैं। इसमें रात को नायक के आगमन की प्रतीक्षा में खाट पर लेटी हुई नायिका की विकलावस्था या विरह का वर्णन किया गया है। नायिका कह रही है –

वे कहीं और (किसी अन्य स्त्री के पास) चले गये हैं, यह तो (कुत्सित कथा) कुविचार है। (ऐसा तो कभी सम्भव हो ही नहीं सकता है। शायद किसी मित्र के कहने से कहीं चले गये हों यह शङ्‌का भी नहीं बनती है क्योंकि) उनका ऐसा कोई मित्र भी नहीं है जो मुझको न चाहता हो (अर्थात् मेरा अहित चिन्तन करता हो और उनको बहकाकर कहीं ले जाय), फिर भी वे (अब तक) आये नहीं, यह भाग्य का कैसा खेल है! इस प्रकार की अनेक कल्पनाओं के हृदय में व्याप्त हो जाने से वह बिचारी (बाला) करवटें

बदलती हुई (वृत्तः सञ्जातः विवर्तानां पार्श्वपरिवर्तनानां व्यतिकरः सम्बन्धः समूहो वा यस्याः सा वृत्तविवर्तनव्यतिकरा) रात को सो नहीं पा रही है।।33।।

(अधिक रात तक गुरुजन आदि के पास बैठे रहने के कारण, सङ्कोचवश उसका पति उसके पास नहीं आ रहा है। इसलिए) यह विरहोत्कण्ठिता है।

इसके आगे ईर्ष्या हेतुक विप्रलम्भशृङ्गार का तीसरा उदाहरण 'अमरुकशतक' में से देते हैं। इसमें किसी नवोढ़ा की सखी उसकी अवस्था को किसी अन्य सखी को सुनाकर कह रही है–

वह पति के (अन्य स्त्री प्रसङ्ग रूप) प्रथम अपराध के समय सखियों के बतलाये बिना हाव–भाव से अङ्ग को चलाकर वक्रोक्तियों से उलहना देना नहीं जानती है। इसलिए खुले हुए और चञ्चल अलकों से उपलक्षित और (पर्यस्तनेत्रोत्पला परितः अस्ते क्षिप्ते नेत्रोत्पले यया सा पर्यस्तनेत्रोत्पला अर्थात्) आँखों को इधर–उधर करती हुई वह बिचारी (बाला) स्वच्छ गालों के किनारे से आँसू टपकाती हुई केवल रोती ही रहती है।।34।।

नायक के परस्त्री के सम्बन्ध को देखकर उत्पन्न ईर्ष्या के कारण यह विप्रलम्भशृङ्गार का उदाहरण दिया गया है। आगे प्रवास हेतुक विप्रलम्भशृङ्गार उदाहरण देते हैं। यह श्लोक भी 'अमरुकशतक' से ही लिया गया है। किसी स्त्री का पति गुरुजनों के आदेश आदि के कारण दीर्घ–प्रवास पर विदेश जा रहा है। यह समाचार सुनकर वह अपने जीवन को सम्बोधन करके कह रही है –

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः।
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवित! प्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते।।35।।
त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया–
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः।।36।।

हे जीवन (हे प्राणो), प्रियतम के (प्रवास पर) जाने का निश्चय कर लेने पर कङ्कण पहिले ही चल दिये (अर्थात् मेरे शरीर में दुर्बलता आ जाने से कङ्कणों ने अपना स्थान छोड़ दिया और ढीले पड़ कर नीचे गिर गये हैं) और प्रिये को प्यार करने वाले आँसू तब से ही निरन्तर बहे जा रहे हैं। धृति तनिक देर भी नहीं रुकी और चित्त ने आगे–आगे जाने का निश्चय कर लिया है। हे प्राणों! तुम्हें भी जाना ही है, तब प्रिय मित्र का साथ छोड़ रही हो (तुम भी शरीर से निकल चलो)।।35।।

यह प्रवास हेतुक विप्रलम्भशृङ्गार का उदाहरण दिया। आगे शाप हेतुक विप्रलम्भशृङ्गार का उदाहरण कालिदास के 'मेघदूत' से लिया गया है।

अर्थात् पत्थर की शिला पर गेरू आदि धातु के रङ्गों से तुम्हारा चित्र बनाकर मैं जब तक (चित्र में) अपने को तुम्हारे चरणों में गिरा हुआ करना चाहता हूँ, तब तक आँसू फिर बढ़कर मेरी दृष्टि को आच्छादित कर लेते हैं। (और मैं उस चित्र को पूर्ण नहीं कर पाता हूँ)। निष्ठुर 'दैव' उस (चित्र) में भी हमारे सङ्गम को सहन नहीं करता है।।36।।

इस प्रकार सम्भोगशृङ्गार के दो भेद और विप्रलम्भशृङ्गार के पाँचों भेदों के पाँच, कुल मिलाकर शृङ्गार के सात उदाहरण यहाँ दिखलाये गये हैं। अब शेष हास्य आदि रसों का एक–एक उदाहरण आगे दिया गया है।

हास्य रस का उदाहरण

हास्यादीनां क्रमेणोदाहरणम्–

आकुञ्च्य पाणिमशुचिं मम मूर्ध्नि वेश्या
मन्त्राम्भसां प्रतिपदं पृषतैः पवित्रे
तारस्वनं प्रथितथूत्कमदात् प्रहारं
हा हा हतोहमिति रोदिति विष्णुशर्मा।।37।।

अर्थात् वेश्या ने अपने अपवित्र हाथ को सिकोड़ कर (मुट्ठी बाँधकर) जोर से थूत्कार

करते हुए मन्त्रों के (द्वारा अभिमन्त्रित) जल–बिन्दुओं से प्रतिपद पवित्र किये हुए मेरे शिर पर प्रहार किया है, हाय–हाय मार डाला यह कहकर विष्णुशर्मा रो रहा है।।37।।
यह हास्य रस का उदाहरण दिया गया है।इसमें विष्णुशर्मा की दशा को देखकर सबको हँसी आती है।

करुणरस का उदाहरण

आगे कम्ण रस का उदाहरण देते हैं। यह श्लोक कहाँ का है इसका ठीक पता नहीं है। जयन्त भट्ट के अनुसार कश्मीर की राजमाता के मरने पर भट्ट नारायण के विलाप का यह वर्णन है। महेश्वर का यह कथन है कि मदालसा के जलकर मर जाने पर यह पुरवासिनी स्त्रियों का विलाप है।

हा मातस्त्वरितासि कुत्र किमिदं हा देवताः क्वाशिषः
धिक् प्राणान् पतितोशनिर्हुतवहस्तेङ्गेषु दग्धे दृशौ।
इत्थं घर्घरमध्यरुद्धकरुणाः पौराङ्गनानां गिर–
श्चित्रस्थानपि रोदयन्ति शतधा कुर्वन्ति भित्तीरपि।।38।।

अर्थात् हे माता इतनी जल्दी हमको छोड़कर तुम कहाँ चली गयी। अकस्मात् वज्रपात के समान यह क्या हुआ। देवताओं की इतनी पूजा करने वाली भी इस प्रकार चली गयी और देवता उसको बचा नहीं सके इसलिए हा देवताओं, आपकी भक्ति का क्या मूल्य रहा। हे ब्राह्मणो, आप प्रतिदिन उनको चिरञ्जीवी होने का आशीर्वाद देते थे। पर आपके आशीर्वाद कहाँ चले गये। और उनके चले जाने के बाद भी अब तक बने रहने वाले हमारे इन प्राणों को धिक्कार है। तुम्हारे अन्त्येष्टि संस्कार के समय अग्नि वज्र बनकर तुम्हारे शरीर पर गिरा और तुम्हारे (शरीर के साथ सुन्दर तथा स्नेह एवं दया से पूर्ण नेत्र भी भस्म हो गये। इस प्रकार उच्च स्वर से रोने के कारण भर्राती हुई बीच–बीच में रुक जाती हुई पुरवासिनी स्त्रियों की करुण–ध्वनि, चित्र में अङ्कित (नर, नारी आदि) को भी रुला रही है और भित्तियों के भी टुकड़े करे डालती है।।38।।
इस उदाहरण में मृत राजमाता आलम्बन–विभाव, उसका दाहादि उद्दीपन–विभाव, रोदन अनुभाव, दैन्य, ग्लानि मूर्च्छा आदि व्यभिचारिभाव हैं। उस सब सामग्री के द्वारा अभिव्यक्त होकर करुणरस सामाजिक के आस्वाद का विषय बनता है।

करुण तथा विप्रलम्भशृङ्गार का भेद

करुण तथा विप्रलम्भशृङ्गार की सीमा अलग–अलग है। भ्रम की सम्भावना मुख्यतः प्रेमियों के वियोग की अवस्थाओं में रहती है। प्रेमियों का वियोग दो प्रकार का हो सकता है – 1. स्थायी वियोग, 2. अस्थायी वियोग। दोनों प्रेमियों के जीवन काल में जो वियोग किसी भी कारण होता है वह अस्थायी वियोग होता है और वह विप्रलम्भ–शृङ्गार की सीमा में आता हैं किन्तु दोनों प्रेमियों में से किसी एक की मृत्यु हो जाने पर जो वियोग होता है, उसमें मिलने की कोई आशा या सम्भावना नहीं रहती है। इसीलिए वह स्थायी वियोग होता है। वह करुणरस की सीमाओं में आता है। इस प्रकार जहाँ तक प्रेमियों के वियोग का सम्बन्ध है, उसमें विप्रलम्भशृङ्गार तथा करुण रस की सीमा रेखा 'मृत्यु' है। मृत्यु से पूर्व तक विप्रलम्भशृङ्गार और मृत्यु के बाद करुण रस का क्षेत्र आता है।
संस्कृत काव्यों तथा नाटकों में ऐसे प्रसङ्ग भी पाये जाते हैं जहाँ दो प्रेमियों में से किसी एक की मृत्यु हो जाने पर भी उसका मिलन हो जाता है। कुछ इस प्रकार के उदाहरण भी पाये जाते हैं जिनमें वस्तुतः किसी की मृत्यु होती तो नहीं है, परन्तु समझ ली जाती है। ये दोनों प्रकार के स्थल भी करुण रस के क्षेत्र में माने जाते हैं। कुछ लोगों ने मृत्यु के बाद फिर समागम होने की स्थिति में करुणविप्रलम्भ नाम से विप्रलम्भ के एक अलग भेद की कल्पना की है, जैसा कि साहित्यदर्पणकार कहते हैं –

यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।

विमनायते यदैकस्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भः।।

इस प्रकार का उदाहरण बाणभट्ट की 'कादम्बरी' में पुण्डरीक तथा महाश्वेता के वृत्तान्त में मिलता है। पुण्डरीक के मर जाने के बाद महाश्वेता और कपिञ्जल आदि विलाप कर रहे हैं। इसी बीच में कोई दिव्य ज्योति आकर पुण्डरीक के मृत शरीर को उठा ले जाती है और महाश्वेता को आश्वासन दे जाती है कि तुम्हारा इससे फिर मिलन होगा। इसमें आकाशवाणी के पूर्व का महाश्वेता आदि का जो विलाप है वह स्पष्ट ही करुणा रस है। उसके बाद मिलन की आशा हो जाने से विप्रलम्भ कहा जा सकता है। इसीलिए इसके लिए 'करुण–विप्रलम्भ' नाम का प्रयोग इन लोगों के द्वारा किया गया है।

मम्मट आदि अन्य आचार्यों ने 'करुणविप्रलम्भ' नामक शृङ्गार का कोई भेद नहीं माना है। उनके मत में यह करुण रस की सीमा के ही अन्तर्गत है। हाँ, आकाशवाणी के पश्चात् उसे कथञ्चित् विप्रलम्भ माना जा सकता है। परन्तु यह उदाहरण केवल कवि की कल्पना मात्र है। यथार्थ में तो अन्त तक करुण ही रह सकता है। क्योंकि व्यवहार में ऐसा तभी हो सकता है जब वास्तव में मृत्यु न हुई हो, पर समझ ली गयी हो। ऐसे स्थल पर पुनर्मिलन एकदम अप्रत्याशित रूप से ही होता है इसलिए करुण रस की मर्यादा रहती है और आकस्मिक पुनर्मिलन पर अद्‌भुत रस का उदय हो जाता है। इस प्रकार के उदाहरण, जिनमें मृत्यु नहीं हुई है परन्तु मृत्यु समझ ली गयी है, संस्कृत–साहित्य में अनेक पाये जाते हैं। महाकवि भवभूति का 'उत्तर–रामचरित' नाटक इसका सबसे सुन्दर उदाहरण है। रामचन्द्र के आदेश से लक्ष्मण गर्भवती सीता को वाल्मीकि के आश्रम के पास जङ्गल में छोड़ आये हैं। उसके बाद रामचन्द्र ने, उनको जङ्गली जानवरों ने खा डाला होगा, ऐसा समझ लिया है। 'उत्तर–रामचरित' के करुण रस को सर्वोत्तम स्वरूप प्रदान करने वाला रामचन्द्र का वह करुण विलाप है, जिसने पत्थरों को भी रुलाया है–**'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्'**। ये सब उसी धारणा पर अवलम्बित है और इसीलिए 'उत्तररामचरित' करुण रस प्रधान नाटक माना गया है। पहिले सीता हरण के बाद भी सीता और राम का वियोग हुआ था, पर वह करुण नहीं अपितु विप्रलम्भर का ही उदाहरण है, क्योंकि उससे रामचन्द्र को सीता से मिलने की आशा थी। 'उत्तररामचरित' में रामचन्द्र ने स्वयं इन दोनों वियोगों का अन्तर इस प्रकार से बतलाया है–

उपायानां भावादविरलविनोदव्यतिकरैः
विमर्देर्वीराणां जनितजगदत्यद्‌भुतरसः।
वियोगो मुग्धाक्ष्याः स खलु रिपुघातावधिरभूत्
कटुस्तूष्णीं सह्यो निरवधिरयं तु प्रविलयः।।

पहिला वियोग रिपुघात पर्यन्त रहने वाला था इसलिए वह विप्रलम्भशृङ्गार का उदाहरण था पर यह दूसरी बार का वियोग 'निरवधिरयं तु प्रविलयः' है इसलिए वह करुण रस का उदाहरण है।

करुण तथा विप्रलम्भशृङ्गार का भेद दिखलाते हुए साहित्यदर्पणकार ने लिखा है –

शोकस्थायितया भिन्नो विप्रलम्भदयं रसः।
विप्रलम्भे रतिः स्थायी पुनः सम्भोगहेतुकः।।

अर्थात् करुण रस का स्थायिभाव 'शोक' होता है और विप्रलम्भशृङ्गार का स्थायिभाव 'रति' होता है, क्योंकि उसमें पुनर्मिलन की आशा बनी रहती है।

भरतमुनि ने विप्रलम्भ को 'सापेक्ष' अर्थात् आशामय और करुण को 'निरपेक्ष' अर्थात् निराशामय रस कह कर उनका भेद बताया है–

करुणस्तु शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविभवनाश–वध–बन्धसमुत्थो 'निरपेक्षभावः'। औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः 'सापेक्षभावो' विप्रलम्भकृतः। एवमन्यः करुणोन्यश्च विप्रलम्भ इति।

यहाँ 'सापेक्ष' और 'निरपेक्ष' शब्दों का अर्थ क्रमशः 'आशामय' तथा 'नैराश्यमय' करना चाहिये। विप्रलम्भ में पुनर्मिलन की आशा बनी रहने से दुःखमय होने पर भी उसमें जीवन का आशामय दृष्टि बिन्दु बना रहता है। परन्तु करुण रस में पुनर्मिलन की कोई

सम्भावना न रहने से निराशमय दृष्टिकोण हो जाता है। करुण के इसी नैराश्यमय रूप को भवभूति ने 'तटस्थं नैराश्यात्' कह कर व्यक्त किया है। यहाँ 'तटस्थ' शब्द 'निराशामय' निरपेक्षभाव को सूचित करता है। इसलिए करुण और विप्रलम्भ की सीमा अलग–अलग है।

रौद्र रस का उदाहरण

काव्यप्रकाशकार रौद्र रस का उदाहरण 'वेणीसंहार' नाटक के तृतीय अङ्क से देते हैं। द्रोणाचार्य का निर्दयतापूर्वक अनुचित ढंग से वध किये जाने का समाचार जब अश्वत्थामा को मिला तो अपने पिता और कौरव–पाण्डव सब के आचार्य के इस प्रकार अपमानपूर्वक सिर काटे जाने से क्रुद्ध होकर वह कह रहा है –

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः।
नरकरिपुणा सार्धं सभीमकिरीटिना–
मयमहमसृङ्नेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम्।।39।।

हाथ में शस्त्र लिये हुए (उदायुधैः) 'मर्यादा का पालन न करने वाले' नरपशुओं के सदृश जिन आप लोगों ने (आचार्य द्रोण का शिरश्छेदन रूप) यह महान् पातक किया है, अथवा (कृष्ण आदि जिन्होंने उसका) अनुमोदन किया है, अथवा (भीम, अर्जुन आदि जिन्होंने धृष्टद्युम्न को रोकने का) यत्न न करके खड़े–खड़े प्रसन्नतापूर्वक (इस पाप को) देखा है, (नरकासुर के शत्रु) कृष्ण, भीत तथा अर्जुन के सहित उन (धृष्टद्युम्न आदि) के रक्त, चर्बी और मांस से मैं अभी दिशाओं की बलि (पूजन) करता हूँ।।39।।

इस उदाहरण में 'पशुभिः' इस पद से बलिदान–योग्यता सूचित होती है, 'उदायुधैः' इस पद से उनके प्रतीकार करने में समर्थ होने पर भी प्रतीकार न करने से अत्यन्त दण्डनीयत्व सूचित होता है। कर्त्ता, अनुमन्ता और द्रष्टा के अपराध में क्रमशः न्यूनता होती है इसलिए दण्डनीयता के क्रम से इनका उपादान किया गया है। इस दृष्टि से पहले कर्त्ता धृष्टद्युम्न का नाम लेना चाहिये था, परन्तु क्रोधातिशय में क्रम भूलकर पहले नरकरिपु कृष्ण का नाम लिया गया है। इस श्लोक का अर्थ तो रौद्ररस के अनुरूप है, परन्तु उसकी शब्द रचना रौद्र रस के अनुरूप नहीं बन पड़ी है। इससे कवि की अशक्ति द्योतित होती है।

वीर रस का उदाहरण

'हनुमन्नाटक' के एकादश अङ्क से वीर रस का उदाहरण लिया गया हैं। लङ्का–युद्ध के समय इन्द्रजित् की यह उक्ति है–

क्षुद्राः संत्रासमेते विजहत हरयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भा
युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः।
सौमित्रे! तिष्ठ पात्रं त्वमसि नहि रुषां नन्वहं मेघनादः
किञ्चिद्भ्रूभङ्गलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि।।40।।

अर्थात् अरे क्षुद्र बन्दरो, तुम मत डरो, (क्योंकि इन्द्र के हाथी) ऐरावत के गण्डस्थल का भेदन करने वाले मेरे ये बाण तुम्हारे शरीर पर गिरने में लज्जा का अनुभव करते हैं इसलिए तुम मत डरो, तुम्हारे ऊपर इनका प्रहार नहीं होगा, हे लक्ष्मण, तुम भी हट जाओ, तुम मेरे क्रोध के योग्य नहीं हो, जानते हो, मैं मेघनाद हूँ, मैं तु लोगों से क्या लडूँगा मैं तो तनिक–सी भौंहे टेढ़ी करने मात्र से समुद्र को वश में कर लेने वाले राम को खोज रहा हूँ।। 40।।

इस उदाहरण में राम आलम्बन विभाव हैं, उनके द्वारा समुद्रबन्धन उद्दीपन–विभाव, क्षुद्र वान आदि की उपेक्षा और परम प्रतापशाली राम का अन्वेषण अनुभाव, ऐरावत के गण्डस्थल के भेदन की स्मृति और 'बाण लज्जित होते हैं' इससे गम्य गर्व व्यभिचारिभाव है। राम से लड़ने का 'उत्साह' स्थायिभाव है। कुछ आचार्यों ने युद्धवीर, दानवीर और

दयावीर भेद से वीर रस के तीन भेद किये हैं।

'स च वीरो दानवीरो धर्मवीरो युद्धवीरो दयावीरश्चेति चतुर्विधः' लिखकर साहित्य–दर्पणकार ने तीन के स्थान पर चार प्रकार का वीर रस माना है। उनमें से दानवीर बलि आदि, दयावीर जीमूतवाहन आदि और धर्मवीर युधिष्ठिर आदि प्रसिद्ध हैं।

भयानक रस का उदाहरण

शाकुन्तलम् नाटक के प्रथम अङ्क से भयानक रस का उदाहरण प्रस्तुत है। राजा दुष्यन्त शिकार के लिए निकले हैं। एक मृग के पीछे उनका रथ दौड़ रहा है और भय के कारण वह मृग अपनी सारी शक्ति से आगे–आगे भाग रहा है। उस समय राजा दुष्यन्त अपने सारथि से मृग के भागने की दशाओं का वर्णन कर रहे हैं –

ग्रीवाभङ्गाभिराम मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्द्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुवर्यां प्रयाति।।41।।

अर्थात् देखो यह मृग ,सुन्दरता के साथ गर्दन घुमाकर पीछे आते हुए (हमारे) रथ पर बार–बार दृष्टि डालता हुआ, और बाण लगने के भय से अपने पीछे के आधे शरीर को अगले शरीर में घुसेड़ते हुए थक जाने से (हाँफते हुए) खुले हुए मुख से आधे खाये हुए तृणों की पृथिवी पर गिराता हुआ, देखो, यह हरिण (लम्बी–लम्बी छलाँगें मारने के कारण मानो) आकाश में अधिक और पृथिवी पर कम चलता है।।41।।

इस उदाहरण में पीछा करने वाला राजा या उसका रथ आलम्बन, बाण लगने का भय और अनुसरण उद्दीपन, गर्दन मोड़ना और भागना आदि अनुभाव और त्रास, श्रम आदि व्यभिचारिभाव है। 'शरपतनभयात्' में भय पद का उपादान करने से स्थायिभाव की स्वशब्दवाच्यता का दोष नहीं आता है, क्योंकि शरपतन–भय वहाँ 'स्थायिभाव नहीं, केवल उद्दीपन है। राजा से उत्पन्न भय स्थायिभाव है।

हिन्दी के निम्नलिखित पद्य को भयानक रस के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है–

रानी अकुलानी सब डाढ़त परानी जाहिं,
सकैं न विलोकि वेष केसरी किसोर को।
मीति–मीजि हाथ धुनि माथ दसमाथ–तिय
'तुलसी' तिलौ न भयो बाहिर अगार को।
सब असबाब डरौं मैं न काढ़ो तैं न काढ़ो
जियकी परी सँभार, सहन भंडारको।
खीजति मँदोवै सविषाद देखि मेघनाद
बयो लुनियत सब याही दाढ़ीजार को।।

प्रस्तुत उदाहरण में हनुमान्जी लङ्का को जला रहे हैं। लङ्का को जलती देखकर मन्दोदरी का भय स्थायिभाव है। हनुमान् आलम्बन–विभाव है। हनुमान् का भयानक वेष, घर, असबाब का जलना उद्दीपन–विभाव है। घबड़ाकर भागना, हाथ मींजना, माथा पीटना, असबाब को घर से काढ़ने के लिए तू–तू––मैं–मैं करता आदि अनुभाव हैं। विषाद, चिन्ता आदि सञ्चारिभाव हैं।

वीभत्स रस का उदाहरण

'मालतीमाधव' के पञ्चम अंक से वीभत्स रस का उदाहरण ग्रहण किया गया है। श्मशान में किसी प्रेत को मांस भक्षण में लगा हुआ देखकर माधव उसकी वीभत्स चेष्टाओं का वर्णन इस प्रकार कर रहा है–

उत्कृत्योकृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसा
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्ड्याद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा।
आर्त्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्क करङ्का–

दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्य मव्यग्रमत्ति।। 42।।
पहले खाल को उखाड़–उखाड़कर कन्धे, नितम्ब, पीठ, पिंडली आदि अवयवों में ऊँचे उभरे हुए अधिक मात्रा में उपलब्ध, भयंकर –दुर्गन्ध युक्त सड़े हुए मांस को खा चुकने के बाद, दूसरा छीन न ले इस दृष्टि से चारों ओर देखता हुआ, और दाँत निकाले हुए, भूखा, दरिद्र प्रेत गोद में रखे हुए मुर्दे के हड्डी के भीतर लगे हुए और गढ़ों में स्थित **क्रव्य** ,कच्चे मांस को भी धीरे–धीरे खा रहा है।। 42।।

इस उदाहरण में दरिद्र प्रेत आलम्बन, खाल को उखाड़ना और मांस का खाना उद्दीपन, उसको देखने वाले का नाक बन्द करना, मुँह फेर लेना, थूकना आदि अनुभाव और उद्वेग आदि व्यभिचारिभाव हैं। 'जुगुप्सा' स्थायिभाव है। अतः यहाॅ सामाजिक में जुगुप्सा होने से 'वीभत्स' रस अभिव्यक्त होता है।

अभ्यास प्रश्न –

1–प्रश्न–नाट्य शास्त्र में कितने रस माने जाते हैं।
2–प्रश्न–सम्भोगशृङ्गार के कितने भेद होते हैं।
3–प्रश्न– आकस्मिक पुनर्मिलन पर किस रस का उदय हो जाता है।
4–प्रश्न– करुण रस का स्थायिभाव क्या होता है
5–प्रश्न– विप्रलम्भ शृङ्गार का स्थायिभाव क्या होता है

2.4 सारांश

इस इकाई में रसभेद उदाहरण सहित ज्ञान वर्णन किया गया है। 1. शृङ्गार, 2. हास्य, 3. करुण, 4. रौद्र, 5. वीर, 6. भयानक, 7. वीभत्स और 8. अद्‌भुत–नाट्य में ये आठ रस माने जाते हैं।रसों का यह विशेष क्रम क्यों ?
यह कारिका मूल रूप से भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की कारिका है। मम्मट ने उसे भरत–नाट्यशास्त्र अ. 6–16 से ज्यों का त्यों उतार लिया है। इसमें विशेषतः नाट्यगत आठ रसों का क्रमशः उद्देश अर्थात् नाम मात्र से कथन किया है। भरतमुनि ने इन आठों रसों का जो इस विशेष क्रम से कथन किया है उसका विशेष प्रयोजन है।

2.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
अन्यत्र	दूसरा
व्रजतीति	ऐसा जाता है
नाप्यस्य	इसका भी नही
तादृक्	उसके जैसा
सुहृद्	अच्छा मित्र
यो मां नेच्छति	जो मुझको नही चहता है
नाप्नोति	नही प्राप्त होता है
निद्रां निशि	रात्रि के निद्रा को
पत्युः	पति का
प्रथमापराधसमये	प्रथम अपराध के समय में
सख्योपदेशं बिना	मित्र के उपदेश के विना

2.6– अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उत्तर –नाट्य शास्त्र में ये आठ रस माने जाते हैं।
उत्तर –सम्भोगशृङ्गार के दो भेद होते हैं।
उत्तर –आकस्मिक पुनर्मिलन पर अद्‌भुत रस का उदय हो जाता है।
उत्तर –करुण रस का स्थायिभाव 'शोक' होता है
उत्तर –विप्रलम्भशृङ्गार का स्थायिभाव 'रति' होता है

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1–ग्रन्थ नाम	लेखक	प्रकाशक
शिवराजविजय	अम्बिकादत्तव्यास	चौखम्भा संस्कृत

		भारती वाराणसी
2—संस्कृत साहित्य का इतिहास .	बलदेव उपाध्याय	प्रकाशक शारदा निकेतन वी, कस्तुरवानगर सिगरा वाराणसी
3—ग्रन्थ नाम	लेखक	प्रकाशक
किरातार्जुनीयम्	भारवि	चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी
4—काव्यप्रकाश	आचार्य मम्मट	चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी

2. 8 उपयोगी पुस्तकें

4—काव्यप्रकाश	आचार्य मम्मट	चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी

2. 9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. करुण रस का उदाहरण सहित परिचय दीजिये ।
2.हास्य रस का वर्णन कीजिए
3.रसभेद पर निबन्ध लिखिए

खण्ड .3. अलंकार वर्णन

इकाई 1.अलंकार लक्षण, क्रमिक विकास एवं संख्यात्मक विवेचन

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 अलंकार लक्षण क्रमिक विकास एवं संख्यात्मक विवेचन

1.4 सारांश

1.5 शब्दावली

1.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.8 उपयोगी पुस्तकें

1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

काव्यशास्त्र से सम्बन्धित खण्ड तीन की यह पहली इकाई है। इस झाकई के अध्ययन से आप बता सकते हैं कि काव्यशास्त्रीय परम्परा में अलंकार लक्षण क्रमिक विकास एवं संख्यात्मक विवेचन किस प्रकार हुआ । इन सबका विवेचन इस इकाई में आपके अध्ययनार्थ किया गया है।

'काव्यप्रकाश' में पॉच शब्दालंकार, 61 अर्थालंकार और 1 उभयालंकार कुल मिलाकर 67 अलंकारों का निरूपण किया गया है। परन्तु अलंकारों की संख्या भिन्न–भिन्न आचार्यों के मत में अलग–अलग पायी जाती है।

भरत के नाट्यशास्त्र में उपमा , रूपक , दीपक तथा यमक केवल इन चार ही अलंकारों का वर्णन पाया जाता है। वामन ने उनके 33 भेद दिखलाये हैं। दण्डी ने 35 प्रकार के , भामह ने 39 प्रकार के और उद्भट ने 40 प्रकार के अलंकारों का वर्णन किया है। रुद्रट ने अपने 'काव्यालंकार ' में 52 तथा काव्यप्रकाशकार ने 67 प्रकार के अलंकारों के भेद दिखलाये हैं।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप अलंकार लक्षण क्रमिक विकास एवं संख्यात्मक विवेचन से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण बातों का अध्ययन करके –

- अलंकार लक्षण के विषय में बता सकेंगे
- काव्यप्रकाश के 61 अलंकारों को बता सकेंगें
- अलंकारों की संख्या के विषय में समझा सकेंगे
- अलंकारों के वर्गीकरण के विषय में बता सकेंगे ।

1.3 अलंकार लक्षण, क्रमिक विकास एवं संख्यात्मक विवेचन

अलंकार लक्षण

काव्य प्रकाश के प्रथम उल्लास में काव्य का लक्षण करते समय अनलंकृति पुनः क्वापि' यह भी 'शब्दार्थौ' का एक विषेशण दिया गया था। उसको स्पष्ट रूप से समझने के लिए अलंकारों का निरूपण करना आवश्यक है, इसलिए इस इकाई में अलंकारों का समावेश आवश्यक हुआ। इन अलंकारों के शब्दालंकार , अर्थालंकार तथा उभयालंकार नाम से तीन भेद किये गये हैं। जो अलंकार शब्दपरिवृत्त्य सह होते हैं अर्थात् किन्ही विषेश शब्दों के रहने पर ही अलंकार रहते हैं और उन विशेष शब्दों को बदलकर यदि उनके स्थान पर उनके पर्यायवाचक दूसरे शब्द रख दिये जायें तो उन अलंकारों की स्थिति नहीं रहती है, वे अलंकार उन विषेश शब्दों के ही आश्रित होने से शब्दालंकार कहलाते हैं। और जो अलंकार शब्द परिवृत्तिसह होते हैं अर्थात् यदि उन षब्दों का परिवर्तन करके उनके समानार्थक दूसरे शब्द प्रयुक्त कर दिये जायें तो भी अलंकारों को कोई हानि नहीं होती है वे अलंकार शब्दाश्रित न होकर अर्थ के आश्रित होते हैं। इसलिए अर्थालंकार कहलाते हैं। विगत नवम् उल्लास में ग्रन्थकार ने 1.वक्रोक्ति, 2. अनुप्रास, 3.यमक, 4.ष्लेश, 5.चित्र नामक पॉच अलंकार तथा 6.पुनरुक्तवदाभास नामक उभयालंकार इन छह अलंकारों का निरूपण किया था। अब इस दशम् उल्लास में 61 प्रकार के अर्थालंकारों का निरूपण करते हैं।

अलंकारों की संख्या के विषय में मतभेदः—

इस प्रकार 'काव्यप्रकाश' में पॉच शब्दालंकार, 61 अर्थालंकार और 1 उभयालंकार कुल मिलाकर 67 अलंकारों का निरूपण किया गया है। परन्तु अलंकारों की संख्या भिन्न—भिन्न आचार्यों के मत में अलग—अलग पायी जाती है। भरत—नाट्यषास्त्र में उपमा , रूपक , दीपक तथा यमक केवल इन चार ही अलंकारों का वर्णन पाया जाता है। वामन ने उनके 33 भेद दिखलाये हैं। दण्डी ने 35 प्रकार के , भामह ने 39 प्रकार के और उद्भट ने 40 प्रकार के अलंकारों का वर्णन किया है। रुद्रट ने अपने 'काव्यालंकार में 52 तथा काव्यप्रकाषकार ने 67 प्रकार के अलंकारों के भेद दिखलाये हैं। जयदेव के ' चन्द्रलोक ' में अलंकारों की संख्या 100 हो गयी है और उनके व्याख्याकार अप्पयदीक्षित ने 'कुवलयानन्द' में उसको बढ़ाकर 124 तक पहुॅचा दिया है। इसका निम्नलिखित रूप में किया गया है —

उपमा रूपकं चैव दीपको यमकस्तथा।
चत्वार एवालंकारा भरतेन निरूपिताः।।1।।
वामनेन त्रयस्त्रिंषद् भेदास्तस्य निरूपिताः।
पन्चत्रिंषद्विधष्चायंदण्डिना प्रतिपादितः।।2।।
नवत्रिंषद्विधष्चाय भामहेन प्रकीर्तितः।
चत्वारिंषद्विधष्चैव उद्भटेन प्रदर्षितः।।3।।
द्विपन्चाषद्विधः प्रोक्तो रूद्रटेन ततः परम्।
सप्तशश्टिविधः प्रोक्तः प्रकाषे मम्मटेन च।।4।।
षतधा जयदेवेन विभक्तो दीक्षितेन च।
चतुर्विषतिभेदास्तु कृता एकषतोत्तराः।।5।।

काव्यप्रकाश ' के 61 अर्थालंकारः—

काव्यप्रकाश ' के दशम उल्लास में वर्णित 61 अर्थालंकारों के नाम इस प्रकार हैं— 1. उपमा, 2. अनन्वय, 3. उपमेयोपमा, 4. उत्प्रेक्षा, 5. ससन्देह, 6. रूपक, 7.अपह्नुति , 8. ष्लेश, 9. समासोक्ति, 10. निदर्षना, 11. अप्रस्तुतप्रषंसा, 12. अतिष्योक्ति, 13. प्रतिवस्तूपमा, 14. दृश्टान्त, 15. दीपक, 16. तुल्ययोगिता, 17. व्यतिरेक, 18. आक्षेप, 19. विभावना, 20. विषेशोक्ति, 21. यथासंख्य, 22. अर्थान्तरन्यास, 23. विरोधाभास, 24. स्वभावोक्ति, 25. व्याजस्तुति, 26. सहोक्ति, 27. विनोक्ति, 28. परिवृत्ति, 29. भाविक, 30. काव्यलिंग, 31. पर्यायोक्ति, 32. उदात्त, 33. समुच्चय, 34. पर्याय, 35. अनुमान, 36. परिकर, 37. व्याजोक्ति, 38. परिसंख्या,39. कारणमाला, 40. अन्योन्य, 41. उत्तर, 42. सूक्ष्म, 43. सार, 44. असंगति, 45. समाधि, 46. सम, 47. विशम, 48. अधिक, 49. प्रत्यनीक, 50. मीलित, 51. एकावली, 52. स्मृति, 53. भ्रान्तिमान्, 54. प्रतीप, 55. सामान्य, 56. विषेश, 57. तद्ग्रण, 58. अतद्गुण, 59. व्याघात्, 60. संसृश्टि, 61. संकर।

अलंकारों का वर्गीकरणः—

'अलंकारसर्वस्व' के निर्माता रूय्यक (बारहवीं षताब्दी का मध्य भाग) ने 67 अलंकारों का प्रतिपादन किया है और रचना शैली के आधार पर सात मुख्य भागों मे उन समस्त अलंकारों का वर्गीकरण प्राप्त होता है। इनमें प्रथम वर्ग के फिर चार अवान्तर भेद किये जाते हैं। इस प्रकार अलंकारों के 4+6+10 वर्ग बन जाते हैं। उनके नाम और उनके अन्तर्गत अलंकारों की संख्या इस प्रकार है —

1 सादृश्यमूलक अलंकार (4+6+2+17 = 29)

अ—भेदाभेद प्रधान	4
आ—आरोपमूलक अभेद प्रधान	6
इ—अध्यवसायमूलक अभेद प्रधान	2
ई—गम्य औपम्यमूलक अलंकार	17
सादृश्यमूलक अलंकार	29
2. विरोधमूलक अलंकार	11
3. श्रृंखलाबन्धमूलक अलंकार	3
4. तर्कन्यायमूलक अलंकार	2

5. वाक्यन्यायमूलक अलंकार 8
6 .लोकन्यायमूलक अलंकार 7
7. गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक अलंकार 7
सादृश्यातिरिक्तमूलक अलंकार कुल 38

इस प्रकार रूय्यक ने 67 अलंकारों का वर्गीकरण किया है। इन वर्गों मे अन्तर्भूत अलंकारों के नाम इस प्रकार हैं–

1.सादृश्यमूलक अलंकार– अ– भेदाभेद प्रधान – 1 उपमा (काव्यप्रकाश संख्या 1), 2 उपमेयोपमा (का. 3), 3 अनन्वय (का. 2), 4 स्मरण (का. 52)।

आ – आरोपमूलक अभेदप्रधान छह अलंकार– 5 रूपक , 6 परिणाम , 7 ससन्देह , 8 भ्रान्तिमान् , 9 उल्लेख , 10 अपह्नुति ,।

इ – अध्यवसायमूलक अभेदप्रधान दो अलंकार – 11 उत्प्रेक्षा , 12 अतिशयोक्ति ।

ई– गम्य औपम्यामिश्रित सादृश्यमूलक 17 अलंकार – 13 तुल्योगिता , 14 दीपक , 15 प्रतिवस्तूपमा , 16 दृष्टान्त , 17 निदर्शना , 18 व्यतिरेक , 19 सहोक्ति, 20 विनोक्ति , 21 समासोक्ति , 22 परिकर, 23 परिकरांकुर , 24 श्लेश , 25 अप्रस्तुतप्रशंसा , 26 अर्थान्तरन्यास , 27 पर्यायोक्ति , 28 व्याजस्तुति , 29 आक्षेप ,।

2.विरोधमूलक ग्यारह अलंकार– 30 विरोध , 31 विभावना , 32 विषेशोक्ति , 33 असंगति , 34 विषम , 35 सम , 36 विचित्र , 37 अधिक , 38 अन्योन्य , 39 विषेश), 40 व्याघात ,।

3.श्रृंखलाबन्धकमूलक तीन अलंकार – 41 कारणमाला , 42 एकावली, 43 सार, ।

4.तर्कन्यायमूलक दो अलंकार – 44 काव्यलिंग , 45 अनुमान ,।

5.वाक्यन्यायमूलक आठ अलंकार– 46 यथासंख्य, 47 पर्याय , 48 परिवृत्ति , 49 परिसंख्या , 50 अर्थापति , 51 विकल्प , 52 समुच्चय , 53 समाधि ,।

6.लोकन्यायमूलक सात अलंकार– 54 प्रत्यनीक , 55 प्रतीप , 56 मीलित , 57 सामान्य , 58 तद्गुण , 59 अतद्गुण , 60 उत्तर ,।

7.गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक सात अलंकार – 61 सूक्ष्म , 62 व्याजोक्ति , 63 वक्रोक्ति , 64 स्वभावोक्ति , 65 भाविक , 66 संसृष्टि , 67 संकर ,।

इस प्रकार अलंकार सर्वस्वकार रूय्यक ने 67 अलंकारों का वर्गीकरण किया है। 'काव्य प्रकाश' में केवल 61 अलंकार दिये गए हैं । अतः रूय्यक ने ' काव्यप्रकाश' की अपेक्षा छह अधिक अलंकारों का वर्णन किया हैं।

अभ्यास प्रश्न–

1–प्रश्न–वामन के मत में कितने अलंकार होते हैं?
2–प्रश्न–दण्डी के मत में कितने अलंकार होते है?
3–प्रश्न–भामह के मत में कितने अलंकार होते है?
4–प्रश्न–उद्भट के मत में कितने अलंकार होते है?
5–प्रश्न–मम्मट के मत में कितने अलंकार होते है?

1.4 सारांश

इस इकाई में अलंकार लक्षण एवं उनका क्रमिक विकास , संख्यात्मक विवेचन किया गया है 'काव्यप्रकाश' में पॉच शब्दालंकार, 61 अर्थालंकार और 1 उभयालंकार कुल मिलाकर 67 अलंकारों का निरूपण किया गया है। उसको स्पष्ट रूप से समझने के लिए अलंकारों का निरूपण करना आवश्यक है, इन अलंकारों के शब्दालंकार , अर्थालंकार तथा उभयालंकार नाम से तीन भेद किये गये हैं। जो अलंकार शब्दपरिवृत्त्य सह होते हैं अर्थात् किन्ही विशेष शब्दों के रहने पर ही अलंकार रहते हैंऔर उन विशेष शब्दों को बदलकर यदि उनके स्थान पर उनके पर्यायवाचक दूसरे शब्द रख दिये जायें तो उन अलंकारों की स्थिति नहीं रहती है, वे अलंकार उन विशेष शब्दों के ही आश्रित होने से शब्दालंकार कहलाते हैं।

1.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
उपमा रूपकम्	उपमा रूपक को
दीपको यमकम्	दीपक यमक को
चत्वार एवालंकारान्	चारों हि अलंकारों को
भरतेन निरूपिताः	भरत के द्वारा निरूपित
वामनेन	वामन के द्वारा
त्रयस्त्रिंषद् भेदास्तस्य	उसके तैंतीस भेद है
निरूपिताः	निरूपित है
प्रतिपादितः	प्रतिपादित है
भामहेन	भामह के द्वारा

1. 6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उत्तर –वामन के मत में 33 अलंकार होते हैं।

उत्तर –दण्डी के मत में 35 अलंकार होते हैं।

उत्तर –भामह के मत में 39 अलंकार होते हैं।

उत्तर –उद्भट के मत में 40 अलंकार होते हैं।

उत्तर –मम्मट के मत में 67 अलंकार होते हैं।

1. 7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1–ग्रन्थ नाम	लेखक	प्रकाशक
शिवराजविजय	अम्बिकादत्तव्यास	चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी
2–संस्कृत साहित्य का इतिहास .	बलदेव उपाध्याय	प्रकाशक शारदा निकेतन वी, कस्तुरवानगर सिगरा वाराणसी
3–ग्रन्थ नाम	लेखक	प्रकाशक
किरातार्जुनीयम्	भारवि	चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी
4–काव्यप्रकाश	आचार्य मम्मट	चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी

1. 8 उपयोगी पुस्तकें

4–काव्यप्रकाश	आचार्य मम्मट	चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी

1. 9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. अलंकारों के क्रमिक विकास पर एक निबन्ध लिखिए ।
2. मम्मट के 61 अलंकारो के विषय में परिचय दीजिये ।

इकाई. 2.उपमा के प्रमुख भेद एवं उदाहरण सहित व्याख्या

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 उपमा के प्रमुख भेद एवं उदाहरण सहित व्याख्या

2.4 सारांश

2.5 शब्दावली

2.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.8 उपयोगी पुस्तकें

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

काव्यशास्त्र से सम्बन्धित खण्ड तीन की यह दूसरी इकाई है। इस इाकई के अध्ययन से आप बता सकते हैं कि काव्यशास्त्रीय परम्परा में उपमा अलंकार का विवेचन किस प्रकार किया गया है। इसके पूर्व की इकाई में आपने अलंकार लक्षण एवं भेद का अध्ययन किया है ।

उपमा अलंकार में उपमान, उपमेय,साधारणधर्म या सादृश्य तथा उपमावाचक शब्द इन चार का उपयोग होता है। दो सदृश पदार्थों में प्रायः अधिक गुणवाला पदार्थ 'उपमान' और न्यून गुण वाला पदार्थ 'उपमेय' होता है। 'मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है' यहॉ अधिक गुणवत्ता सम्भावित चन्द्रमा उपमान और न्यूनगुणवत्ता सम्भावित मुख उपमेय है। सौन्दर्य या मनोज्ञत्व उन दोनों का समान धर्म है और यथा, इव आदि शब्द उपमा के वाचक शब्द होते हैं। इन उपमान तथा उपमेय के समानधर्म के सम्बन्ध का वर्णन ही उपमा अलंकार कहलाता है। परन्तु उपमा में उन उपमान तथा उपमेय का भेद होना आवश्यक है,जिनका प्रयोग किया जाता है।

अतः इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप उपमा अलंकार से सम्बन्धित सभी पक्षों को उदाहरण सहित समझा सकेंगें ।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप उपमा के प्रमुख भेद को जानकर उदाहरण सहित –

- उपमा अलंकार का लक्षण कर सकेंगें ।
- अर्थालंकार के विषय बता सकेगे ।
- पूर्णोपमालंकारों की संख्या के विषय में समझा सकेगे ।
- लुप्तोपमालंकार को परिभाषित करेंगे ।

2.3 उपमा के प्रमुख भेद एवं उदाहरण सहित व्याख्या

1.उपमा अलंकार का लक्षण

(सू. 124) साधर्म्यमुपमा भेदे।

उपमानोपमेययोरेव न तु कार्यकारणादिकयोः साधर्म्यं भवतीति तयोरेव समानेन धर्मेण सम्बन्ध उपमा।भेदग्रहणमनन्वयव्यवच्छेदाय।

(सूत्र 124) –उपमान तथा उपमेय का भेद होने पर उनके साधर्म्य का वर्णन जहॉ हो वह उपमा अलंकार कहलाता है।

उपमान और उपमेय का ही साधर्म्य होता है, किसी कार्य– कारण आदि का नहीं, इसलिए उनका ही समानधर्म से सम्बन्ध उपमा अलंकार कहलाता है। लक्षण में भेद का ग्रहण अनन्वय से पृथक् करने के लिए है। उपमा के पूर्णा और लुप्ता दो भेद होते हैं।

(सू. 125) पूर्णा लुप्ता च

उपमानोपमेयसाधारणधर्मोपमाप्रतिपादकानामुपादाने पूर्णा।एकस्य द्वयास्त्रयाणां वा लोपे लुप्ता।

(सूत्र 125) – पुनः वह उपमा 1. पूर्णोंपमा और 2. लुप्तोपमा के भेद से दो प्रकार की होती है।

1 उपमान, 2 उपमेय, 3 साधारणधर्म तथा 4 उपमावाचक (इव आदि पद) इन चारों का ग्रहण होने पर पूर्णा उपमा तथा उन चारों मे से एक या दो या तीन का लोप होने पर लुप्ता उपमा कहलाती है।

(सू. 126) सौग्रिमा

श्रौत्यार्थी च भवेद्वाक्ये समासे तद्धिते तथा

विशेष – 'मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है' इस उदाहरण में अधिक गुणवत्ता सम्भावित चन्द्रमा उपमान और न्यूनगुणवत्ता सम्भावित मुख उपमेय है। सौन्दर्य ही उन दोनों का समान धर्म है और यथा, इव आदि शब्द उपमा के वाचक शब्द होते हैं। इन उपमान तथा उपमेय के समानधर्म के सम्बन्ध का वर्णन ही उपमा अलंकार कहलाता है। परन्तु उपमा में उन उपमान तथा उपमेय का भेद होना आवश्यक है। रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव' इत्यादि स्थलों में भी सादृश्य का वर्णन किया जाता है परन्तु इसमें उपमान एवं उपमेय दोनों एक ही है, अलग–अलग नहीं, इसलिए यहॉ उपमा नहीं अपितु 'अनन्वय अलंकार' होता है।

पूर्णोपमा के छह भेदः–

(सूत्र 126)– वह (उनमें से) पहली (अर्थात् पूर्णोपमा) श्रौति और आर्थी (दो प्रकार की, फिर उनमें से प्रत्येक) वाक्यगत, समासगत तथा तद्धितगत (तीन प्रकार की,) होकर कुल छह प्रकार की होती है।

अग्रिमा पूर्णा।

यथोवादिशब्दा यत्परास्तस्यैवोपमानताप्रतीतिरिति यद्यप्युपमानविशेषणान्येते तथापि शब्दशक्तिहिम्ना श्रुत्यैव षष्ठीवत् सम्बन्धं प्रतिपादयन्तीति तत्सद्भावे श्रौती उपमा । तथैव 'तत्र तस्येव' इत्यनेन इवार्थे विहितस्य वतेरूपादाने।'तेन तुल्यं मुखम्' इत्यादावुपमेये एव 'तत्तुल्यमस्य' इत्यादौ चोपमाने।

(कारिका में आये हुए) अग्रिमा शब्द का अर्थ पूर्णा है।

श्रौती तथा आर्थी पूर्णोपमा का भेदः–

उपमावाचक शब्दों में यथा, इव, वा आदि शब्दों तथा तुल्य, सदृश आदि शब्दों के अर्थबोध में कुछ भेद पाया जाता है। यथा, इव, वा आदि षब्द उपमा के विषेशण होते हैं और उनके सुनने के साथ ही साधारणधर्म के सम्बन्धरूप सादृश्बोध करा देते हैं, इसलिए उनके प्रयोग में 'श्रौती' उपमा कहलाता है। इसके विपरित तुल्य, सदृश आदि दूसरे प्रकार के उपमावाचक शब्द कभी उपमान के साथ कभी उपमेय के साथ, कभी दोनों के साथ अन्वित होते है। इसलिए उनके विचार करने के बाद साधारण धर्म के सम्बन्ध की प्रतीति होती है, इसलिए इनके प्रयोग में 'आर्थी' उपमा मानी जाती है। वाक्यगत और समासगत श्रौती तथा आर्थी उपमा के भेद इन यथा, इव, वा आदि तथा तुल्य, सादृश आदि शब्दों के प्रयोग के आधार पर ही होता है।

'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (अष्ट. 5,1,115) तथा 'तत्र तस्येव' (5,1,16) इन दो सूत्रों से वति–प्रत्यय होने पर तद्धितगत उपमा बन जाती है। इसमें 'तत्र तस्येव' से इवार्थ में वति–प्रत्यय होने से 'श्रौती' तथा 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वति' से तुल्यार्थ में वति–प्रत्यय होने से 'आर्थी' उपमा होती है। 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' से जो वति–प्रत्यय होता है वह उपमान तथा उपमेय के क्रिया साम्य में ही होता है और तृतीयान्त शब्द से होता है। गुण और द्रव्यादिका साम्य होने पर 'तत्र' और 'तस्य' अर्थात् सप्तम्यन्त तथा षष्ठयन्त शब्द से वति–प्रत्यय 'तत्र तस्येव' इस सूत्र से होता है, और उस दशा में श्रौती उपमा होती है। इसी आधार पर श्रौती तथा आर्थी उपमा का भेद अगले दो अनुच्छेदों में दिखलाते हैं–

यथा, इव, वा इत्यादि शब्द जिसके बाद आते हैं वही उपमान रूप से प्रतित होता है इसलिए यद्यति ये उपमान के विषेशण होते हैं फिर भी शब्दशक्ति के प्रभाव से षष्ठी (विभक्ति) के समान श्रवण मात्र से (तत्काल) ही (सादृश्य) सम्बन्ध का प्रतिपादन कर देते हैं इसलिए उनका प्रयोग होने पर 'श्रौती' (उपमा) होती है। इसी प्रकार 'तत्र तस्येव' (अश्टा.5,1,116) इस (सूत्र) से इवार्थ में (षष्ठयन्त अथवा सप्तम्यन्त पद से) विहित वति– प्रत्यय का ग्रहण होने पर भी (तद्धितगत श्रौती उपमा होती है) । (इसके विपरित) ' तेन तुल्यं मुखम्' 'उस (कमल) के समान मुख है' यहॉ (उपमावाचक का. 87. सू. 126) एव 'इदं च तच्च तुल्यम्' इत्युभयत्रापि तुल्यादिषब्दानां विश्रान्तिरिति साम्यपर्यालोचनया तुल्यताप्रतीतिरिति साधर्म्यस्यार्थत्वात् तुल्यादिशब्दोपादाने आर्थी । तद्वत् ' तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः ' इत्यनेन विहितस्य वतेः स्थितो ।

'इवेन नित्य समासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च' इति नित्यसमास इव षब्दयोग्य समासगा । क्रमेणोदाहरणम्–क्रमशः उदाहरण प्रस्तुत है–

(1) स्वप्नेपि समरेसु त्वां विजयश्रीर्न मुंचति ।
प्रभावप्रभवं कान्तं स्वाधीनपतिका यथा ।।393।।

श्रौती तथा आर्थी उपमा के इन छह भेदों के) क्रमशः: उदाहरण दिये जा रहे हैं–

(1) स्वाधीनपतिका (नायिका) के समान विजयश्री प्रभाव (प्रभुषक्ति) के कारणभूत (प्रभाव) आपको स्वप्न में भी युद्ध में नहीं छोड़ती है।।393।।

इसमें 'स्वाधीनपतिका यथा' यह वाक्यगा श्रौती उपमा मानी जाती है। 'स्वाधीनपतिका' उपमान है, 'विजयश्रीः' उपमेय, 'न मुंचति' यह अपरित्यागरूप साधारणधर्म और 'यथा' यह उपमावाचक शब्द है। अतः यह पूर्णोपमा है। 'यथा' शब्द का प्रयोग होने पर साधारणतः 'अव्ययं विभक्ति,' इत्यादि (1,1,6) सूत्र से नित्य अव्ययीभाव समास होता है। तदनुसार अव्ययीभाव समास होने पर यह वाक्यगा श्रौती उपमा का उदाहरण न होकर समासगा का उदाहरण होना चाहिये । इस प्रकार षंका यहॉ हो सकती है। परन्तु वह उचित नहीं है। 'अव्ययं विभक्ति ' इत्यादि सूत्रों में जो यथा के साथ समास का विधान किया गया है वह सादृश्य से भिन्न अर्थ होने पर ही होता है । सादृयपरक 'यथा' शब्द के प्रयोग में यह समास नहीं होता है यह बात 'यथोसादृश्ये' 2,1,7 इस अगले सूत्र में स्पष्ट कर की गई है।

इस उदाहरण में तुल्यपद का सम्बन्ध मुख रूप उपमेय मे ही प्रतीत होता है। 'वह(कमल) इस (मुख) के तुल्य है ' इत्यादि उदाहरणों में उपमा वाचक तुल्य पद का सम्बन्ध कमल रूप उपमान में ही प्रतीत होता है। और 'यह (कमल) तथा वह (मुख) समान है' यहॉ मुख तथा कमल दोनों के साथ सम्बन्ध में तुल्य आदि पदों की विश्रान्तिपर्यवसान होती है 'इसलिए साधारण धर्म के सम्बन्ध का विचार करने पर ही तुल्ययोर्भावः तुल्यता कि प्रतीति होती है। इसलिए तुल्यादि पदो के प्रयोग में साधर्म्य के इवादि के समान वाच्य न होकर 'आर्थ' होने से तुल्यादि शब्दों का प्रयोग होने पर 'आर्थी' उपमा होती है। इसप्रकार 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वितिः' (अष्टा. 5,1,115) इस सूत्र से क्रिया मात्र के साम्य में तृतीयान्त से विहित वति–प्रत्यय के प्रयोग में भी आर्थी उपमा हो जाती है।

वाक्यगा श्रौती तथा आर्थी पूर्णोपमाः–

(सह सुपा 2,4,71 इस पाणिनि सूत्र के महाभाष्य में दिये हुए कात्यायनकृत वार्तिक के अनुसार) ' इव के साथ (उपमान पद का) नित्यसमास (और समास होने पर भी) विभक्ति का अलोप तथा पूर्व पद का प्रकृतिस्वरत्व होता है', इस नियम से नित्य समास में इव शब्द का प्रयोग होने पर 'समासगा' (श्रौती और तुल्य आदि पदों के साथ समास होने पर आर्थी समासगा उपमा होती है। शेष स्थलों पर इव आदि के प्रयोग में वाक्यगा श्रौती तथा तुल्य आदि का प्रयोग होने पर वाक्यगा आर्थी उपमा होती है) ।

(2) चकितहरिणलोललोचनायाः क्रुधि तरूणारूणता रहारिकान्ति।
सरसिजमिदमाननं च तस्याः सममिति चेतसि सम्मदं विधत्ते ।।394।।
(3) अत्यायतैर्नियमकारिभिरुद्धतानां दिव्यै : प्रभाभिरनपायमयैरूपायैः।
षौरिर्भुजैरिव चतुर्भिरदः सदा यो लक्ष्मीविलासभवनैर्भुवनं वभार।।395।।

वाक्यगा श्रौती के उदाहरण के बाद वाक्यगा आर्थी उपमा का उदाहरण देते है–

(2) चकित (भयभीत) हरिणीके समान चंचल नेत्रवाली उस (नायिका) का क्रोधमे प्रातः कालीन (तरुण) अरुण (सूर्यसारथि) के समान (तार) अत्यन्त सुन्दर कान्तिवाला (क्रोधसे आरक्त) मुख और यह (हाथ मे लिया हुआ) कमल दोनो एक–से (सम) हो रहे है। इसलिए (क्रोध से आरक्त नायिकाका मुख नायकाके) मन मे आनन्द उत्पन करता है।।394।।

इसमे सरसिज उपमान है आनन उपमेय है अरुणके समान कान्तिमत्व साधारण धर्म और 'समम्' यह उपवाचक षब्द है। 'सम' के साथ समास न होनेसे वाक्यगा श्रौती उपमा है। समासगा श्रौती तथा आर्थी पूर्णोपमा मे उपमान उपमेय साधारणधर्म तथा उपमावाचक शब्द इन चारोका शब्दतः उपादान होता है। ये चारो जब अलग–अलग कहे जाते हैं तब

वाक्यगा पूर्ण उपमा होती है और जब इनमेसे किन्ही दोका समास हो जाता है तब समासगा श्रौतीपूर्णोपमा बन जाती है।

श्रीकृष्ण जिस प्रकार (विष्णुरूपमे अपनी) चार भुजाओ से संसार को धारण करते हैं इस प्रकार राजा (साम दान दण्ड तथा भेदरूप)चार उपायोसे सदा संसारका पालन करता था। यह मुख्य वाक्यार्थ है। शेष पॉच विशेषण है जो विष्णु की भुजाओ तथा सामादि उपायो दोना के पक्ष मे लगते हैं। जैसे 1 अत्यायतैः अर्थात् बाहुपक्ष मे अत्यन्त लम्बे (आजानुलम्बी) बाहु तथा (उपायपक्षमे) अत्यन्त शुभ परिणाम वाले (आयतिःउत्तर कालः) उपायोसे 2 उद्धतोका नियन्त्रण करनेवाले (बाहुओ तथा उपायो से यह विषेशण दोनो पक्षो मे समान ही रहता है) 3 दिव्य अर्थात् अलौकिक (बाहुओ तथा उपाय पक्षमे उत्कृश्ट उपायो से) 4 प्रभाभीः कान्तियो (से उपलक्षित बाहुओ) तथा प्रभावसे युक्त उपायो से (अथवा प्रकर्शेण भान्तीति प्रभाः तैः' इस व्युत्पतिसे दोनो पक्षो मे उत्तम षोभा युक्त बाहुओ तथा उपायो से) तथा 5 (अनपायमयैः अपायाभाव प्रचुरैः अर्थात्) सनातन तथा सदा सफल होनेवाले एवं 6 लक्ष्मी (विश्णु–पत्नी तथा सम्पति) के आधारभूत (चार) बाहुओ के समान (सामादि चार) उपायो से (जो राजा सदा संसारका पालन करता था) **।।395।।**इसमें 'भुजैः' उपमान है, 'उपायैः' उपमेय है। 'अत्यायतत्वादि' साधारणधर्म तथा 'इव' उपमाप्रतिपादक शब्द है 'इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च' इस वार्तिक के अनुसार यहॉ 'भुजै,' इस उपमान पद के साथ ' इव' इस उपमावाचक पद का नित्य समास होने से यह समासगा श्रौति उपमा का उदाहरण होता है।

वाक्यगा श्रौती तथा आर्थी उपमाके उदाहरण देने के बाद समासगा श्रौती उपमाका उदाहरण देते है–

(4) अवितथमनोरथपथनेशु प्रगुणगरिमगीतश्रीः।

सुरतरुसदृषःस भवानभिलशणीयः क्षितिष्वर न कस्य।।396।।

(4) अव्यर्थ मनोरथ–मार्गों के विस्तार में प्रकृष्ट गुण–गरिमा के कारण जिसकी समृद्धि प्रसिद्ध है अर्थात् आपके पास आने वाले याचकों के मनोरथ कभी व्यर्थ नहीं होते। उन्हें अपने मनोरथ के अनुसार धन–धन्यादि अवष्य प्राप्त होते हैं ऐसी आपकी लक्ष्मीं की प्रसिद्धि है। इसलिए कल्पवृक्ष के समान हे राजन्! आप किसकी अभिलाष या कामना के विषय नहीं हैं, हर एक व्यक्ति आपको चाहता है।।396।।

इसमें 'सुरतरु'उपमान, क्षितिष्वर' उपमेय, प्रगुणगरिमगीतश्रीत्व' तथा 'अभिलशणीयत्व' साधारणधर्म एवं 'सदृश' उपमावाचक शब्द है। 'सुरतरुसदृश' में उपमान तथा उपमावाचक पदों के समास होने से यह समासगा आर्थी उपमा का उदाहरण हुआ।

समासगा श्रौती उपमा का उदाहरण देने के बाद समासगा आर्थी उपमा का उदाहरण देते हैं–

(5–6) गाम्भीर्यगरिमा तस्य सत्यं गंगभुजंवत्।

दुरालोकः स समरे निदाघाम्बररत्नवत्।।397।।

(5–6) उस राजा के गाम्भीर्य की गरिमा सचमुच गंगा के उपपति अर्थात् समुद्र (गंगा के वास्तविक पति षान्तनु थे इसलिए समुद्र गंगा गंगा भुजंग उपपति हुआ) के समान है और युद्धभूमि में यह ग्रीश्मकाल के सूर्य के समान बड़ी कठिनाई से देखा जा सकता है।।397।।

यहॉ श्लोक के पूर्वार्द्ध में 'गंगा भुजंग' अर्थात् 'समुद्र' उपमान, 'तस्य' उपमेय, 'गाम्भीर्यगरिमा' साधारणधर्म तथा 'गंगाभुजंगस्य इव इति गंगाभुजंगवत्' इस विग्रह में 'तत्र तस्येव' सूत्र द्वारा शश्ठयन्त ' गंगाभुजंगस्य ' पद से इवार्थ में वति–प्रत्यय होने से यह तद्धितगा श्रौती पूर्णोपमा का उदाहरण होता है।

ष्लोक के उत्तरार्द्ध में 'निदाधाम्बररत्न्' उपमान, 'सः' उपमेय, 'दुरालोकत्व' साधारणधर्म तथा 'निदाघाम्बररत्नवत्' में निदाघाम्बररत्नेन तुल्यम् इति 'निदाघाम्बररत्नवत्' इस विग्रह में तृतीयान्त 'निदाघाम्बरनेन' पद से 'तेन तुल्यं किया चेद्वितिः' इस सूत्र द्वारा वति–प्रत्यय होने से यह तद्धितगा आर्थी पूर्णोपमा का उदाहरण होता है।

लुप्तोपमा के उन्नीस भेदः–

पूर्णोपमा के छह भेद दिखलाने के बाद अब आगे ग्रन्थकार 'लुप्तोपमा' के उन्नीस भेद

बताते हैं। पूर्णोपमा के उपमान, उपमेय, साधारण धर्म तथा उपमा वाचक पद चारों शब्दशः कथित होते हैं। इस प्रकार उपमा की सारी सामग्री के शब्दश : उपस्थित होने के कारण ही पूर्णोपमा कहते है। लुप्तोपमा में ये सारी सामग्री शब्दशः कथित नहीं होती है। उपमान आदि चारों में से किसी न किसी का लोप अवश्य रहता है। इसीलिए उसको लुप्तोपमा कहा जाता है। यह लोप उपमान आदि चारों में से कभी किसी एक का कभी किन्ही दो का और कभी किन्हीं तीन का भी हो सकता है। इसीलिए लुप्तोमा के 19 भेद हो जाते हैं, जिसका विवरण निम्नलिखित हैं –

पॉच प्रकार की धर्मलुप्ता –

1.वाक्यगत श्रौती धर्मलुप्ता
2.वाक्यगत आर्थी धर्मलुप्ता
3.समासगत श्रौती धर्मलुप्ता
4.समासगा आर्थी धर्मलुप्ता
5.तद्धितगा आर्थी धर्मलुप्ता

छः प्रकार की वाचक लुप्ता–

1.समासगा वाचकलुप्ता (कामिनीगण्डपाण्डुना)
2.कर्म में क्यच्–प्रत्यय होने पर वाचकलुप्ता (सुतमिवाचरति सुतीयति)
3.आधार में क्यच्–प्रत्यय होनें पर (अन्तः पुरे इवाचरति अन्तःपुरीयति)
4.क्यंड्–प्रत्यय होने पर वाचक लुप्ता (नारी इव आचाररति नारीयते)
5.कर्म में णमुल्प्रत्यय होने पर वाचकलुप्ता (निदाघघर्मांषुदर्ष पश्यति)
6.कर्ता में णमूल्प्रत्यय होने पर वाचकलुप्ता (पार्थसंचारं संचरति)

दो प्रकार की उपमान लुप्ता–

1.वाक्यगा उपमान लुप्ता
2.समासगा उपमानलुप्ता

धर्म और उपमा दो के लोप में दो प्रकार–

1.क्विप्गता धर्मवाचकलुप्ता
2.समासगा धर्मवाचकलुप्ता

धर्म तथा उपमान के लोप में दो प्रकार–

1.वाक्यगा धर्मोपमानलुप्ता
2.समासगा धर्मोपमानलुप्ता

वाचक तथा उपमेय के लोप में एक भेद–

1.क्यच्–प्रत्यय होने पर वाचकोपमेयलुप्ता

उपमान, उपमावाचक तथा साधारणधर्म तीनों के लोप –

1.तीनों का लोप होने पर समासगा।

इस प्रकार लुप्तोपमा के 19 भेद हैं।

(धर्मलुप्ता के पॉच प्रकारों के उदाहरण (जैसे)–

असाधारण सौजन्य के उत्कर्ष से शोभायमान उस (साधु महात्मा) का अमृत के समान परिणामसुरस और आनन्ददायक वचन, हे चित्त! सचमुच (पालन) करना ही चाहिये इस उदाहरण में 'अमृत' उपमान और वचन उपमेय है।'परिणामसुरसत्व ' आदि उनका साधारणधर्म है, परन्तु अत्यन्त प्रसिद्ध होने के कारण यहॉ उनका ग्रहण नहीं किया गया है। इसलिए यह धर्म लुप्ता का उदाहरण है। यथा' शब्द उपमावाचक है। उनके साथ समास न होने से यह वाक्यगा का उदाहरण हुआ। और यथा शब्द के प्रयोग के कारण श्रौती उपमा हुई। इस प्रकार वाक्यगा श्रौती धर्मलुप्ता उपमा का उदाहरण है।

(2) आकृष्टकरवालोऽसौ सम्पराये परिभ्रमन्।
प्रत्यार्थिसेनया दृष्टः कृतान्तनेन समः प्रभुः।।399।।

हाथ में नंगी तलवार लिये हुए और संग्राम में घूमते हुए राजा को शत्रु की सेना ने यमराज के समान देखा (समझा) ।।399।।

इस उदाहरण में यमराज उपमान और राजा उपमेय है । उन दोनों का साधारण धर्म अत्यन्त क्रुरत्व प्रसिद्ध होने के कारण शब्दशः कथित नहीं हुआ । आकृष्टकरवालत्व' को

, उन दोनों का साधारण धर्म नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यमराज का आयुध करवाल नहीं अपितु दण्ड माना जाता है। और 'दृष्ट को भी , यमराज के अदृष्ट होने पर भी साधारण धर्म नहीं कहा जा सकता है। 'सम ' शब्द उपमा वाचक है परन्तु उनके साथ समास न हो ने से यह वाक्यगा आर्थी धर्मलुप्ता का उदाहरण है। आगे वाक्यगा आर्थी धर्मलुप्ता का उदाहरण है।

(3–4) करवालइवाचारतस्तस्य वागमृतोपमा ।
विशकल्पं मनो वेत्सि यदि जीवसि तत्सखे!।।400।।

3–4. हे मित्र! (उस दुश्ट के चक्कर में पड़कर भी) यदि जीवित रहते हो तो तुम देखोंगे कि उसका आचरण तलवार के समान, वाणी अमृत के समान और मन विश के समान है।।400।।

'करवालइवाचारः' इसमें करवाल उपमान और आचार उपमेय है। धातुकत्व उनका साधारण धर्म है, परन्तु प्रसिद्ध होने के कारण षब्दतः उपात्त नहीं किया गया है । इव के साथ समास है। इसलिए यह समासगा श्रौती धर्मलुप्ता का उदाहरण है। 2. वागमृरतोपमा इसमें वाक् उपमेय अमृत उपमान और माधुर्य उनका साधारण धर्म है। परन्तु षब्दतः नहीं कहा गया है। उपमा षब्द सदृषार्थक और उपमावाचक है। उसके साथ समास होने से यह समगा आर्थी धर्मलुप्ता का उदाहरण है। 3. 'विशकल्पं मनः' इसमें विश उपमान मन उपमेय और तद्धितगा कल्पप्रत्यय उपमा वाचक है। नाषकत्व साधारणधर्म षब्दत्तः नहीं कहा गया है। इस लिए यह तद्धितगा आर्थी धर्म लुप्ता का उदाहरण हुआ।

यहॉ छह प्रकार पूर्णा तथा पॉच प्रकार की धर्मलुप्ता कुल 11 प्रकार की उपमा का निरूपण हुआ ।

वाचकलुप्ता के छह भेद :–

वा ' आदि उपमावाचक पदों के लोप में न वाक्यगा वाचकलुप्ता उपमा सम्भव है और न तद्धितगा ,केवल समासगा बनती है।आगे वाचक लुप्ता के प्रकारान्तर से भेद करते हैं ।

(सूत्र 129) – वा इत्यादि उपमावाचक का लोप होने पर वह वाचकलुप्ता उपमा 1 समास में 2. कर्म में क्यच् – प्रत्यय 3. आधार में क्वच् प्रत्यय 4. क्यङ्–प्रत्यय 5. कर्मउपदद रहते णमुल्– प्रत्यय तथा 6. कर्ता उपदद रहते णमुल–प्रत्यय में होने से पॉच प्रकार की होती है।

'वा शब्द का उपमा द्योतक शब्द है इसलिए वा इत्यादि उपमाप्रतिपादक पदों का लोप होने पर 1. समास में 2. कर्म में विहित क्यच् तथा 3. अतिकरण में उत्पन्न क्वच्, 4. कर्ता में कड्ग 5. कर्म उपदद रहते णमुल् तथा 6. कर्ता उपदद में रहते णमुल प्रत्यय होने से छह प्रकार की वाचकलुप्ता उपमा होती है।

उदाहरणम्–

(1 क) ततः कुमुदनाथेन कामिनिगण्डपाण्डुना
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री लिदलंकृता।।402।।

(1 ख) असितभुजगभीशणासिपत्रो रूहरूहिाकहितचिततूर्णचारः।
पुलकिततनुरूत्वपोलकान्तिः प्रतिभट विकमदर्षनेडयमासीत्।।403।।

उदाहरण (जैसे):–

महाभारत के द्रोणपर्व में रात्रियुद्ध के प्रसंग में चन्द्रोदयवर्णन परक यह पद्य आया है। इसमें कामिनीगण्ड' रूप उपमावाचक पद तथा पाण्डु' रूप साधारणधर्म प्रतिपादक दो पदों के समास में उपमावाचक पद का लोप होनं से यह समासगा वाचकलुप्ता का उदाहरण है । श्लोक का अर्थ है–

(1 क) तब (रात्रि के सांयकाल के समय) कामिनी के कपोल स्थल के सदृष पीतवर्ण कुमुदों के स्वामी नेत्रों के आनन्द प्रदान करने वाले चन्द्रमा पूर्व दिषा को अलंकृत किया ।।402।।

यहॉ कामिनीगण्ड इव पाण्डुः अथवा कामिनीगण्डवत् पाण्डुः इस विग्रह में उपमानानि सामान्य वचनैः (अश्टाः 2.1.55) इस सूत्र में उपमान तथा साधारणधर्म वाचक दोनों पदों

का समास होने पर कथन से साधर्म्य की प्रतीति हो जाने के कारण उपमा वाचक इवदि के प्रयोग की आवष्यकता नहीं रहती है। इसलिए यह वाचकलुप्तोपमा कहलाती है ।

इस उदाहरण में उपमान तथा साधारणधर्म वाचक दो पदों का समास हुआ है। इसलिए यह द्विपद–समासगा का उदाहरण है। अगले उदाहरण मे उपमान उपमेय तथा साधारणधर्म तीनों के वाचक पदों का समास होने पर वाचकलुप्ता का प्रयोग दिखलाते हैं–

(1 ख) काले नाग के समान भीशण तलवार वाला यह (वीर योद्धा) शत्रु को (सम्मुख) देखकर उत्साह (रुहरुहिका) से चित्त के व्याप्त हो जाने से त्वरित गति पुलकित षरीर और गालों पर विकसित कान्ति वाला हो गया । (अर्थात् शत्रु को देख कर उत्साह से कैसे पुलकित हो उठा) ।।403।।

इसमें असित भुजंग पद उपमावाचक भीशण पद साधारणधर्म वाचक और असिपत्र पद उपमेयवाचक है। इन तीनो पदों का समास हो गया है इसलिए यह बहुपद समासगा वाचकलुप्ता का उदाहरण है।

द्विलुप्ता उपमा के पॉच भेद :–

(सूत्र 131) धर्मोपमानयोर्लोपे वृतौ वाक्ये च दृश्यते।

इन दानों अर्थात धर्म तथा वादि (उपमावाचक पदों) का लोप होने पर दो प्रकार की लुप्तोपमा होती है।

आगे पॉच प्रकर की द्विलुप्ता उपमा का प्रतिपादन किया गया है ,उसमें सबसे पहले दो प्रकार की धर्मवाचकलुप्ता का प्रतिपादन करते हैं –

उदाहरणम्–

(1) सविधा हिवधवति विधुरपि सवितरति तथा दिनन्ति यामिन्यः।
यामिनयन्ति दिनानि च सुखदुःखवषीकृते मनसि।।

उदाहरण जैसे–

(1) मनुष्य के मन के सुखाधीन (सुखसे परिपूर्ण) होने पर प्रचण्ड सूर्य भी चन्द्रमा के समान आनन्द दायक हो जाता है। और दुखाधीन होने पर आनन्ददायक चन्द्रमा भी सूर्य के समान असहाय् दुःखदायक हो जाता है। इस प्रकार सुख के समय अन्धकारमयी रात्रियॉ भी प्रकाषमय दिन बन जाती है और दुःख के समय दिन भी अन्धकारमयी रात्रि में परिणत हो जाते हैं।।406।।

इस उदाहरण में 1. विधवति 2. सवितरति 3.दिनन्ति तथा 4. यामिनयन्ति ये चार क्विबन्त प्रयोग पाये लाते हैं । इन चारों प्रयोगों में विधरिव आचरति विधवति आदि विग्रह में कर्तुः क्यड् सलोपश्च (अश्टा. 3.1.11) इस सूत्र के अन्तर्गत सर्वप्रातिपदिकेभ्य आचारे क्विब्वा वक्तव्यः इस वार्तिक से आचारार्थ में क्विप् प्रत्यय होकर विधिवति सवितरति आदि प्रयोग बनते हैं । यहॉ आचार अर्थमें क्विप् प्रत्यय होता है उसी आचार्य को समान धर्म कहा जा सकता है इा लिए यह धर्म लोप का उदाहरण नहीं हो सकता यह षंका की जा सकती है । परन्तु यहॉ उस आचार्यर्थ के सूचक क्विप् प्रत्यय का वेरप्रक्तस्य (6.1.67) इस सूत्र से सर्वापहारी लोप हो जाता है। उसका कोई अंश शेष नहीं रह जाता है इसीलिए इसको धर्म लोप का उदाहरण माना गया है।

धर्म तथा इवादि के लोप में समासगालुप्तोपमा का उदाहरण देते हैं–

(2) परिपन्थिमनोराज्यषतैरपि दुराक्रमः।
सम्परायप्रवृतोडसौ राजते राजकुंजरः ।।407।।

(2) शत्रुगण जिस पर सैकड़ौं मनोरथों से भी विजय नहीं प्राप्त कर सकते हैं इस प्रकार के युद्ध में लगा हुआ यह श्रेष्ठ राजा शोभित हो रहा है।।407।।

प्रस्तुत उदाहरण में राजाकुंजर इव राज कुजरः इस में उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्यप्रयोगे (2.1.56) इस सूत्र से समास होकर राजकुंजरः प्रयोग बनता है । यद्यपि जहॉ राजतें इसको सामान्यधर्म कहा जा सकता है परन्तु समासविधायक सूत्र में सामान्याप्रयोगे सामान्यधर्म का प्रयोग न होने पर ही समास का विधान किया गया है इसलिए राजतें रूप सामान्यधर्म को अविवक्षित मानकर धर्म तथा वादि के लोप में यह समासगा लुप्तोपमा का उदाहरण दिया गया है।

त्रिलुप्ता का एक भेद :–

(सूत्र 133) – तीन का लोप होने पर समासगा त्रिलुप्तोपमा होती है।।90।।

तीन अर्थात् वादि धर्म तथा उपमान का लोप होने पर । त्रिलुप्तोपमा केवल एक प्रकार की होती है। उदाहरण (जैसे):–

तरूणिमनि कृतवावलोकना ललितविलासवितिर्णविग्रहा ।
स्मरषरविसराचितान्तरा मृगनयना हरते मुनेमनैः।।410।।

अत्र सप्तम्युपमा इत्यादिना यदा समासलोपौ भवतस्तदेदमुदाहरणम्।

नवयौवन में झांकती (प्रवेश करती) हुई (इसलिए) सुन्दर हाव– भावों को अपना शारीर प्रदान कर देने वाली (अर्थात् सुन्दर हाव–भावों से युक्त) कामदेव के बाणों से व्याप्त मन ाली मृगनयना मुनि के भी मन को लुभा देने वाली।।410।।

यहॉ मृग नयने इव चंचले नयने यस्याः सा मृगनयना इस विग्रह में अनेकन्यपदार्थ (2.2. 24) इस सूत्र में आये हुए सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रिहीरुत्तरपद लोपष्च इस वार्तिक से समास होने पर केवल उपमान वाचक मृगनयन पद का ग्रहण हेने तथा 1. उपमा 2. चंचल आदि सामान्यधर्म तथा 3. वादि उपमावाचक पद तीनों का लोप होने से यह त्रिलुप्ता का उदाहरण है।

सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य इत्यादि वार्तिक का यह अभिप्राय है कि सप्तम्यन्त अथवा उपमान वाचक पूर्व पद जिसका है उसके उत्तर पद के साथ बहृव्रीहि समास होकर उत्तर पद का लोप हो जाता है। यहॉ मृगनयने इव नयने यस्याः इस विग्रह में मृगनयने यह उपमावाचक पूर्व पद है। उसका नयने के साथ बहुव्रीहि समास और उतर पद नयने का लोप होकर मृग नयना पद बनता है। कातन्त्रव्याकरणकार ने ऐसे स्थलों पर मृग पद की मृगनयन अर्ष में लक्षणा मानी है। उसके अनुसार मृग इव नयने यस्या साः मृग नयना इस प्रकार का समास होता है। उस दषा में मृग पद की उपमानवाचक पद हो जाता है इसलिए उपमान लुप्ता नहीं हो सकती ।उस उसमास के कारण उपमान वाचकपूर्व पद मृग नयने का जो उत्तर पद अर्थात नयने पद है उसका लोप हो जाता है इसलिए यह उपमानलोप का भी उदाहरण है।इसी बात को ध्यान में रखते हुए लक्षण समन्वय करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं–

जब सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुब्रीहिरुत्तरपदलोपश्च इत्यादि वार्तिक से समसा तथा उत्तर पद करा लोप होता है तब यह त्रिलुप्तोपमा का उदाहरण होता है। कातन्त्रव्याकरणकार के अनुसार मृगपद की मृग नयन अर्थ में लक्षणा मान कर समास करने पर उपमान वाचक मृग पद के विद्यमान रहने से यह त्रिलुप्ता उपमा का उदाहरण हो सकता है।

मृगनयना यह त्रिलुप्तोपमा उदाहरण दिया गया है। इसमें केवल उपमेय मात्र का उपादान किया गया है षेष तीन का लोप होने से त्रिलुप्तोपमा का उदाहरण बनता है । इसी प्रकार कुछ लोग उपमान मात्र का उपादान होने पर भी त्रिलुप्ता उपमा मानते हैं ।और उसेके उदाहरण स्वरूप में आयःषुलिकः यह उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। जो मृदंल उपाय से साध्य अर्थ के लिए साहस पूर्ण तीक्ष्ण उपायों का प्रयोग करता हैं उसको आयः षूलिकः अर्थात् साहसिक कहा जाता है। अर्थात् आयः षूलिकः षब्द लक्षणा से क्रुर आचार को बोधित करता है। अयः षूलः के समान क्रूर आचार का व्यवहार करने वाला आयः षूलिकः हुआ। यहॉ अयःशूलः पद उपमान है उसका उपादान किया गया है । क्रूर आचार उपमेय तीक्ष्णत्वादि साधारणधर्म तथा इवादि उपमावाचक शब्द इन तीनों का उपदान नहीं किया गया है । इसलिए यह उपमान मात्र के उपदान से त्रिलुप्ता का उदाहरण है यह पूर्व पक्ष का आषय है।

सिद्वान्त पक्ष में मम्मट इसको उपमा का उदाहरण नहीं मानते है। वे इसमें अतिशयोक्ति अलंकार मानते हैं। क्रूर आचार रूप जो उपमेय है इसका निगरण करके अयःषूलः रूप से उसका अध्यवसान करने के कारण यहॉ निगीर्याध्यवसानरूपा अतिशयोक्ति हैउपमा नहीं। अभ्यास प्रश्न –

1–प्रश्न– सादृश्यमूलक अलंकार के कितने भेद होते है ?

2–प्रश्न– इन सब अलंकारो में सबसे अधिक संख्या किस अलंकारों की हैं?

3–प्रश्न– सादृश्यमूलक अलंकारों का अरधारभूत कौन सा अलंकार है ?
4–प्रश्न– पूर्णोपमा अलंकार के कितने भेद होते है ?
5.प्रश्न. लुप्तोपमा अलंकार के कितने भेद होते है ?

2.4 सारांश

इस इकाई में उपमा के प्रमुख भेद एवं उदाहरण सहित व्याख्या किया गया है उपमा अलंकार में 1 उपमान, 2 उपमेय, 3 साधारणधर्म या सादृश्य तथा 4 उपमावाचक षब्द इन चार का उपयोग होता है। दो सदृष पदार्थों में प्रायः अधिक गुणवाला पदार्थ 'उपमान' और न्यून गुण वाला पदार्थ 'उपमेय' होता है। 'मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है' यहॉ अधिक गुणवत्तया सम्भावित चन्द्रमा उपमान और न्यूनगुणवत्तया सम्भावित मुख उपमेय है। सौन्दर्य या मनोज्ञत्व उन दोनों का समान धर्म है और यथा, इव आदि षब्द उपमा के वाचक षब्द होते है। इन उपमान तथा उपमेय के समानधर्म के सम्बन्ध का वर्णन ही उपमा अलंकार कहलाता है। अतः इस इकाई के अध्ययन से आप उपमा के सभी भेदों को समझा पायेंगे ।

2.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
रसादिः	रस आदि
अलंकारान्तरम्	दूसरे अलंकारों से रहित
सर्वत्राव्यभिचाारः	सभी जगह अव्यभिचार
तदलंकाराः	वे अलंकार
उदाहृताः	कहे गये है
तद्रहितत्वेन	उससे रहित
उदाह्रियमाणः	कहा गया है

2.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उत्तर –सादृश्यमूलक अलंकार के उन्तीस भेद होते हैं।

उत्तर –इन सब अलंकारो में सबसे अधिक संख्या सादृष्यमूलक अलंकारों की हैं।

उत्तर –सादृश्यमूलक अलंकारों का अरधारभूत उपमा अलंकार है।

उत्तर –पूर्णोपमा अलंकार के छः भेद होते हैं

उत्तर –लुप्तोपमा अलंकार के दो भेद होते हैं।

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1–ग्रन्थ नाम	लेखक	प्रकाशक
शिवराजविजय	अम्बिकादत्तव्यास	चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी
2–संस्कृतसाहित्य का इतिहास	बलदेवउपाध्याय	प्रकाशक शारदा निकेतन वी, कस्तुरवानगर सिगरा वाराणसी
3–ग्रन्थ नाम	लेखक	प्रकाशक
किरातार्जुनीयम्	भारवि	चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी

4–काव्यप्रकाश	आचार्य मम्मट	चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी

2. 8 उपयोगी पुस्तकें

4–काव्यप्रकाश	आचार्य मम्मट	चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.उपमा का लक्षण बताकर उसके भेदों पर विस्तार से प्रकाश डालिए

2.सादृश्यमूलक अलंकारो का परिचय दीजिये ।

इकाई. 3.अनन्वय,उपमेयोपमा,उत्प्रेक्षा,रूपक,अपह्नुति ,विस्तृत व्याख्या

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 अन्वय, उपमेयोपमेय, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति विस्तृत व्याख्या

3.4 सारांश

3.5 शब्दावली

3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.8 उपयोगी पुस्तकें

3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1.प्रस्तावना

काव्यशास्त्र से सम्बन्धित खण्ड की यह तीसरी इकाई है। इस इाकई के अध्ययन से आप बता सकते है कि काव्यशास्त्रीय परम्परा में अनन्वय, उपमेयोमा उत्प्रेक्षा इन चार अलंकारों का विवेचन किया हैं। ये चारों अलंकार साद्दश्यमूलक अलंकार है। फिर भी उनमें परस्पर भेद है। इसीलिए उनके अलग–अलग लक्षण किये गये हैं। इनमें से 'उपमा' और 'अनन्वय' का परस्पर भेद बहुत स्पष्ट है। उपमा में उपमान और उपमेय दोनों अलग–अलग होते हैं।

अनन्वय में उपमान और उपमेय एक ही होता है। यह उपमा और अनन्वयका भेद है। इसी प्रकार उपमेयोपमा का भी उपमा तथा अनन्वय दोनों से भेद स्पष्ट है। उनको अलग–अलग पहचानने में कोई कठिनाई नहीं होती हैं। किन्तु उत्प्रेक्षा और उपमा का अन्तर करना कहीं–कहीं कठिन हो जाता है।

अतः इस इकाई का अध्ययन करके आप अन्वय, उपमेयोपमेय, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति आदि अलंकारों को समझा सकेगें।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप अन्वय, उपमेयोपमेय, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति अलंकारों के महत्त्वपूर्ण तथ्यों को जानकर –

- अन्वय, अलंकार को परिभाषित करेगें।
- उपमेयोपमा, अलंकार के विषय में बता सकेंगे ।
- रूपक अलंकार का लक्षण कर सकेगें ।
- अपह्नुति के विषय में बता सकेगें ।

3.3 अनन्वय, उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति विस्तृत व्याख्या

अनन्वय अलंकार

(सूत्र 134) उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे। अनन्वयः
उपमानान्तरसम्बन्धाभावोनन्वयः उदाहरणम्–

न केवलं भाति नितान्तकान्तिर्नितम्बिनी सैव नितम्बिनीव।
यावद्विलासायुधलास्यवासास्ते तद्विलासा इव तद्विलासाः।। 415।।

(सू0 134) – एक वाक्य में एक ही के उपमान तथा उपमेय (दोनों) होने पर अनन्वय (अलंकार) होता है।
अर्थात् अन्य उपमान का सम्बन्ध न होना ही अनन्वय (अलंकार) है। उदाहरण –

न केवल अत्यन्त सुन्दरी वह नितम्बिनी (नायिका) ही उस नितम्बिनी के समान शोभित होती है अपितु जिनमें कामदेव मानो थिरकता रहता है इस प्रकार के उसके वे (अनिर्वचनीय) हाव–भाव उसीके विलासों के समान हैं। ।। 415 ।।

सादृश्यमूलक उपमेयोपमा लंकार

(सूत्र 135) विपर्यास उपमेयोपमा तयोः ।। 91।।

तयोरूपमानोपमेययोः।परिवृत्तिःअर्थाद्वाक्यद्वये,इतरोपमानव्यवच्छेदपरा उप–मेयेनोपमा इति उपमेयोपमा। उदाहरणम् –

कमलेव मतिर्मतिरिव कमला तनुरिव विभा विभेव तनुः ।
धरणीव धृतर्धृतिरिव धरणी सततं विभाति बत यस्य ।। 416।।

(सू0 135) – उन दोनों (अर्थात् उपमान और उपमेय) का परिवर्तन हो जाना अर्थात् उपमान का उपमेय तथा उपमेय का उपमान रूप में वर्णन उपमेयोपमा अलंकार

कहलाता हैं।।।91।।

दोनों का अर्थात् उपमान और उपमेयका परिवर्तन अर्थात् दो वाक्यों में परिवर्तन अन्य उपमानका निराकरण करने के अभिप्राय से उपमेय के साथ उपमानका सादृश्य जिसमें दिखलाया जाय यह उपमेयोपमा का शब्दार्थ हैं।

उदाहरण, जैसे–

इस राजा की लक्ष्मी के समान बुद्धि और बुद्धि के सामन लक्ष्मी, शरीर के समान कान्ति और कान्ति के सामन शरीर तथा धरणी के समान धैर्य एवं धैय के सामन धरणी सदैव शोभित होती है ऐसी प्रभावशाली यह राजा है ।।416।।

सादृश्यमूलक उत्प्रेक्षालंकार

(सूत्र 136) सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।समेन उपमानेन ।

(सू0136)– प्रकृत (अर्थात् वर्ण्य उपमेय) की सम (अर्थात् उपमान) के साथ सम्भावना (अर्थात् उत्कटैककोटिक सन्देह) उत्प्रेक्षा (कहलाती) हैं।

उदाहरणम् –

उन्मेषं यो मम न सहते जातिवैरी निशाया–
मिन्दोरिन्दीवरदलदृशा तस्य सौन्दर्यदर्पः।
नीतः शान्तिं प्रसभमनया वक्रकान्त्येति हर्षा–
ल्लग्ना मन्ये ललिततनु! ते पादयोः पझमलक्ष्मीः ।।417।।
लिम्पतीव तमोग्ड.ानि वर्षतीवाज्ञनं नमः ।
असत्पुरूषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ।।418।।

इत्यादौ व्यापनादि लेपनादिरूपतया सम्भावितम्।

जो (मुझ कमलाश्रीका) जन्मका वैरी (चन्द्रमा) रात्रि में (भी) मेरे विकास को सहन नहीं करता है, इस कमलनयनी ने उस (चन्द्र) का सौन्दर्याभिमान अपने मुख की कान्ति से हठात् नष्ट कर दिया है इस कारण से ऐसा मानकर हे सुन्दर शरीरवाली प्रियतमें ! प्रसन्नता के कारण कमलकी लक्ष्मी मानो तुम्हारे चरणों में चिपट गयी है (आ पड़ी है)।। 417।।

वर्षाकाल की रात्रि के समय) अन्धकार अग्ड.ोंको लीप–सा रहा है, आकाश काजल की वृष्टि–सी कर रहा है और दुष्ट–पुरूष की सेवाके समान दृष्टि विफल–सी हो गयी है।।418 इत्यादि उदाहरण में व्यापन आदि (उपमेय, उपमानभूत) लेपनादिरूपसे सम्भावित (उत्कटैककोटिक सन्देहरूप) किये गये हैं अतः यहाँ उत्प्रेक्षालंकार है।

उपमा और उत्प्रेक्षा में अन्तर

उपमा में उपमान और उपमेय दोनों अलग–अलग होते हैं। अनन्वय में उपमान और उपमेय एक ही होता है। यह उपमा और अनन्वयका भेद है। इसी प्रकार उपमेयोपमाका भी उपमा तथा अनन्वय दोनों से भेद स्पष्ट है। उनको अलग–अलग पहिचान ने में कोई कठिनाई नहीं होती हैं। किन्तु उत्प्रेक्षा और उपमा का अन्तर करना कहीं–कहीं कठिन हो जाता है। इसलिए उस पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। इसकी दो मुख्य पहिचानें हैं।

(1) 'मन्ये शंके ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः। उत्प्रेक्षावाचकाः शब्दा इव शब्दो•पि तादृशः।। मन्ये, शंके, ध्रुवं, प्रायः, नूनं ये उत्प्रेक्षावाचक शब्द है। इनका प्रयोग उपमा में नहीं होता है। इसलिए जहाँ इन शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ स्पष्टतः 'उत्प्रेक्षा' अलंकार समझ लेना चाहिए।

(2) 'इव' शब्द ऐसा है जो उत्प्रेक्षा तथा उपमा दोनों का वाचक है। परन्तु इसमें भेदक पहिचान यह है कि उत्प्रेक्षा में 'इव' शब्द का प्रयोग प्रायः क्रियापद के साथ होता है। 'लिम्पतीव तमो•ग्ड.ानि, वर्षतीवाञजनं नभः।' आदि के सदृश जब क्रिया पद के साथ इसका प्रयोग हो तब उसको निश्चितरूप से उत्प्रेक्षा समझना चाहिये।

(3) जब उत्प्रेक्षावाचक 'इव' पद हो और उसका सम्बन्ध क्रिया पद के साथ न होकर किसी अन्य पद के साथ हो तब उस स्थल पर उत्प्रेक्षा का निर्णय करना कठिन हो जाता है। ऐसे स्थानोंं पर उत्प्रेक्षा का लक्षण विशेष रूप से सहायक होता है। उपमा का प्राण सादृश्य है और उत्प्रेक्षा का प्राण सम्भावना है। सादृश्य स्थल में उपमान रूप

अर्थ की वास्तविक सत्ता होनी चाहिये। सम्भावना में उपमान कल्पित होता है। उपमेय का वस्तुतः उपमान के साथ साद्दश्य होने पर उपमा होती है और उपमेय की कल्पित उपमानरूपेण सम्भावना होने पर ही उत्प्रेक्षा होती है।

रूपक अलंकार का लक्षण

(सूत्र 138) तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।अतिसाम्यादनह्नुतभेदयोरभेदः ।

(सू0 138) – उपमान और उपमेय का ,जिनका भेद प्रसिद्ध है उनका साद्दश्यातिशय के कारण जो अभेद वर्णन है वह रूपक अलंकार कहलाता है ।

तात्पर्य यह है कि अत्यन्त साद्दश्य के कारण, प्रसिद्ध (अनपह्नुत) भेदवाले (उपमान और उपमेय) का अभेद वर्णन ही रूपकालंकार कहलाता है।

(सूत्र 139) समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा ।।

(सूत्र 139)– जब आरोपित (अर्थात् आरोप्यमाण अर्थ) शब्दतः उपात्त (श्रौत) होते हैं तब (वह रूपक का) समस्तवस्तुविषय (नामक) भेद होता है।।

आरोपविषय (उपमेय) के समान जब आरोप्यमाण (उपमान) शब्दतः उपात्त (वाच्य) होते हैं तब (वह रूपकका) समस्तवस्तुविषय (नामक) भेद होता है ।

आरोपविषया इव आरोप्यमाणा यदा शब्दोपात्तास्तदा समस्तानि वस्तूनि विषयोस्येति समस्तवस्तुविषयम्। आरोपिता इति बहुवचनमविवक्षितम्।

आरोपविषय (उपमेय) के समान जब आरोप्यमाण (उपमान) शब्दतः उपात्त (वाच्य) होते हैं तब समस्त वस्तुएँ (आरोप्यमाण) जिसका विषय है (इस विग्रह के अनुसार वह रूपक का) समस्तवस्तुविषय (नामक भेद) होता है। 'आरोपिताः' (इस बहुवचनान्त प्रयोग में) यह बहुवचन अविवक्षित है (अर्थात् बहुत से आरोप्यमाण होने पर ही समस्त वस्तु विषय नामक रूपकका भेद होता हो यह आवश्यक नहीं है)।समस्त वस्तु विषय नामक रूपक भेद का उदाहरण –

ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला बिभ्रती तारकास्थी–
न्यन्तर्द्धानव्यसनरसिका रात्रिकापालिकीयम्।
द्वीपाद् द्वीपं भ्रमति दधती चन्द्रमुद्राकपाले
न्यस्तं सिद्धाजंनपरिमलं लाञ्छनस्य च्छलेन।। 422।।

चाँदनी रूप भस्म से व्याप्त होने के कारण धवलवर्ण, तारिका रूप अस्थियों (हड्डियों) को धारण किये हुए और अन्तर्धान(सब वस्तुओं को छिपा लेने) के व्यसन की रसिका, यह रात्रि रूप कापालिकी, चन्द्रकलारूप कापाल में कलंक के बहाने से सिद्धाजंन चूर्ण से रखे हुए द्वीप–द्वीपान्तरों में घूमती फिरती है।। 422।।

इस उदाहरण में रात्रि के ऊपर कापालिकी का आरोप किया गया है। वही प्रधान रूपक है। उसके उपपादन के लिए अंगरूप में ज्योत्स्ना पर भस्म का, तारकों पर अस्थि का, चन्द्रकला पर कपाल का और लाच्छन पर सिद्धांजनपरिमल का आरोप किया गया है। ये सब अंगभूत रूपक है।

उपमा और रूपक के भेदक धर्म

यहाँ 'रात्रिकालिकी' पद में 'रात्रिरेव कालिकी रात्रिकापालिकी' तथा 'रात्रिः कापालिकी इव इति रात्रिकापालिकी' ये दो प्रकार के विग्रह किये जा सकते हैं। पहली अवस्था में 'मयूरव्यंसकादयश्च' अष्टा0 2, 1, 72 इस सूत्र से समास होगा और 'रात्रिरेव कापालिकी' इस रूप में रात्रि तथा कापालिकी का अभेद होने से रूपकालंकार होगा क्योंकि उसमें रात्रि के ऊपर कापालिकी का आरोप होता हैं। दूसरे 'रात्रिःकापालिकी इव' इस विग्रह में दोनों का अभेद नहीं अपितु साम्य प्रतीत होता है। इसलिए उपमा अलंकार होगा। और उस दशा में 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' अष्टा0 2, 1, 56 इस सूत्र में उपमित समास होगा। इस प्रकार इस उदाहरण में रूपक तथा उपमा दोनों अलंकार सम्भव है इसलिए उन दोनों के सन्देहके कारण सन्देहसंकार अलंकार मानना चाहिये, रूपक नहीं, इस प्रकार की शंका हो सकती है। इस शंका के निराकरण के लिए ग्रन्थकरने अगली पंक्ति लिखी है। उसका आशय यह है कि उपमा या रूपक में किसी एक पक्ष में निर्णय करने का कोई हेतु सुलभ हो वहाँ सन्देहका अवसर नहीं रहता है अपितु उस विनिगमक हेतु के आधार पर एक पक्ष में निर्णय हो जाता हैं। जहाँ

कोई ऐसा विनिगमक हेतु उपलब्ध न हो सके वहाँ सन्देहसंकरालंकार माना जा सकता है।

(सूत्र 140) श्रौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नेकदेशविवर्ति तत्।

केचिदारोप्यमाणाः शब्दोपात्ताः, केचिदर्थसामर्थ्यादवसेया इत्येकदेशविवर्त्तनाद् एकदेशविवर्ति।

(सूत्र 140)– जिस (रूपक) में वे (अर्थात् आरोपित धर्म कुछ अंश में) श्रौत (अर्थात् शब्दतः उपात्त और कुछ अशं में) आर्थ (अर्थात् अर्थतः आक्षिप्त) हों वह एकदेशविवर्ति (रूपक) होता है।

कुछ आरोप्यमाण शब्द से गृहीत और कुछ अर्थ के सामर्थ्य से आक्षिप्त होते हैं इसलिए एकदेश में (विशेषण स्पष्टरूपेण वर्तनात्) स्पष्टरूप से विद्यमान होने से वह एकदेशविवर्ति (रूपक) होता है।जैसे–

जिसके रणरूप अन्तःपुर में खंडलता (तलवार) को हाथ में पकड़ते ही युद्धोत्साह से बढ़ती हुई (रससम्मुखी) भी शत्रु सेना सहसा भाग खड़ी होती है पराङ्मुखी भवति ।।

यहाँ 'रण' के ऊपर 'अन्तःपुरत्व' रूप आरोप्यमाण शब्दतः उपात्त है परन्तु 'खंडलता' (मण्डलाग्रलता) का (आरोप्यमाण) 'नागरिकात्व' तथा 'रिपुसेना' का (आरोप्यमाण) 'प्रतिनायिकात्व' अर्थतः आक्षिप्त होता है। इसलिए (रणान्तःपुररूप) एकदेश में स्पष्टरूप से वर्तमान (विशेषण वर्तनात्) यह एकदेशविवर्ति (रूपक) है।

(सूत्र 141) साङ्गमेतत्। उक्तद्विभेदं सावयवम्।

(सूत्र 141) – यह (समस्तवस्तुविषय तथा एकदेशविवर्ति) साङ्ग् रूपक है।

उक्त दोनों भेदों वाला सावयव (रूपक कहलाता) है।

(सूत्र 142) निरङ्गन्तु शुद्धम्

(सूत्र 142)– (इसके विपरीत) शुद्ध (अर्थात् अंगांगिभाव से रहित, अन्य रूपकों से अमिश्रित केवल एक अद्वितीय रूपक) निरंग (रूपक कहलाता) है।

यथा –

कुरङ्गीवाङ्गानि स्तिमितयपि गीतध्वनिषु यत्।
सखीं कान्तोदन्तं श्रुतमपि पुनः प्रश्नयति यत्।
अनिद्रं यच्चान्तः स्वपिति तदहो वेद्म्यभिनवां
प्रवृत्तोस्याः सेक्तुं हृदि मनसिजः प्रेमलतिकाम् ।। 424 ।।

जैसे–

क्योंकि यह (किशोरी नायिका) गाने की आवाज (सुनने) पर हरिणी के सामन अंगों को निश्चल कर लेती है, प्रियतम के (एक बार) सुने हुए समाचार कों भी सखी से बार–बार पूछती हैं (बार–बार सुनना चाहती है) और बिना नींद के भी भीतर (एकान्त में जाकर) सोती (लेटी रहती) है। इससे मैं समझती हूँ कि कामदेव ने इसके हृदय में नयी प्रेमलता को सींचना प्रारम्भ कर दिया है, यह बड़ी प्रसन्नता की बात हैं।। 424।।

यहाँ प्रेम के ऊपर लतिका आरोप किया गया है इसलिए रूपक है। उसके अंग रूप में और कोई रूपक नहीं आया है। इसलिए यह निरंक रूपका उदाहरण है।

(सूत्र 143) माला तु पूर्ववत् ।। 94 ।।

मालोपमायामिवैकस्मिन् बहव आरोपिताः ।

सूत्र 143)– पूर्ववत् (मालोपमा के समान) माला (रूपक) होता है।। 94।।

मालोपमा के सामन एक (आरोपविषय) पर बहुतों का आरोप होता है (तब मालारूपक होता है यथा –

सौन्दर्यस्य तरङ्गिणी तरुणिमोत्कर्षस्य हर्षोद्रमः
कान्तेः कार्मणकर्म नर्मरहसामुल्लासनावासभूः।
विद्या वक्रगिरां विधेरनवधिप्रावीण्यसाक्षात्क्रिया
बाणाः पंचशिलीमुखस्य ललनाचूडामणिः सा प्रिया।। 425।।

अर्थात् स्त्रियों की शिरोमणि वह प्रिया, सौन्दर्य की नदी, नवयौवन के उत्कर्ष की प्रसन्नता का प्रवाह, कान्तिका (कार्मणकर्म) वशीकरण मन्त्र ('कार्मणं मन्त्रतन्त्रादियोजने

कर्मठेपिच'), रतिक्रीडाओं की उद्भावनाका आश्रय स्थान, वक्रोक्तिरूप वाणीकी (अलंकारशास्त्ररूप) विद्या (अर्थात् वक्रोक्ति में निपुण), विधाता की अनन्त निपुणता का साक्षात्कार कराने वाली और कामदेव के (समस्त) बाणरूप है।। 425।।

यहाँ एक प्रियतमारूप उपमेय या अरोपविषय पर सात आरोप्यमाणों का आरोप किया गया है और उन सातों में परस्पर अंगागिंभाव नहीं है इसलिए यह निरंग मालारूपक हैं।

यहाँ तक रूपक के चार भेद किये गये हैं। उसके दिलष्ट तथा अश्लिष्ट परम्परितरूप दो भेद आगे बताये गये हैं।

(सूत्र 144) **नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्य यः।**
तत् परम्परितं श्लिष्टे वाचके भेदभाजि वा।। 95।।

(सूत्र 144)– श्लिष्ट अथवा अश्ष्टि (भेदभाजि) शब्दों के होने पर जो अन्यका अरोप (वर्णनीय होने से) अवश्यापेक्षणीय (नियत अन्य) अर्थ के आरोपका कारण होता है वह परम्परित रूपक (श्लेषमूलक तथा अश्लेषमूलक दो प्रकार का होता है।। 95।।

यथा –

विद्वन्मानसहंस ! वैरिकमलासंकोचदीप्तद्युते !
दुर्गामार्गणनीललोहित ! समित्स्वीकारवैश्वानर !
सत्यप्रीतिविधानदक्ष ! विजयप्राग्भावभीम ! प्रभो !
साम्राज्यं वरवीर ! वत्सरशतं वैरिञ्चमुच्चैः क्रियाः ।। 426 ।।

अर्थात् हे वीरवर राजन् ! विद्वानों के मन (रूप मानसरोवर) के हंस, शत्रुओं की लक्ष्मी के संकोचरूप कमलों के विकास (असंकोच) के लिए सूर्य, दुर्गो अर्थात् किलों के अमार्गण न खोचने रूप दुर्गा अर्थात् पार्वती के मार्गण अर्थात् अनुसन्धान (प्राप्ति) के लिए (नीललोहित अर्थात्) शिव समित् अर्थात् युद्धों के स्वीकार करने रूप समिधाओं (काष्ठ या इन्धन) के स्वीकार के लिए (वैश्वानर) अग्निरूप, सत्यभाषण में प्रीतिरूप और सती अर्थात् पार्वती की अप्रीति (नाराजी) उसके करने में दक्षप्रजापतिरूप, विजय अर्थात् शत्रुका पराभव ही विजय अर्थात् अर्जुन, उसका प्राग्भाव अर्थात् अर्जुन की अपेक्षा प्रथम उत्पत्ति, उसके लिए भीमरूप, हे वीरवर (वर अर्थात् श्रेष्ठों में वीर) आप ब्रह्मा के सौ वर्ष तक (वैरिञ्चं वत्सरशतं) महान् साम्राज्य को अर्थात् चक्रवर्ती राज्य को) करो।। 426।।

यह श्लिष्ट मालारूप परम्परित रूपक का उदाहरण है, क्योंकि यहाँ विद्वानों के मनरूप उपमेय, पर मानसरोवररूप 'मानस' का आरोप होने से ही राजा के ऊपर हंस का आरोप हो सकता है। इसलिए यह परम्परित रूपक का लक्षण घटता है। मानस शब्द श्लिष्ट है। एक पक्ष में उसका अर्थ मन और दूसरे पक्ष में मानसरोवर अर्थ होता है। इसलिए यह श्लिष्ट रूपक का लक्षण उसमें समन्वित होता है। इसी प्रकार शत्रुओं की कमला अर्थात् लक्ष्मी का संकोच ही कमलों का असंकोच अर्थात् विकास उसके लिए दीप्तद्युति अर्थात् सूर्यरूप, इसमें शत्रुओं की कमला के संकोच के ऊपर कमलों के असंकोच का आरोप होने से राजा के ऊपर सूर्य का आरोप होता है। इसलिए परम्परित रूपक, और कमलासंकोच पदके श्लिष्ट होने से श्लिष्ट परम्परित रूपका उदाहरण होता है। इसी प्रकार दुर्गका अमार्गण अर्थात् युद्ध के लिए किले की शरण न लेने पर दुर्गा अर्थात् पार्वती के मार्गण अर्थात् प्राप्ति का आरोप होने से ,राजा के ऊपर नीलहोहित अर्थात् शिव का आरोप होने से यह परम्परित रूपक और 'दुर्गामार्गण' पद के श्लिष्ट होने से श्लिष्ट–परम्परित रूपक होता है।

भेदभाजि यथा–

आलानं जयकुंजरस्य द्दषदां सेतुर्विपद्वारिधेः
पूर्वाद्रिः करवालचण्डमहसो लीलोपधानं श्रियः।
संग्रामामृतसागरप्रमथनक्रीडाविधौ मन्दरो
राजन् ! राजति वीरवैरिवनितावैधव्यदस्ते भुजः।। 427।।

अत्र जयादेर्भिन्नशब्दवाच्यस्य कुजंरत्वाद्यारोपे भुजस्य आलानत्वाद्यारोपो युज्यते।

इति च अमालारूपकमपि परम्परितं द्रष्टव्यम्।

(भेदभाजि अर्थात् वाचक के) अशलिष्ट होने पर (उदाहरण) जैसे–

हे राजन् ! शुत्राओं की स्त्रियों को वैधव्य–प्रदान करने वाला (अर्थात् शत्रुओं का नाश करने वाला) आपका बाहु विजयरूप हाथी का बन्धनस्तम्भ (आलान) है, विपत्ति–रूप सागर (को पार करने) के लिए पत्थरों का बना (पक्का) पुल है, तलवार के प्रचण्ड तेजरूप (चण्डमहसः अर्थात्) सूर्यका उदयाचल, लक्ष्मीके आराम करने का तकिया, संग्रामरूप अमृत के सागर का मंथन करने की क्रीडा में मन्दराचलरूप शोभित हो रहा है।। 427।।

यहाँ पर अलग–अलग शब्दों से वाच्य जयादि पर कुजंरत्वादि का आरोप होने पर भुजा पर आलान आदि का आरोप बनता है। (इसलिए यह परम्परित रूपक है। आरोप विषय जयादि तथा आरोप्यमाण कुंजरत्वादि दोनों अलग–अलग शब्दों से वाच्य हैं, 'विद्वन्मानस' आदि शब्दों के समान श्लिष्ट पदों से वाच्य नहीं है अतएव यह अश्लिष्ट परम्परित रूपक है। और इस प्रकार के अनेक आरोप एक ही भुजा के ऊपर किये गये हैं, इसलिए यह अश्ष्टि परम्परित मालारूपक का उदाहरण है ।

आगे श्लिष्ट परम्परित और मालारूपक का उदाहरण हैं–

अलौकिकमहालोकप्रकाशितजगत्त्रयः।

स्तूयते देव! सद्वंशमुक्तारत्नं न कैर्भवान् ।। 428 ।।

लोकोत्तर महादीप्ति से (अथवा महद्‌यश) से तीनों लोकों को प्रकाशित करने और उत्तम वंश (कुल तथा बाँस) के मुक्तारत्नरूप आपकी कौन प्रशंसा नहीं करता है।। 428।।

यहाँ आरोपविषयः उत्तमकुल तथा आरोप्यमाण उत्तम बाँस दोनों को वंशरूप एक ही श्लिष्ट शब्द से कहा गया है। उसके द्वारा वंश अर्थात् कुलके ऊपर वंश अर्थात् बाँसका आरोप लिया गया है। यह आरोप राजा के ऊपर मुक्तारत्न के आरोपका निमित्त होता है। इसलिए यह अश्लिष्ट परम्परित रूपकका उदाहरण है।

आगे अश्लिष्ठ अमालारूप केवल परम्परित रूपका उदाहरण देते हैं –

जिन (विष्णु भगवान्) की अवधिरहित (अर्थात् देश–कालादि से अपरिच्छिन्न) आश्रयरहित (अर्थात् कूर्मावताररूप में सारे जगत् का धारण करने के लिए सबसे नीचे

इत्यादि रशनारूपकं न वैचित्र्यवदिति न लक्षितम्।

निरवधि च निराश्रयं च यस्य स्थितमनिवर्तितकौतुकप्रपंचम्।

प्रथम इह भवान् स कूर्ममूर्तिर्जयति चतुर्दशलोकवल्लिकन्दः।। 429।।

स्थित, फिर भी उसे सबके धारण करने के लिए किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता न होने से) असीम–आश्चर्यमय (कौतुकप्रपंच आश्चर्य का आधिक्य उसको निवर्तित अर्थात् समाप्त न करने वाला अनिवर्तितकौतुकप्रपंच अवस्थान) स्थिति है इस संसार में सबसे प्रथम और चौदह लोकों रूप (लम्बी श्रृंखलात्मक) लता के मूल (कन्द) रूप आप सर्वोत्कर्षयुक्त हैं (आपकी जय हो) ।। 429।।

यहाँ लोक पर बल्ली का आरोप विष्णु पर कन्दत्व के आरोप का कारण होता है, इसलिए यह परम्परित रूपक होता है। लोकपर जो वल्लीका आरोप है उसमें दोनों को अलग–अलग शब्दों से कहा गया है इसलिए वह अश्लिष्ट है और केवल एक ही आरोप किया गया है इसलिए अमाला रूप या केवल है। इस प्रकाय यह अश्ष्टि अमाला रूप परम्परित रूपकका उदाहरण हुआ। और यह अमालारूप रूपक भी परम्परित होता है, यह जानना चाहिये। रशनारूपक अनावश्यक है यद्यपि मालारूपक के सामन रशनारूपक भी हो सकता है, परन्तु उसमें विशेष चमत्कार न होने और इन्हीं रूपक भेदों में उसका अन्तर्भाव सम्भव होने से उसको अलग भेद मानने की आवश्यकता नहीं है। इसी बात का प्रतिपादन करने के लिए रशनारूपक के सम्भावित उदाहरण को देकर ग्रन्थकार अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं –

अपह्नुति अलंकार

(सूत्र 145) प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः।

उपमेयमसत्यं कृत्वा उपमानं सत्यतया यत्स्थाप्यते सा त्वपह्नुतिः उदाहरणम्–

किसलयकरैर्लतानां करकमलैः कामिनां मनो जयति।
नलिनीनां कमलमुखैर्मुखेन्दुभिर्योषितां मदनः।। 430।।

(सूत्र 145)– प्रकृत (अर्थात् उपमेय) का निषेध करके जो अन्य (अर्थात् उपमान) की सिद्धि की जाती है वह 'अपह्नुति' (अलंकार कहलाता) हैं।

उपमेय को असत्य सिद्ध करके उपमान को ही सत्यरूप से जो स्थापित किया जाता है वह तो अपह्नुति होती है।

अर्थात् लताओं के किसलय रूप हाथों से (योषितां अर्थात्) कामिनियों के कर–कमलों से, कमलिनियों के कमलरूप मुखों से और (योषितां) कामिनियों के मुखचन्द्रों से कामदेव (कामियोंके) मनको वश में कर लेता है।। 430।।

यह अपह्नुति भी शाब्दी तथा आर्थी भेद से दो प्रकार की होती है। जहाँ प्रकृतका निषेध शब्दतः किया जाता है वह शाब्दी अपह्नुति कहलाती है और जहाँ निषेध शब्दतः न करके अर्थतः आक्षिप्त होता है वह आर्थी अपह्नुति कहलाती है। आर्थी अपह्नुति में प्रकृत का निषेध करने के लिए कहीं कपटार्थक कहीं परिणामार्थक शब्दों का ग्रहण किया जाता है। और कहीं अन्य उपायोंका भी अवलम्बन किया जाता है। उनमें से पहले शाब्दी अपह्नुति का उदाहरण –

अवाप्तः प्रागल्भ्यं परिणतरूचः शैलतनये!
कलंको नैवायं विलसति शंशाकंस्य वपुषि।
अयुष्येयं मन्ये विगलदमृतस्यन्दशिशिरे
रतिश्रान्ता शेते रजनिरमणी गाढमुरसि।। 431।।

शाब्दी अपह्नुतिका उदाहरण –

हे पार्वति (शैलतनये) ! परिपूर्ण (परिणतरूचः) चन्द्रमाके शरीर (अर्थात् वक्षःस्थल) में प्रगल्भता को प्राप्त (अत्यन्त प्रौढ़) यह कलंक नहीं दिखलायी देता है, वल्कि ऐसा प्रतीत होता है (मन्ये) कि इसके अमृतके प्रवाह से शीतल वक्षःस्थल पर रतिसे परिश्रान्त हुई रात्रिरमणी (निशानामी चन्द्रपती) सो रही है।।431।।

यहाँ उपमेयभूत कलंकां निषेध करके उपमानभूत रात्रिकी स्थापना की गयी है इसलिए यह अपह्नुति अलंकार है। इसमें भी 'कलंकों नैवायं' कहकर शब्दतः उपमेय का निषेध होने से यह शाब्दी अपह्नुति हैं।

जहाँ प्रकृतका निषेध शब्दतः नहीं होता अपितु अर्थतः आक्षिप्त होता है वहाँ आर्थी अपह्नुति होती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आर्थी अपह्नुति में कभी कपटार्थक शब्द के प्रयोग द्वारा और कभी परिणामार्थक शब्दों के प्रयोग द्वारा प्रकृत के निषेध का बोधन किया जाता है। इन दोनों प्रकार की आर्थी अपह्नुति के दो उदाहरण

आगे देते हैं।अथवा (कपटार्थक शब्द के प्रयोग द्वारा आर्थी अपह्नुतिका उदाहरण) जैसे–

इत्थं वा–

बत सखि ! कियदेतत् पश्य वैरं स्मरस्य
प्रियविरहकृशेस्मिन् रागिलोके तथा हि।
उपवनसहकारोद्भासिभृङ्ग्च्छलेन
प्रतिविशिखमनेनोट्टङ्कित्तं कालकूटम्।। 432।।

अत्र हि न सभृङाग्णि सहकाराणि, अपि तु सकालकूटाः शरा इति प्रतीतिः।

हाय सखि, देखो तो प्रिय के विरह से दुबले हुए रागी लोगों के प्रति कामदेव का कितना वैरभाव है कि बगीचे के आम के बौरों पर बैठे हुए (शोभित) भौंरों के बहाने से इसने (अपने) प्रत्येक बाणपर कालकूट विष लगा दिया है।। 432।।

यहाँ यह भौंरो से युक्त आम के बौर नहीं हैं अपितु कालकूट विष सहित (कामदेव के) बाण हैं यह प्रतीति होती है। इस प्रकार अर्थात् भ्रमरयुक्त सहकारों के बौरों का निषेध करके कालकूटयुक्त बाणों की स्थापना की जाने से यह आर्थी अपह्नुतिका उदाहरण है। इस उदाहरण में प्रकृत के निषेध के लिए कपटार्थक 'छल' पदका प्रयोग किया गया है।

परिणामार्थक शब्द के प्रयोग द्वारा प्रकृत अर्थ के निषेध का अगला उदाहरण –

इसी प्रकार परिणामार्थक शब्द के प्रयोग द्वारा आर्थी अपह्नुति का उदाहरण– एवं वा –

अमुष्मिँल्लावण्यामृतसरसि नूनं मृगदृशः
स्मरः शर्वप्लुष्टः पृथुजघभागे निपतितः।
यदङ्गाग्राणां प्रशमपिशुना नाभिकुहरे
शिखा धूमस्येयं परिणमति रोमावलिवपुः ।। 433 ।।

अत्र न रोमावलिः, धूमशिखेयमितिः प्रतिपत्ति। एवमियं भङ्ग्यन्तरैरप्यूह्या।

निश्चय ही इस मृगनयनी के लावण्यरूप अमृत के तालाबरूप विस्तीर्ण जघनभाग (वरांगदेश) में (सन्तापशान्तिके लिए) शिवजी के द्वारा दग्ध किया हुआ कामदेव गिर पड़ा है जिसके अंगरूप अंगारोंके बुझने की सूचना देने वाली धूमकी शिखा रामावलिके रूपमें नाभिके कुहरमें दिखलायी देती है।। 433।।

यहाँ रोमावलि नहीं है अपितु घूमशिखा है, इस प्रकार की प्रतीति होती है। जिसमें प्रकृत रोमावलिका अर्थतः निषेध सूचित होता है इसलिए यह आर्थी अपह्नुतिका उदाहरण हैं।

आर्थी अपह्नुति में प्रकृत के निषेध के लिए इन दो मार्गो के अतिरिक्त अन्य उपायोंका भी अवलम्बन किया जा सकता है। जैसे, सप्तम उल्लास में उदाहरण सं0 265 में 'इदं ते केनोक्तं' कहकर प्रकृत निषेध का प्रदर्शन किया गया है। इसी प्रकार –

अंग केपि शशंकिरे जलनिधेः पंग परे मेनिरे
सारंग कतिचिच्च सजंगदिरे भूच्छायमैच्छन् परे।
इन्दौ यद्गलितेन्द्रनीलशकलश्यामं दरीदृश्यते
तत् सान्द्रं निशि पीतमन्धतमसं कुक्षिस्थमाचक्ष्महे ।।

इत्यादिरूप से भी प्रकृतका निषेध करने की अन्य ही शैली अपनायी जा सकती है।

साहित्यदर्पणकार ने अपह्नुति का एक और भी स्वरूप माना है। उसका लक्षण यह किया है–

गोपनीयं कमप्यर्थे द्योतयित्वा कथजंन।
यदि श्लेषेणान्यथा वान्यथयेत् साप्यपह्वतिः।।

अर्थात् यदि किसी गोपनीय अर्थको कहकर फिर श्लेषके द्वारा या किसी अन्य प्रकार से उसको छिपाने का यत्न किया जाय तो वह भी अपह्नुति अलंकारका उदाहरण होता है। जैसे–

काले वारिधराणामपतितया नैव शक्यते स्थातुम्।
उत्कण्ठितासि तरले ! नहि नहि सखि ! पिच्छिलः पन्थाः।।

अर्थात् वर्षाकाल में 'अनतितया' (बिना पति के) नहीं रहा जा सकता है ऐसा कहकर किसी नायिका ने अपनी सखी के सामने पतिमिलन की उत्सुकता को प्रगट किया। परन्तु जब सखी उसका उपहास करके पूछने लगी कि 'अच्छा, आप पतिमिलन के लिए व्याकुल हो रही है ? तब नायिका ने 'अपतितया' शब्द का श्लेष से 'बिना गिरे', 'बिना फिसले' यह अर्थ लेकर अपने उस उत्कण्ठाव्यंजक मूल भाव को छिपाने का प्रत्यन किया है। इसलिए यह भी अपह्वति अलंकार का उदाहरण है।

अभ्यास प्रश्न –

1–प्रश्न –एक वाक्य में एक ही के उपमान तथा उपमेय होने पर कौन सा अलंकार होता है।

2–प्रश्न– उपमान और उपमेय का परिवर्तन हो जाना क्या कहलाता हैं

3–प्रश्न– उपमेय में उपमानरूप से संशय, कौन सा अलंकार है।

4–प्रश्न– उपमान और उपमेयका जो अभेद है वह कौन सा अलंकार है।

5–प्रश्न– उपमा और रूपक के भेद को क्या कहते है ?

3.4 सारांश

इस इकाई के अन्तर्गत उपमेयोपमा के प्रमुख भेद एवं अनन्वय उदाहरण सहित व्याख्या प्रस्तुत है अपह्नुति भी शाब्दी तथा आर्थी भेद से दो प्रकार की होती है। जहाँ प्रकृत का

निषेध शब्दशः किया जाता है वह शाब्दी अपह्नुति कहलाती है और जहाँ निषेध शब्दतः न करके अर्थतः आक्षिप्त होता है वह आर्थी अपह्नुति कहलाती है। आर्थी अपह्नुति में प्रकृत का निषेध करने के लिए कहीं कपटार्थक कहीं परिणामार्थक शब्दों का ग्रहण किया जाता है, और कहीं अन्य उपायों का भी अवलम्बन किया जाता है। रूपक अलंकार के एक से अधिक भेदों का वर्णन इस इकाई में प्रस्तुत है। आप इसका अध्ययन करने के बाद उपमेयापमा, अनन्वय,आदि अलंकारों का लक्षण करके उदाहरण सहित समझा सकेगें ।

3.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
गोपनीयम्	गोपनीय
कमप्यर्थे	किसी अर्थ में
द्योतति	चमकने पर
यदि	यदि
श्लेषेणा	श्लेष के द्वारा

3.6. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उत्तर–एकवाक्य में एक ही के उपमान तथा उपमेय होने पर अनन्वय अलंकार होता है।
उत्तर –उपमान और उपमेय का परिवर्तन हो जाना उपमेयोपमा अलंकार कहलाता हैं
उत्तर –उपमेय में उपमानरूप से संशय, सन्देह नामक अलंकार है।
उत्तर –उपमान और उपमेयका जो अभेद है वह रूपक अलंकार है।
उत्तर –उपमा और रूपक के भेद को धर्म कहते है।

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1–ग्रन्थ नाम	लेखक	प्रकाशक
शिवराजविजय	अम्बिकादत्तव्यास	चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी
2–संस्कृत साहित्य का इतिहास . शारदा निकेतन सिगरा वाराणसी	बलदेव उपाध्याय	प्रकाशक वी, कस्तुरवानगर
3–ग्रन्थ नाम	लेखक	प्रकाशक
किरातार्जुनीयम्	भारवि	चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी
4–काव्यप्रकाश	आचार्य मम्मट	चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी

3. 8 उपयोगी पुस्तकें

4–काव्यप्रकाशआचार्यमम्मटचौखम्भासंस्कृत भारती वाराणसी

3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. अन्वय अलंकार का परिचय दीजिये ।
2.उपमेयोपमा का वर्णन कीजिए ।
3. अपह्नुति अलंकार को परिभाषित कीजिए ।

इकाई–4–श्लेष, समासोक्ति, निदर्शना, अतिशयोक्ति ,दृष्टान्त, तुल्ययोगिता एवं विभावना, विशेषोक्ति के विस्तृत विवेचन

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 श्लेष, समासोक्ति, निदर्शना, अतिशयोक्ति ,दृष्टान्त ,तुल्ययोगिता एवं विभावना, विशेषोक्ति के विस्तृत विवेचन

4.4 सारांश

4.5 शब्दावली

4.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4.8 उपयोगी पुस्तकें

4.9 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

काव्यशास्त्र से सम्बन्धित खण्ड एक की यह चौथी इकाई है। इस इाकई के अध्ययन से आप बता सकते है कि काव्यशास्त्रीय परम्परा में श्लेष, समासोक्ति, निदर्शना, अतिशयोक्ति ,दृष्टान्त ,तुल्ययोगिता एवं विभावना, विशेषोक्ति अलंकारों का विवेचन किस प्रकार हुआ है । इन सबका विवेचन इस इकाई में आपके अध्ययनार्थ प्रस्तुत किया गया है।

श्लेष अलंकार श्लिष्ठ पद में होता है,संक्षेप की उक्ति को समासोक्ति कहते हैं।निदर्शना,वस्तुओं के असम्भव सम्बन्ध में उपमा का परिकल्पक होती है।उपमान का निगरण करना अतिशयोक्ति कहलाता है।इसी प्रकार उपमेय और उपमान का प्रतिबिम्बन दृष्टान्त कहलाता है। कार्य कारण के अध्ययन से सम्बद्ध विभावना और विशेषोक्ति कहलाता है ।

अतः इस इकाई के अध्ययन के बाद आप श्लेष, समासोक्ति, निदर्शना, अतिशयोक्ति ,दृष्टान्त,तुल्ययोगिता एवं विभावना, विशेषोक्ति आदि अलंकारों का विवेचन कर सकेगें ।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप श्लेष,समासोक्ति,निदर्शना, अतिशयोक्ति, दृष्टान्त तुल्ययोगिता एवं विभावना , विशेषोक्ति का अध्ययन करके –

- श्लेष अलंकार की पकृति बता सकेंगे।
- समासोक्ति अलंकार का लक्षण करेंगे।
- अतिशयोक्ति अलंकार का निरूपण कर सकेंगे ।
- दृष्टान्त अलंकार के स्वभाव को बता सकेंगे ।

4.3 श्लेष,समासोक्ति,निदर्शना, अतिशयोक्ति,दृष्टान्त,तुल्ययोगिता एवं विभावना,विशेषोक्ति के विस्तृत विवेचन

श्लेष अलंकार

(सूत्र 146) श्लेषः स वाक्ये एकस्मिन् यत्रानेकार्थता भवेत् ।। 96 ।।

(सूत्र 146) – जहाँ एक ही वाक्य में अनेक अर्थ हों वह श्लेष होता है।। 96।।
एकार्थप्रतिपादकानामेव शब्दानां यत्रानेकोर्थः स श्लेषः।
एक ही अर्थ के प्रतिपादक शब्दों के जहाँ अनेक अर्थ होते हैं वहॉ शब्दपरिवृत्तिसह' होने के कारण अर्थालंकार रूप श्लेष अलंकार होता है। उदाहरण–

उदयमयते दिङ्मालिन्यं निराकुरूतेतरां
नयति निधनं निद्रामुद्रां प्रवर्तयति क्रियाः।
रचयतितरां स्वैराचारप्रवर्तनकर्तनं
बत बत लसत्तेजःपुंजो विभाति विभाकरः ।।

अत्राभिधाया अनियन्त्रणात् द्वावप्यर्कभूपौ वाच्यौ।

अर्थात् देदीप्यमान तेज समूह से युक्त विभाकर नामक राजा विभाकर अर्थात् सूर्य के समान शोभित हो रहा है। वह सूर्य के समान ही उदय को प्राप्त होता है, दिशाओं की मलिनता सूर्य के पक्ष में अन्धकार तथा राजा के पक्ष में पापाचरण को विनष्ट करता है, सोने की अवस्था निरूत्साहता का नाश करता है और राजा के पक्ष में गमनागमनादिरूप तथा सूर्यपक्ष में सन्ध्योपासनादि रूप विहित क्रियाओं को प्रवृत्त करता है। और सूर्य पक्ष में अभिसार आदि प्रवृत्तियों का उच्छेद (कर्तन) करता है। इस प्रकार देदीप्यमान तेज समूह से विभूषित विभाकर राजा, विभाकर अर्थात् सूर्य के समान शोभित हो रहा है यह बड़ी प्रसन्नता की बात है । 434।।

यहाँ अभिधा का नियन्त्रण न होने से विभाकर शब्द से सूर्य तथा राजा दोनों वाच्य है। जहाँ एक ही शब्द से दो या अनेक अर्थो की प्रतीति होती है वहाँ वह वस्तुतः एक शब्द नहीं होता है अपितु समानाकार अनेक शब्दों का जतुकाष्ठन्याय से श्लेष होता हैं।

नवम उल्लास में सूत्र 121 में श्लेष नामक शब्दालंकार का निरूपण हुआ है। यहाँ अर्थालंकार रूप श्लेष का वर्णन किया जा रहा है। श्लेष के इस शब्दालंकारत्व तथा अर्थालंकारत्व रूप द्विविध स्वरूप का नियामक 'शब्दपरिवृत्तिसहत्व तथा 'परिवृत्त्यसहत्व' ही है। जहाँ शब्दका परिवर्तन करके दूसरा समानार्थक शब्द रख देने पर श्लेष नहीं रहता है वहाँ श्लेष को, शब्दनिष्ठ होने से, शब्दालंकार माना जाता है। और जहाँ शब्द का परिवर्तन कर देने पर भी श्लेषके चमत्कार की हानि नहीं होती है वहाँ अलंकार शब्दनिष्ठ नहीं अपितु अर्थनिष्ठ होता है इसलिए उसको अर्थालंकार माना जाता है।

प्रस्तुत उदाहरण में विभाकर नामक राजा की सूर्य के साथ समता दिखलाते हुए, स्तुति की गयी है। विभाकर यह शब्द विभाकर नामक राजा तथा सूर्य दोनों का वाचक हे। उसका परिवर्तन कर देने पर दोनों अर्थो की प्रतीति न होने से श्लेष नहीं रहता है इसलिए यह परिवृत्त्य सह है। अतः इस अंशमें शब्दश्लेय है। शेष सब विशेषण विभाकर राजा तथा सूर्य दोनों पक्षों में घट जाते हैं और शब्दों का परिवर्तन कर देने पर भी श्लेष की हानि नहीं होती है, इसलिए उनमें अर्थालंकार रूप श्लेष होता है।

1. समासोक्ति अलंकार

(सूत्र 147) परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टेः समासेक्तिः

प्रकृतार्थप्रतिपादकवाक्येन श्लिष्टविशेषणमाहात्म्यात्, न तु विशेष्यस्य सामर्थ्यादपि, यत् अप्रकृतार्थस्याभिधानं या समासेन संक्षेपेणार्थद्वयकथनात् समासोक्तिः।

(सूत्र 147) – श्लेषयुक्त विशेषणों द्वारा पर अर्थात् अप्रकृत के व्यवहार का कथन 'समासेन संक्षेपेणः उक्तिः' दो अर्थों का संक्षेप से कथन होने के कारण समासोक्ति अलंकार कहलाता है।

उदाहरणम् –

लब्ध्वा तब बाहुस्पर्शं यस्या : स कोप्युल्लासः।
जयलक्ष्मीस्तव विरहे न खलूज्ज्वला दुर्बला ननु सा ।।

अत्र जयलक्ष्मीशब्दस्य केवलं कान्तावाचकत्वं नास्ति।

यहाँ केवल (विशेष्यवाचक) जयलक्ष्मी शब्द (अप्रकृत) कान्ता रूप अर्थ का वाचक नहीं है अपितु श्लेष युक्त विशेषणों के द्वारा जय लक्ष्मी शब्द नायिका का बोधक भी होता है।

रूपक और समासोक्ति में अन्तर

रूपक अलंकार में प्रकृत पर अप्रकृत विशेष्य का आरोप होता है और समासोक्ति में प्रकृत व्यवहार में अप्रकृतव्यवहार का आरोप होता है। यह रूपक तथा समासोक्ति का भेद है। इसलिए 'यस्य रणान्तःपुरे' इत्यादि उदाहरण सं0 423 में एकदेशविवर्ति रूपक के उदाहरण में समासोक्ति अलंकार नहीं होता है। और यहाँ 'लब्ध्वा तथा बाहुस्पर्शे' आदि में विशेष्य का नहीं अपितु केवल व्यवहार मात्रका आरोप होने से रूपक नहीं होता है। यही रूपक तथा समासोक्तिका भेद है। आगे 'अतिशयोक्ति' अलंकारका लक्षण करते हैं। अलंकारों के पूर्व वर्गीकरण में अतिशयोक्ति को अध्यवसायमूलक अभेदप्रधान अलंकार माना गया है। इसका लक्षण निम्न है –

(सूत्र 148)

निदर्शना अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः ।।

अतिशयोक्ति अलंकार

(सूत्र 152) **निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत्**
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनाम्।।

कार्याकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः।
विज्ञेयातिशयोक्तिः सा।

सूत्र 152) अर्थात् जहाँ पर (1) उपमान के द्वारा (परेण) (उपमेय का) निगरण (अन्तर्भाव, पृथक् कथन न करना) करके जो 'अध्यवसान' करना है होता है वह प्रथम प्रकार की तथा, (2) प्रस्तुत अर्थ का अन्य रूप से वर्णन् द्वितीय प्रकार की, (3) 'यदि' के समानार्थक शब्द लगाकर जो कल्पना करना होता है वह तृतीय प्रकार की और (4) कार्य–कारण के पौर्वापर्य का जो विपर्यय है वह चतुर्थ प्रकार की अतिशयोक्ति समझनी चाहिये।

(1)उपमानेनान्तर्निगीर्णस्योपमेयस्य यदध्यवासानं सैका। यथा–

(1) उपमान के द्वारा भीतर निगल लिये गये (अर्थात् पृथक् न कहे हुए) उपमेयका जो अध्यवसान (अर्थात् उपमानके साथ आहार्य या कल्पित अभेदनिश्चय) होता है (वह प्रथम प्रकार की) यह (अतिशयोक्ति) होती है। जैसे–

कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम्।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम् ।।
(2)यच्च तदेवान्यत्वेनाध्यवसीयते सापरा यथा
अन्यत् सौकुमार्यमन्यैव च कापि वर्तनच्छाया।
श्यामा सामान्यप्रजापतेः रेखैव च न भवति ।।

अर्थात् अपनी प्रियतमा को देखकर उसकी सखी के प्रति नायक की यह उक्ति है बिना जल के कमल रूप नायिका का मुख, कमल में दो नील कमल (रूप नेत्र) और वे (एक कमल तथा दो नील कमल नायिका के गौरवर्ण शरीर रूप) सान की लता में (लगे हुए हैं) और वह (सोने की लतारूप शरीर भी) सुकुमार तथा सुन्दर है यह कैसी अनर्थ–परम्परा है ।।

यहाँ पर उपमानरूप कमल आदि के द्वारा उपमेयभूत मुख आदि का निगरण करके) कमल आदिरूप से अभिन्नतया निश्चित किये गये हैं ,इसलिए यह प्रथम प्रकार की अतिशयोक्तिका उदाहरण है।

इस प्रथम प्रकार की अतिशयोक्ति में उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण करके उपमान के साथ उसका आहार्य अभेद निश्चय किया गया है। अर्थात् इसमें धर्मी का अभेद प्रतिपादन किया गया है। अतिशयोक्ति के दूसरे भेद में धर्मी का अभेद नहीं होता है इसी बात को 'प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं' इस कारिकांश के द्वारा कहते द्वितीय भेद का लक्षण करते हैं –

(2) और जो उस ही (अर्थात् प्रस्तुत) का अन्य (अपूर्व) रूपसे (आहार्य अर्थात् कल्पित) भेद निश्चय किया जाता है (अर्थात् समानजातीय वस्तुको उससे भिन्न असमानजातीय बतलाया जाता है) यह दूसरे प्रकार की (अतिशयोक्ति) होती है। जैसे–

उस नायिकाका सौन्दर्य कुछ और ही (लोकोत्तर) है और उसके 'वर्तते इति वर्तनं शरीरम्'' शरीर की कान्ति भी कुछ और ही अलौकिक–सी है। उष्ण–काल में शीत देहवाली और शीतकाल में उष्ण देहवाली षोडशवर्ष देशीया नायिका रूपी) 'श्यामा' साधारण ,संसार के बनाने वाले ब्रह्मा की रचना ही नहीं हो सकती हैं।। 451 ।।

यहाँ लोकप्रसिद्ध सौन्दर्य तथा शरीर की कान्ति का ही कवि ने 'अन्य' अर्थात् अलौकिक लोकोत्तररूप में वर्णन किया है। इसलिए यह द्वितीय प्रकार की अतिशयोक्तिका उदाहरण है। तृतीय प्रकार की अतिशयोक्ति –

(3) 'यद्यर्थस्य' यदिशब्देन चेच्छब्देन वा उक्तौ यत्कल्पनम् (अर्थाद्सम्भविनो•र्थस्य) सा तृतीया। यथा–

राकायामकलंक चेदमृतांशोर्भवेद्वपुः ।
तस्या मुखं तदा साम्यपराभवमवाप्नुयात् ।। 452।।

(3) 'यद्यर्थ' के अर्थात् 'यदि' शब्द से अथवा (उसके समानार्थक) 'चेत्' शब्द के द्वारा कथन करने में जो कल्पना अर्थात् असम्भव अर्थकी कल्पना है वह तीसरे प्रकार की (अतिशयोक्ति होती है) जैसे–

पूर्णिमा की रात्रि में यदि चन्द्रमा का बिम्ब कलंकरहित हो तब उस (नायिका) का मुख चन्द्रमासे साद्दश्यरूप पराभव को प्राप्त कर सकता है।। 452।।

(4)**कारणस्य शीघ्रकारितां वक्तुं कार्यस्य पूर्वमुक्तौ चतुर्थी। यथा–**

हृदयमधिष्ठितमादौ मालत्याः कुसुमचापबाणेन।
चरमं रमणीवल्लभ ! लोचनविषयं त्वया भजता ।। 453।।

(4) कारणकी शीघ्रकारिता को कहने के लिए कार्यका (कारणकी अपेक्षा) पूर्वकथन करने पर कार्यकारण के पौर्वापर्य की विपर्यय रूपी चौथे प्रकार की अतिशयोक्ति होती ह) जैसे–

हे रमणीवल्लभ (स्त्रियों के प्रिय नायक)! पुष्प ही जिसका धनुष तथा बाण हैं उस कामदेव ने मालती नायिका के हृदय पर पहिले ही अधिकार कर लिया और तुमने द्दष्टिगोचर होकर बाद में उसके हृदय पर अधिकार कर पाया ।। 453 ।।यह श्लोक दामोदरगुप्त–विरचित 'कुट्टनीमत' नामक काव्यमें 96 संख्या का पद्य है।

दृष्टान्त अलंकार

लक्षण निम्नलिखित है–

(सूत्र 154) **दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् ।।**

एतेषां साधारणधर्मादीनाम् । द्दष्टोन्तो निश्चयो यत्र स दृष्टान्तः ।

(1) **त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वाति मनो मनोभवज्वलितम् ।**
आलोके हि हिमांशोर्विकसति कुसुमं कुमुद्वत्याः ।।

है –

(सू0 154) उपमान, उपमेय, उनके विशेषण और साधारणधर्म आदि सबका भिन्न होते हुए भी औपम्य के प्रतिपादनार्थ उपमानवाक्य तथा उपमेयवाक्य में पृथरगुपादानरूप 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव' होने पर द्दष्टान्तालंकार होता है।।

इनका अर्थात् उपमान, उपमेय, उनके विशेषण और साधारण धर्म आदि का बिम्बप्रतिबिम्बभाव होने पर दृष्टान्तालंकार होता है। यह द्दष्टान्त का लक्षण हुआ। आगे 'दृष्टान्त' शब्द का अवयवार्थ –जहाँ दृष्टान्तवाक्य या उपमान वाक्य के साथ बिम्बप्रतिबिम्बभाव के द्वारा दार्ष्टान्तिकवाक्य या उपमेयवाक्य के अर्थ का 'अन्त' अर्थात् निश्चय देखा जाता है वह दृष्टान्त अलंकार होता है यह दृष्टान्त शब्दका अर्थ है। इसलिए दृष्टान्तालंकार का नामकरण अन्वर्थ है। जैसे –

(1) तुमको (अर्थात् नायक को) देखते ही उस (नायिका) का कामसे सन्तप्त हृदय शान्त हो जाता है (इसके लिए द्दष्टान्त देते हैं जैसे) चन्द्रमा को देखने पर कुमुदिनीका फूल खिल उठता है।। 456 ।।

इस उदाहरण में नायक तथा चन्द्रमा का, नायिका तथा कुमुदिनी का और मन तथा कुसम का, मनोभवसन्तप्तत्व तथा सूर्यसन्तप्तत्व का निर्वाण तथा विकास का बिम्बप्रतिबिम्बभाव होने से दृष्टान्तालंकार हैं।

एष साधर्म्येण। वैधर्म्येणतु –

(2) तवाहवे साहसकर्मशर्मणः करं कृपाणान्तिकमानिनीषतः ।
भटाः परेषां विशरारूतामगुः दधत्यवाते स्थिरतां हि पांसवः ।। 457।।

यह साधर्म्य से दृष्टान्तालंकार का उदाहरण है। वैधर्म्य से दृष्टान्तालंकार का उदाहरण –

(2) हे राजन् ! साहसपूर्ण कामों में आनन्द प्राप्त करनेवाले तुम्हारे तलवार की ओर हाथ बढ़ाते ही शुत्राओं के सैनिक तितर–बितर हो गये भाग खड़े हुए। वायु न चलने पर ही धूल स्थिर रहती है आँधी आने पर धूल नहीं टिक सकती है ।।

इस उदाहरण में धूल तथा शत्रु –सैनिकों का और पलायन एवं अस्थिरत्व का बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। 'पांसवः अवाते स्थिरतां दधति' इसका 'बाते स्थिरतां न दधति' इस रूपमें पर्यवसान होने से यह वैधर्म्य से दृष्टान्तालंकार का उदाहरण बनता है।

. तुल्ययोगिता अलंकार

(सूत्र 157) नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ।।

नियतानां प्राकरणिकानामेव अप्राकरणिकानामेव वा। क्रमेणोदाहरणम् –

(1) **पाण्डु क्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः ।**
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि ! हृदन्तः ।।

(2) **कुमुदकमलनीलनीरजालिर्ललितविलासजुषोर्दृशोः पुरः का।**
अमृतममृतरश्मिरम्बुजन्म प्रतिहतमेकपदे तवाननस्य ।।

अलंकारों के वर्गीकरण में 'तुल्ययोगिता' अलंकार भी निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा आदि अलंकारों के समान 'गम्य औपम्याश्रित' अलंकार है।

(सूत्र 157)– नियत अर्थात् केवल प्रकृत या केवल अप्रकृत अर्थो का एक धर्म के साथ सम्बन्ध होने पर 'तुल्ययोगिता' अलंकार होता है।।

नियतों का अर्थात् केवल प्राकरणिकों का अथवा केवल अप्राकरणिकों का ही एक धर्म के साथ सम्बन्ध होने पर । क्रम से (दोनों) उदाहरण इस प्रकार हैं –

(1) हे सखि ! तेरा पाला पड़ा हुआ सूखा चेहरा, स्नेहसे भरा हुआ हृदय और अलसाया हुआ शरीर तेरे हृदयके असाध्य रोगको सूचित करता है।'क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः' जिस रोग की चिकित्सा इस शरीर अर्थात् इस जन्म में न हो सके उस असाध्य रोग को 'क्षेत्रिय रोग' कहते हैं ।।

इस उदाहरण में विरह के अनुभावरूप में मुख की पाण्डुता और क्षामता, हृदय की सरसता तथा शरीर की असलता आदि ये सभी वर्ण्य या प्रकृत अर्थ है। उनके साथ 'आवेदयति' रूप एक क्रिया का सम्बन्ध है। इसलिए यह तुल्ययोगिता अलंकार है। दीपकालंकारमें एक प्रकृत हों या फिर सभी अप्रकृत हों यह आवश्यक है। यही दीपक से तुल्ययोगितालंकार का भेद है। सभी प्रकृत अर्थों के साथ एक धर्म के सम्बन्ध का यह उदाहरण दिया है। अब सभी अप्रकृत अर्थों के साथ एक धर्म के सम्बन्ध का दूसरा उदाहरण –

(2) नायक, नायिका से कह रहा है कि तुम्हारी सुन्दर और हाव – भावों से भरी हुई इन आँखों के सामने कुमुद, कमल और नीलकमलों की पंक्ति क्या है। इनमें से कोई भी तुम्हारी आँखोंकी बराबरी नहीं कर सकता है और तुम्हारे मुखके सामने अमृत, अमृतरश्मि अर्थात् चन्द्रमा और कमल एकदम मात खा गये हैं।।

इस उदाहरण में नायिका की आँखों तथा मुख के सौन्दर्य का वर्णन करना है इसलिए पूर्वार्द्ध में नेत्र तथा उत्तरार्द्ध में मुख, वर्ण्य होने से, प्रकृत हैं। उनके उपमानरूप पूर्वार्द्धमें कुमुद, कमल और नीरजालि तथा उत्तरार्द्ध में अमृत, अमृतरश्मि, अम्बुजन्म, सब अप्रकृत हैं। पूर्वार्द्ध में उन सब अप्रकृत अर्थो के साथ 'का' पदसे अभिव्यङग्य अधिक्षेप या निन्दारूप एक धर्म का सम्बन्ध पाया जाता है। इसी प्रकार उत्तरार्द्ध में कुमुद, कमल आदि सभी अप्रकृत अर्थों के साथ 'प्रतिहतत्व' रूप एक धर्म का सम्बन्ध होने से ये दोनों तुल्ययोगिता के उदाहरण बन जाते हैं।

विभावना अलंकार का लक्षण

(सूत्र 161) **क्रियायाः प्रतिषेधेपि फलव्यक्तिर्विभावना ।। 107।।**
हेतुरूपक्रियाया निषेधपि तत्फलप्रकाशनं विभावना। यथा–
कुसुमितलताभिरहताप्यधत्त रूजमलिकुलैरदष्टापि।
परिवर्त्तते स्म नलिनीलहरीभिरलोलिताप्यघूर्णत सा ।।

(सूत्र 161) – 'क्रियतेनयेति क्रिया' इस व्युत्पत्ति के अनुसार यहाँ क्रिया शब्द कारणका बोधक है। इस कारण का अभाव या निषेध होने पर भी फलकी उत्पत्ति का वर्णन होने पर विभावना अलंकार होता है।

हेतु रूप क्रिया अर्थात् कारण का निषेध अथवा अभाव होने पर भी फल की उत्पत्ति विभावना अलंकार कहलाता है। उदाहरण –

खिली हुई लताओं से ताडित न होने पर भी वह नायिका पीड़ा को प्राप्त हो रही थी, भ्रमर –कुल से न काटे जाने पर भी तड़प रही थी और कमलिनियों से युक्त लहरों के चक्कर में पड़े बिना भी चक्कर खा रही थी।। 474।।

यहाँ लताओं की चोट पीड़ा का हेतु हो सकती थी, भ्रमरका काटना तड़पने का और कमलिनियों की लहरों के चक्कर में फँस जाना चक्कर आने का कारण हो सकता था। परन्तु उन कारणों का निषेध करने पर भी कार्यका प्रकाशन किया गया है। इसलिए यह विभावनालंकार का उदाहरण है।

विशेषोक्ति अलंकार :–

(सूत्र 162) **विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः।**

मिलितेष्वपि कारणेषु कार्यस्याकथनं विशेषोक्तिः। अनुक्तनिमित्ता उक्तनिमित्ता अचिन्त्यनिमित्ता च। क्रमेणोदाहरणम् –

(1) **निद्रानिवृत्तावुदिते द्युरत्ने सखीजने द्वारपंद पराप्ते।**
श्लथीकृताश्लेषरसे भुजंगे चचाल नालिङ्ग्नतोङ्ग्ना सा ।। ।

यह विशेषोक्ति भी विरोधमूलक अलंकार माना गया है, उसका लक्षण आगे देते हैं–

(सूत्र 162)– सम्पूर्ण कारणों के होने पर फल का न कहना विशेषोक्ति है।

(प्रसिद्ध) कारणों के एकत्र होने पर भी कार्यका कथन न करना विशेषोक्ति (अलंकार) होता है। वह 1. अनुक्तनिमित्ता, 2. उक्तनिमित्ता तथा 3. अचिन्त्यनिमित्ता के भेद से तीन प्रकार की होती है। क्रमशः तीनों उदाहरण –

(1) निद्रा खुल जाने पर, सूर्य का उदय हो आने पर, सखियों के (शयनकक्ष के) दरवाजे पर आ जाने पर और उपपति (भुजंग) के आलिंगनके रसको त्याग देने पर भी वह आलिंगन (बाहुपाश) से विचलित नहीं हुई।। 475।।

इस उदाहरण में निद्रानिवृत्ति, सूर्य का उदय हो जाना तथा सखियों का घर के द्वार पर आ जाना सब आलिंगन–परित्याग के कारण उपस्थित हैं परन्तु नायिका आलिंगन का परित्याग नहीं कर रही हैं। इसलिए कारण के होने पर भी कार्य के न होने से विशेषोक्ति अलंकार है। और उसका निमित्त नहीं बतलाया गया है इसलिए यह अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण है।

(2) **कूर्पर इव दग्धोपि शक्तिमान् यो जने–जने।**
नमोस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै मकरकेतवे ।।

(2) जो (कामदेव) कपूर के समान भस्म हो जाने पर भी जन–जन में शक्तिमान् हो गया है, उस अप्रत्याहत पराक्रम वाले कामदेव को नमस्कार है।। 476।।

इस उदाहरण में भस्म हो जाना शक्ति क्षय का कारण है। उसके विद्यमान होने पर भी कामदेव की शक्तिका क्षय नहीं हुआ है। यह कारण के होने पर भी कार्य के न होने से विशेषोक्ति अलंकार है। परन्तु यहाँ उसका कारण या निमित्त 'अवार्यवीर्यत्व' कहा हुआ है। अतः यह उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण है। आगे अचिन्त्यनिमित्ता वशेषोक्ति का उदाहरण दिया गया है।

(3) **स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।**
हरतापि तनुं यस्य शुम्भुना न बलं ह्रतम् ।।

(3) फूलों के अस्त्र धारण करने वाला वह कामदेव अकेला ही तीनों लोकों को पराजित कर देता है, जिसके शरीर का अपहरण करके भी शिवजी उसकी शक्ति का विनाश नहीं कर पाये ।। 477।।

अभ्यास प्रश्न –

1–प्रश्न – जहाँ एक ही वाक्य में अनेक अर्थ हों वहा क्या होता है ?

2–प्रश्न – दो अर्थों का संक्षेप से कथन होने के कारण कौन अलंकार कहलाता है ?

3–प्रश्न – समासोक्ति में प्रकृत व्यवहार में अप्रकृत व्यवहार का क्या होता है ?

4–प्रश्न –रूपक समासोक्ति का क्या है ?

5–प्रश्न – सम्पूर्ण कारणों के होने पर फल का न कहना क्या है ?

4.4–सारांश

इस इकाई में श्लेष ,समासोक्ति, निदर्शना अतिशयोक्ति दृष्टान्त तुल्ययोगिता एवं विभावना,विशेषोक्ति के विस्तृत विवेचन किया गया है। दृष्टान्त अर्थात् उपमान, उपमेय,

उनके विशेषण और साधारण धर्म आदि का बिम्बप्रतिबिम्बभाव होने पर दृष्टान्तालंकार होता है।दृष्टान्तालंकार का नामकरण अन्वर्थ है। श्लिष्ठ पद में श्लेष अलंकार होता है।यह अर्थलंकार भी माना गया है ।संक्षेपतः उक्ति को समासोक्ति कहते हैं।वस्तुओं के असम्भव सम्बन्ध में उपमा की परिकल्पना निदर्शना अलंकार कहलाता है।कार्य कारण के अध्ययन का सम्बन्ध विभावना और विशेषोक्ति अलंकार से है। कारणों के एकत्र होने पर भी कार्य का कथन न करना विशेषोक्ति का ही विषय है ,वह।1. अनुक्तनिमित्ता, 2. उक्तनिमित्ता तथा 3. अचिन्त्यनिमित्ता के भेद से तीन प्रकार की होती है।कारण के विना ही कार्य का कथन विभावना अलंकार कहलाता है। अतः इस इकाई में वर्णित अलंकारों का अध्ययन करनें के बाद आप श्लेष, समासोक्ति, निदर्शना, अतिशयोक्ति ,दृष्टान्त ,तुल्ययोगिता एवं विभावना, विशेषोक्ति आदि अलंकारों का सम्यक् विवेचन कर सकेगें ।

4.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
क्रियायाः	क्रिया का
प्रतिषेधेपि	प्रतिषेध होने पर
फलव्यक्तिः	फलव्यक्ति
हेतुरूपक्रियायाः	हेतुरूप क्रिया का
निषेधेपि	निषेध होने पर
कुसुमितलताभिः	कुसुम लताओं के द्वारा
परिवर्त्तते	परिवर्तन होने पर

4.6. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उत्तर –जहाँ एक ही वाक्य में अनेक अर्थ हों वहा श्लेष होता है।
उत्तर –दो अर्थों का संक्षेप से कथन होने के कारण समासोक्ति अलंकार कहलाता है।
उत्तर –समासोक्ति में प्रकृत व्यवहार में अप्रकृतव्यवहार का आरोप होता है।
उत्तर –रूपक समासोक्ति का भेद है।
उत्तर –सम्पूर्ण कारणों के होने पर फल का न कहना विशेषोक्ति है।

4. 7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.काव्यप्रकाश आचार्य मम्मट, विश्वेश्वर कृत हिन्दी व्याख्या सहित, चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी ।
2.काव्यप्रकाश आचार्य मम्मट,सत्यव्रतशास्त्री कृत हिन्दी व्याख्या सहित चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन

4. 8 उपयोगी पुस्तकें

1.साहित्य दर्पण ,सत्यव्रतसिंह कृत हिन्दी व्याख्या सहित चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी

4.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.समासोक्ति तथा दृष्टान्त अलंकार का परिचय दीजिये ।
2.विभावना एवं विशेषोक्ति अलंकारों का उदाहरण सहित उल्लेख कीजिए ।

खण्ड–4 काव्यशास्त्र की ऐतिहासिक परम्परा

इकाई.1 भरत, भामह दण्डी एवं रुद्रट जीवन वृत्त, समय, कृतित्व

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 भरत, भामह, दण्डी एवं रुद्रट का जीवन वृत्त, समय, कृतितत्व

1.4 सारांश

1.5 शब्दावली

1.6 अभ्यास प्रश्नों उत्तर

1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.8 उपयोगी पुस्तकें

1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1प्रस्तावना

काव्यशास्त्र से सम्बन्धित खण्ड चार की यह पहली इकाई है। इस इकाई के अध्ययन से आप बता सकते है कि काव्यशास्त्र का उद्भव किस प्रकार हुआ । भरतमुनि साहित्य शास्त्र के आचार्यों में सबसे प्राचीन आचार्य माने जाते हैं। भरत नाम से पाँच विभिन्न व्यक्तियों का उल्लेख संस्कृत साहित्य में पाया जाता है। इस परम्परा में सुबन्धु, बाण,दण्डी का भी महत्वपूर्ण स्थान है ।

भरत की स्थापित परम्परा को परवर्ती काल में भामह, दण्डी एवं रुद्रट आदि आचार्यों नें आगे बढाया।आचार्य दण्डी के ग्रन्थ का नाम काव्यादर्श है,यह एक प्रशस्तिपूर्ण ग्रन्थ है। भामह और दण्डी लगभग समकालीन हैं। भामह ने काव्यालंकार की रचना की है।रूद्रट रसवादी आचार्य हैं, इन्होनें काव्यालंकारसार नामक ग्रन्थ में काव्यशास्त्रीय तत्वों की विवेचना की है ।

अतः प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप भरत, भामह, दण्डी एवं रुद्रट के जीवन वृत्त, समय,एवं कृतित्त्व पर प्रकाश डाल सकेंगे ।

1.2 उद्देश्य

भरत, भामह दण्डी एवं रुद्रट से सम्बन्धित इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- भरत के व्यक्तित्व के विषय में बता सकेंगे।
- भामह की कृतियों के विषय में समझा सकेगें ।
- दण्डी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को बता सकेगें ।
- रुद्रट के समय एवं वैशिष्ट्य का वर्णन कर सकेगे ।

1.3 भरत, भामह दण्डी एवं रुद्रट ,जीवन वृत्त, समय, कृतित्त्व

भरतमुनि का परिचय

भरतमुनि साहित्य शास्त्र के आचार्यों में सबसे प्राचीन आचार्य हैं। भरत नाम से पाँच विभिन्न व्यक्तियों का उल्लेख संस्कृत साहित्य में पाया जाता है – 1. दशरथ के पुत्र भरत, 2. दुष्यन्त के पुत्र भरत, 3. मान्धाता के प्रपौत्र भरत, 4. जड़भरत और 5. 'नाट्ययशास्त्र' के प्रवर्तक भरतमुनि। हमें यहाँ केवल अन्तिम अर्थात् नाट्यशास्त्र के रचनाकार भरतमुनि के विषय में ही बताना है, क्योंकि साहित्य शास्त्र के आचार्यों में उन्हीं की गणना की जाती है। अन्य भरतों का साहित्य शास्त्र के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

भरतमुनि के काल का निर्णय करना बड़ा कठिन कार्य है। कुछ विद्वान् भरत नाम को एक काल्पनिक नाम मानते हैं। डॉ0 मनमोहन घोष का 'नाट्यशास्त्र' का अंग्रेजी अनुवाद 'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी' बंगाल से सन् 1950 में प्रकाशित हुआ है। जिसमें उन्होंने भरतमुनि को एक काल्पनिक व्यक्ति ही माना है। इस मत के मानने वाले लोगों का यह विचार है कि प्रारम्भ में जो नटगण स्वाँग भरते थे वे स्वाँग भरने के कारण 'भरत' कहलाते थे। बाद में उनके आदि पुरुष के रूप में भरतमुनि की कल्पना कर ली गयी। परन्तु यह मत वास्तव में उचित नहीं है। भरतमुनि काल्पनिक व्यक्ति नहीं अपितु ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। सारे साहित्य शास्त्र में उनको 'नाट्यशास्त्र' के प्रवर्तक रूप में स्मरण किया गया है। 'मत्स्यपुराण' के 24 वें अध्याय में 27–32 वें श्लोक तक 6 श्लोकों में भरतमुनि का उल्लेख अनेक बार किया गया है। उनमें यह कथा बतायी गयी है कि भरतमुनि ने देवलोक में 'लक्ष्मीस्वयंवर' नामक नाटक का अभिनय करवाया था। उसमें अप्सरा उर्वशी लक्ष्मी का अभिनय कर रही थी। देव सभा में इन्द्र के साथ राजा पुरूरवा भी उपस्थित थे। पुरूरवा के रूप को देखकर उर्वशी उस समय ऐसी मोहित हो

गयी कि वह अपना अभिनय करना भूल गयी। इस पर भरतमुनि ने अप्रसन्न होकर पुरूरवा और उर्वशी को शाप दे दिया। महाकवि कालिदास ने भी इस घटना की ओर सङ्केत किया है और भरतमुनि के नाम का उल्लेख करते हुए लिखा है –

'मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः।।' –विक्रमोर्वशीय 2–18

भरत के 'नाट्यशास्त्र' में देवलोक में भरतमुनि के द्वारा किये जाने वाले अभिनय का वर्णन किया गया है। इसमें भरतमुनि के सौ पुत्रों की लम्बी सूची भी दी गयी है और साथ में अप्सराओं के नामों की सूची दी गयी है, जिनके द्वारा भरतमुनि ने अभिनय की योजना की थी। संस्कृत के सभी नाटकों की समाप्ति प्रायः 'भरवाक्य' के साथ होती है और अभिनवगुप्त आदि सभी प्राचीन लेखकों ने भरतमुनि को 'नाट्यशास्त्र' का प्रवर्तक माना है, इसलिए उनको कल्पित व्यक्ति कहना उचित नहीं है।

भरतमुनि के काल का निर्णय कर सकना यद्यपि बहुत कठिन है फिर भी जो लोग उनको ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं वे उनका समय 500 विक्रम पूर्व से लेकर प्रथम शताब्दी तक के बीच में मानते हैं। अश्वघोष नामक बौद्ध दार्शनिक तथा कवि विक्रम की प्रथम शताब्दी में हुए हैं। उनका 'सारिपुत्रप्रकरण' नामक एक 'नाट्यशास्त्र' का प्रभाव दिखायी देता है। आलोचकों की सम्मति में उसके ऊपर भी भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' का प्रभाव दिखायी देता है। इसलिए भरतमुनि का काल उनसे पहिले अवश्य ही मानना होगा। अतएव कुछ विद्वान् लोक विक्रम पूर्व पञ्चम शताब्दी से लेकर विक्रम काल के बीच में कहीं भरतमुनि का समय मानते हैं।

भरतमुनि का एकमात्र ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' है। नाम से तो वह नाट्य के विषय का ही ग्रन्थ प्रतीत होता है परन्तु वस्तुतः वह समस्त कलाओं का विश्वकोष है। स्वयं भरतमुनि 'नाट्यशास्त्र' का परिचय देते हुए कहते हैं –

'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येस्मिन् यन्न दृश्यते।।'

जो उन्होंने नाट्य के विषय में कहा है वही उनके 'नाट्यशास्त्र' पर भी चरितार्थ होती है। उनका 'नाट्यशास्त्र' न केवल नाट्य का ही अपितु समस्त ललित एवं उपयोगी कलाओं का आकर ग्रन्थ है।

वर्तमान 'नाट्यशास्त्र' प्रायः 6,000 श्लोकों का ग्रन्थ है। इसलिए उसको 'षट्साहस्री संहिता' भी कहा जाता है। पर इसके पूर्व उसका 12,000 श्लोकों का भी कोई संस्करण रहा होगा क्योंकि उसकी 'द्वादशासहस्री संहिता' का भी उल्लेख पाया जाता है। शारदातनय ने अपने 'भावप्रकाशन' ग्रन्थ में इन दोनों संस्करणों का उल्लेख किया है और उनमें से 'द्वादशसाहस्री संहिता' का रचयिता वृद्ध भरत को और 'षट्साहस्री संहिता' का रचयिता भरत को बतलाया है। उन्होंने लिखा है –

'एवं द्वारशसाहस्रैः श्लोकैरेकं तदर्धतः।
षड्भिः श्लोकसहस्रैर्यो नाट्यवेदस्य संग्रहः।।'

नाट्यशास्त्र का वर्तमान संस्करण 'षट्साहस्री' संस्करण है। इसमें कुल 36 अध्याय हैं। निर्णय सागर से प्रकाशित प्रथम संस्करण में 'नाट्यशास्त्र' के 37 अध्याय दिखलाये गये थे। परन्तु 'नाट्यशास्त्र' के प्राचीन टीकाकार अभिनव गुप्त ने उसमें केवल 36 अध्यायों का वर्णन करते हुए लिखा है –

'षट्त्रिंशकात्मकजगद्–गगनावभाससंविन्मरीचिचयचुम्बितबिम्बशोभम्।
षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन् वन्दे शिवं ....।।'

भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' का सम्पादन

सन् 1825 में विलसन ने कुछ संस्कृत नाटकों का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया था। उस समय 'नाट्यशास्त्र' की कोई प्रति सर्वसाधारण के लिए सुलभ न थी। विलसन महोदय को भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' का उल्लेख तो विभिन्न ग्रन्थों में मिला, परन्तु उसकी कोई प्रति उपलब्ध न हो सकी, इसलिए उस समय उन्होंने बड़े दुःख के

साथ यह लिखा कि भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' तो सर्वदा के लिए लुप्त हो गया प्रतीत होता है। इसके चालीस वर्ष बाद सन् 1865 में फ्रेड्रिक हाल महोदय को 'नाट्यशास्त्र' की एक प्रति प्राप्त हुई। परन्तु वह अत्यन्त अशुद्ध थी इसलिए वे उसका सम्पूर्ण रूप से सम्पादन तथा प्रकाशन न कर सके। फिर भी उन्होंने उसके कुछ अध्यायों को अपने सम्पादित 'दशरूपक' के साथ प्रकाशित किया।

हाल महोदय के इस प्रकाशन से 'नाट्यशास्त्र' के बिलकुल लुप्त हो जाने की धारणा का निराकरण हो गया, इसलिए विद्वान् लोग हस्तलिखित ग्रन्थों के भण्डारों में इस 'नाट्यशास्त्र' की अन्य प्रतियों की खोज बड़ी तत्परता से करने लगे। सन् 1874 में हेमान नामक जर्मन विद्वान् ने 'नाट्यशास्त्र' की एक और नयी प्रति का पता लगाकर गौंटिगेन नगर की राजकीय विज्ञान—परिषद् की विवरण पुस्तक में 'नाट्यशास्त्र' का एक विस्तृत परिचय प्रकाशित किया। उसके बाद सन् 1880 में रैग्नो नामक फ्रांस के एक विद्वान् ने 'नाट्यशास्त्र' के 15वें तथा 16वें अध्यायों को प्रकाशित किया। उसके बाद सन् 1884 में उन्हीं रैग्नो महोदय ने 6ठे तथा 7वें अध्यायों को प्रकाशित किया।

रैग्नो महोदय के शिष्य ग्रौसे नामक दूसरे फ्रेंच विद्वान् ने अपने गुरु के कार्य को आगे बढ़ाते हुए सन् 1888 में नाट्यशास्त्र के संगीत विषयक 28वें अध्याय को सम्पादित करके प्रकाशित किया और उसके बाद भी 'नाट्यशास्त्र' के सम्पादन में अनवरत तत्पर रहे। अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी सन् 1898 में उन्होंने 'नाट्यशास्त्र' के प्रारम्भिक 14 अध्यायों का एक सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित किया।

ग्रौसे के इस संस्करण के प्रकाशित होने के पूर्व फ्रांस के प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् प्रो0 शिल्वाँ लेबी ने अपने भारतीय नाटक विषयक ग्रन्थ में भरत के 'नाट्यशास्त्र' के कुछ अध्यायों का विवेचन किया था, पर वह बहुत अच्छा नहीं कहा जा सकता था। इसी बीच में ग्रौसे के संस्करण से पहले हमारे भारत में भरत नाट्यशास्त्र का प्रथम संस्करण निर्णयसागर प्रेस, बम्बई की काव्यमाला सीरीज़ में प्रकाशित हुआ। इसका सम्पादन स्वर्गीय श्री पण्डित शिवदत्त जी तथा श्री काशीनाथ पाण्डुरङ्ग परब महोदय ने किया था।

इतना कार्य हो जाने पर भी 'नाट्यशास्त्र' का समझना और उसकी समुचित व्याख्या कर सकना विद्वानों के लिए एक समस्या ही बनी हुई थी। क्योंकि ये संस्करण पर्याप्त शुद्ध न थे और न उनकी कोई टीका आदि अब तक मिल सकी थी। सर्वमान 20वीं शताब्दी के आरम्भ में डॉ0 सुशील कुमार डे महोदय ने 'नाट्यशास्त्र' की 'अभिनवभारती' नामक प्राचीन टीका की एक प्रति खोजकर निकाली। इस टीका के रचयिता कश्मीर के प्रसिद्ध विद्वान् श्री अभिनव गुप्तपादाचार्य हैं। बाद को मद्रास के प्रसिद्ध विद्वान् भी रामकृष्ण कवि महोदय ने 'अभिनवभारती' टीका और मूल 'नाट्यशास्त्र' को सम्पादित करने का भार उठाया और सन् 1926 में उसके सात अध्यायों का प्रथम भाग तथा सन् 1934 में द्वितीय भाग 18 अध्याय तक का प्रकाशित किया। इसका तृतीय भाग भी अब प्रकाशित हुआ है और चतुर्थ भाग भी शीघ्र प्रकाशित होने की आशा है।

'अभिनवभारती' के प्रकाशन से यह आशा हुई थी कि 'नाट्यशास्त्र' का रहस्य स्पष्ट हो जायेगा और बहुत—कुछ अंशों में ऐसा हुआ भी है। परन्तु दुःख की बात यह है कि 'अभिनवभारती' की जो प्रतियाँ उपलब्ध हुईं वे सब अत्यन्त दूषित थीं। उनका पाठ अत्यन्त अशुद्ध था। सम्पादक महोदय को जिस प्रकार का पाठ हस्तलिखित प्रतियों में मिला उसको उन्होंने उसी रूप में छाप दिया था। परन्तु वह पाठ इतना अधिक अशुद्ध और असङ्गत है कि उससे ग्रन्थ का अभिप्राय समझ सकना नितान्त असम्भव है।

उसके सम्बन्ध में विद्वानों का कहना तो यह है कि 'अभिनवभारती' का पाठ इतना अधिक अशुद्ध है कि यदि स्वयं अभिनवगुप्ताचार्य भी स्वर्ग से उतरकर आ जायें तो वर्तमान पाठ को देखकर वे भी अपने अभिप्राय को नहीं समझ सकते।

इस प्रकार की अशुद्धियों के दो कारण हुए हैं। एक तो यह कि सम्पादक महोदय को जो पाण्डुलिपि प्राप्त हुई थी उसे अनेक स्थानों पर कीड़ों ने खा डाला था। इसलिए उन स्थानों पर क्या पाठ था यह पढ़ा नहीं जा सकता। इसी कारण से मुद्रित संस्करण में अनेक जगह पाठ लुप्त—सा दिखायी देता है। दूसरा कारण यह है कि

पाण्डुलिपि के पृष्ठों पर संख्या पड़ी हुई नहीं थी। इसलिए कहीं–कहीं पर जहाँ कि पृष्ठों को किसी ने इधर–उधर करके रख दिया था, वे वहीं छाप दिये गये। इस प्रकार उनके मुद्रण में भी भूल हो गयी है, अर्थात् पाठों का पौर्वापर्य बिगड़ गया है। ऐसी अवस्था में किसी पाठ का अर्थ समझ में आ ही कैसे सकता है।

भामह का परिचय

भरतमुनि के बाद अलङ्कार शास्त्र के दूसरे आचार्य, का ग्रन्थ है,जिनका नाम भामह है। भामह का समय विद्वानों ने षष्ठ शतक का पूर्वार्द्ध माना है। इसका आधार यह है कि उन्होंने अपने 'काव्यालङ्कार' के पञ्चम परिच्छेद में न्याय निर्णय का वर्णन करते हुए बौद्ध आचार्य दिङ्नाग के 'प्रत्यक्ष कल्पनापोढम्' इस प्रत्यक्ष लक्षण को उद्धृत किया है। दिङ्नाग का समय 500 ई0 के लगभग माना जाता है। दिङ्नाग के बाद उनके व्याख्याकार आचार्य धर्मकीर्ति का समय 620 ई0 के लगभग माना जाता है। धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग के प्रत्यक्ष–लक्षण में थोड़ा सा संशोधन कर 'कल्पनापोढम भ्रान्तं निर्विकल्पकम्' यह प्रत्यक्ष लक्षण किया है। इसमें 'अभ्रान्तम्' पद जोड़ दिया गया है। किन्तु भामह के ग्रन्थ में दिये हुए प्रत्यक्ष लक्षण में 'अभ्रान्तम्' पद नहीं है। इससे अनुमान होता है कि भामह दिङ्नाग के बाद और धर्मकीर्ति के पहिले अर्थात् 500 तथा 620 ई0 के बीच में हुए हैं।

आचार्य भामह और महाकवि कालिदास

भामह के काल का निर्णय करना कठिन काम है। उनके ग्रन्थ में अन्य लोगों के लेखों के कुछ सङ्केत पाये जाते हैं जिनके कारण विद्वानों में उनके पौर्वापर्य के निर्णय में विभिन्न मत पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए भामह के 'काव्यालङ्कार' में ही –

'अयुक्तिमद् यथा दूता जलभृन्मारुतेन्दवः।
तथा भ्रमरहारीतचक्रवाकशुकादयः।। 1–42
अवाचोव्यक्तवाचश्च दूरदेशविचारिणः।
कथं दूत्यं प्रपद्येरन् इति युक्त्या न युज्यते।। 1–43
यदि चोत्कण्ठया यत् तदुन्मत्त इव भाषते।
तथा भवतु भूम्नेदं सुमेधोभिः प्रयुज्यते।।' 1–44

इन कारिकाओं में 'अयुक्तिमत्' दोष की विवेचना करते हुए साधारण अवस्था में मेघ आदि को दूत बनाने के वर्णन को 'अयुक्तिमत्' दोष कहा है। क्योंकि दूर देश में विचरण करने वाले और वाणी रहित अथवा अव्यक्त वाणी वाले होने से वे दौत्य कार्य कर ही नहीं सकते। इसलिए उनको दूत बनाना 'अयुक्तिमत्' दोष माना जाता है। इसके साथ उन्होंने यह भी लिखा है कि यह तो हो सकता है कि उन्मत्तावस्था में उनको दूत रूप में प्रयुक्त किया जा सके, क्योंकि बड़े–बड़े विद्वान् इस रूप में उनका प्रयोग करते हैं।

यह सब जो वर्णन भामह के ग्रन्थ में मिलता है इससे प्रतीत होता है कि इस आलोचना के समय उनके सामने कालिदास का 'मेघदूत' ग्रन्थ विद्यमान था। और कालिदास जैसे महाकवि के द्वारा उस मेघ को दूत बनाये जाने का वर्णन देखकर ही उन्होंने 'सुमेधोभिः प्रयुज्यते' लिखा है। इसलिए भामह कालिदास के उत्तरवर्ती हैं। इसके विपरीत डॉ0 टी0 गणपति शास्त्री आदि कुछ विद्वानों का मत है कि भामह कालिदास से बहुत पूर्ववर्ती रहे होंगे, क्योंकि भामह ने मेधावी, राम शर्मा, अश्मकवंश, रत्नाहरण आदि अत्यन्त अप्रसिद्ध ग्रन्थकारों के नामों का तो स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है किन्तु कालिदास जैसे महाकवि का नामतः कहीं कोई उल्लेख नहीं किया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि महाकवि कालिदास का नाम उनको विदित नहीं था। यह जो मेघ

को दूत बनाने आदि की चर्चा की है वह सामान्य रूप से ही की है, उसका कालिदास के 'मेघदूत' से कोई सम्बन्ध नहीं है।

भामह और माघ

माघ कवि विरचित 'शिशुपालवध' महाकाव्य में द्वितीय सर्ग में निम्नलिखित श्लोक आता है –

'नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते।।'––माघ 2–28

इनमें सत्कवि, शब्द और अर्थ दोनों की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार राजनीतिज्ञ भाग्य और पौरुष दोनों की अपेक्षा रखता है। इस युक्ति से काव्य के साथ शब्द और अर्थ दोनों का जो सम्बन्ध सूचित किया गया है इस आधार पर कुछ विद्वानों का विचार है कि माघ की यह उपमा भामह के काव्य–लक्षण के आधार पर स्थित होती है। भामह ने 'शब्दार्थो सहितौ काव्यम्' यह काव्य का लक्षण किया है। इन विद्वानों का विचार है कि माघ कवि की यह उपमा भामह के काव्य लक्षण के आधार पर बनी है। इसलिए भामह माघ के पूर्ववर्ती हैं। यह प्रो0 पाठक का मत है। इसके विपरीत डॉ0 जे0 नाबुल का कहना है कि यह युक्ति बिलकुल निस्सार है। यदि इसी युक्ति से काम लिया जाय तो फिर कालिदास के 'रघुवंश' में जो 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' लिखा गया है वह भी कालिदास ने भामह के काव्य लक्षण के आधार पर ही लिखा होगा। परन्तु यह सब बात ठीक नहीं।

भामह और भास

इसी प्रकार की कल्पनाओं के आधार पर कुछ विद्वान् भामह और भास का भी सम्बन्ध जोड़ने का यत्न करते हैं। भामह ने 'काव्यालङ्कार' के चतुर्थ परिच्छेद में निम्नाङ्कित श्लोक लिखे हैं –

'विजिगीषुमुपन्यस्य वत्सेशं वृद्धदर्शनम्।
तस्यैव कृतिनः पश्चादभ्यधाच्चारशून्यताम् ।।
अन्तर्योधशताकीर्णं सालङ्कायननेतृकम्।
तथाविधं गजच्छद्म नाज्ञासीत् स स्वभूगतम् ।।
यदि वोपेक्षितं तस्य सचिवैः स्वार्थसिद्धये।
अहो नु मन्दिमा तेषां भक्तिर्वा नास्ति भर्तरि ।।

इन श्लोकों में वत्सराज उदयन की कथा की चर्चा की गयी है। गणपति शास्त्री का कथन है कि भामह ने यह चर्चा भास कवि के 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटक के आधार पर की है। इसकी सम्पुष्टि में उन्होंने एक युक्ति यह भी दी है कि इसी प्रसङ्ग में भामह ने अगले 43 वें श्लोक में लिखा है –

'हतोनेन मम भ्राता मम पुत्रः पिता मम।
मातुलो भागिनेयश्च रुषा संरब्धचेतसा।।'

इसी से मिलता–जुलता निम्नलिखित प्राकृत गद्य भाग 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में आया है –

'मम भादा हदो अणेण मम पिदा अणेण मम सुदो।'

भामह के उपर्युक्त श्लोकों और 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटिका की कथा तथा उक्त 'हतो येन मम भ्राता' आदि वाक्य की समानता के आधार पर टी0 गणपति शास्त्री ने यह परिणाम निकाला है कि भामह भास के बाद हुए हैं, किन्तु दूसरे विद्वानों की सम्मति में यह ठीक नहीं है। वत्सराज उदयन की कथा 'वृहत्कथा' में मूल रूप से आती है। अन्यत्र जहाँ कहीं भी उसका उल्लेख किया गया है वह सब 'गुणाढ्य' की 'बृहत्कथा' से ही लिया गया है। 'बृहत्कथामञ्जरी' और 'कथासरित्सागर' 'बृहत्कथा' के संक्षिप्त रूप हैं। उनमें भी वत्सराज उदयन की कथा आती है। भामह ने जो वत्सराज उदयन की कथा का यह उल्लेख किया है वह भास के 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' के आधार पर नहीं, अपितु 'बृहत्कथामञ्जरी' या 'कथासरित्सागर' के आधार पर ही किया है।

अतः इस युक्ति के आधार पर भामह को भास का उत्तरवर्ती सिद्ध करने का प्रयत्न ठीक नहीं है।

भामह और भट्टि

महाकवि भट्टि भी संस्कृत साहित्य के महान् कवि हुए हैं। उनकी कल्पना बड़ी विचित्र है। उन्होंने 'रावणवध' नामक एक महाकाव्य लिखा है। जिस प्रकार माघ ने 'शिशुपाल वध' काव्य लिखा है, उसी प्रकार इनका 'रावण वध' महाकाव्य है। किन्तु माघ के काव्य का नाम कवि के नाम से 'माघ' के रूप में ही प्रसिद्ध हो गया है। 'शिशुपाल वध' नाम उसकी अपेक्षा कम प्रचलित है। उसी प्रकार भट्टि कवि के 'रावणवध' महाकाव्य का मुख्य नाम गौण हो गया है। उसके स्थान पर उसे अब 'भट्टिकाव्य' ही का जाता है। इस 'भट्टिकाव्य' की रचना काठियावाड़ के 'बलभी' राज्य, जिसे अब 'बल' कहतहे हैं, के राजा धरसेन के समय में हुई है। 'भट्टिकाव्य' के अन्त में कवि ने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है –

'काव्यमिदं विहितं मया बलभ्यां श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम्।
कीर्तिरतो भवतान्नृपस्य तस्य प्रेयकरः क्षितिपो यतः प्रजानाम्।।

'भट्टिकाव्य' में रचनाकाल का इतना परिचय होने पर भी उसका समय कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि काठियावाड़ के इतिहास के अनुसार 'बलभी' में धरसेन नाम के चार राजा राज्य कर चुके हैं। इनमें से किस 'धरसेन' के समय में 'भट्टिकाव्य' की रचना हुई यह नहीं कहा जा सकता। प्रो0 मजूमदार ने सन् 473 ई0 के मन्दसोर सूर्य मन्दिर के लेख में कहे हुए वत्सभट्टि को ही 'भट्टिकाव्य' का रचयिता माना है। इसके समर्थन के लिए उनकी यह युक्ति है कि मन्दसोर के शिलालेख के श्लोक 'भट्टिकाव्य' के शरद्वर्णन के श्लोकों से बहुत मिलते–जुलते हैं। इसके विपरीत प्रो0 कीथ ने इस मत का उग्रता के साथ खण्डन किया है। इसी प्रकार प्रो0 काणे, प्रो0 पाठक आदि अन्य विद्वानों का भी 'भट्टिकाव्य' के रचनाकाल के विषय में मतभेद पाया जाता है। इसलिए इसके काल का यथार्थ निर्णय बड़ा कठिन काम है।

भामह ने 'काव्यालङ्कार' के द्वितीय परिच्छेद में निम्नलिखित श्लोक दिया है –
काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः।।' –– 2–30

इसी श्लोक का भावानुवाद 'भट्टिकाव्य' के श्लोक में निम्नलिखित प्रकार किया गया है –

'व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियामलम्।
हता दुर्मेधसश्चास्मिन् विद्वत्प्रियतया मया।।'' 22–34

भामह और भट्टि के इन दोनों श्लोकों में इतना अधिक साम्य है कि इन दोनों में से किसी एक ने दूसरे के श्लोक का भावानुवाद किया है यह बात बिलकुल निश्चित ही है। किन्तु भामह ने भट्टि का अनुवाद किया है अथवा भट्टि ने भामह का यह बात तब तक नहीं कही जा सकती, जब तक उनके काल का ठीक निर्णय नहीं हो जाता है। इसीलिए विद्वानों में इस विषय में मतभेद पाया जाता है।

भामह और और दण्डी

भास और भट्टि के समान दण्डी के साथ भी भामह की अनेक उक्तियों का असाधारण सादृश्य पाया जाता है। अनेक उक्तियाँ तो ऐसी हैं जो भामह के 'काव्यालङ्कार' तथा दण्डी के 'काव्यादर्श' में बिलकुल एक ही रूप में पायी जाती हैं। उदाहरण के लिए हम कुछ उक्तियाँ नीचे उद्धृत करते हैं जो इन दोनों ग्रन्थों में शब्दशः समान रूप में उपलब्ध होती हैं –

1. **'सर्गबन्धो महाकाव्यम्।' भामह 1–19। काव्यादर्श 1–14।**
2. **'मन्त्रिदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि।' भामह 1–20। काव्यादर्श 1–17।**
3. **'कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयादयः।' भामह 1–27। काव्यादर्श 1–29।**
4. **'अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।**
   कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः।।' भामह 3–5। काव्यादर्श 2–276।

5. **'तद् भाविकमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।' भामह 3–53। काव्यादर्श 2–364।**
6. **'अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ..... विरोधि च।' भामह 4–1, 2। काव्यादर्श 3–125, 126।**
7. **'समुदायार्थशून्यं यत् तदपार्थकमिष्यते।' भामह 4–8। काव्यादर्श 3–128।**
8. **'गतोस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।' भामह 2–87। काव्यादर्श 2–244।**
9. **आक्षेपोर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना।' भामह 2–66। काव्यादर्श 2–4।**
10. **'प्रयो रसवदूर्जस्वि पर्यायाक्तं समाहितम्।' भामह 3–1। काव्यादर्श 2–5।**

ये दस उदाहरण ऐसे हैं जो भामह के 'काव्यालङ्कार' और दण्डी के 'काव्यादर्श' में न केवल अर्थतः अपितु शब्दतः भी प्रायः एक रूप में ही उपलब्ध होते हैं। कहीं बिलकुल नाम मात्र का भेद पाया जाता है; जैसे, द्वितीय उदाहरण के अन्त में 'अपि' शब्द के स्थान पर भामह ने 'च यत्' शब्द का प्रयोग किया है। इसी प्रकार तीसरे उदाहरण के अन्त में 'उदयादयः' के स्थान पर भामह में 'उदयान्विताः' प्रयोग पाया जाता है। इन नाम मात्र के भेदों के अतिरिक्त ये दसों स्थल भामह और दण्डी में बिलकुल एक–से पाये जाते हैं।

कुछ स्थल मिलते हैं जिनमें एक–दूसरे के मत की आलोचना की गयी प्राप्त होती है; जैसे, भामह ने काव्य के –

'सर्गबन्धोभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे।
अनिबद्धं च काव्यादि तत्पुनः पञ्चधोच्यते।।' ––1–18

(1) सर्गबन्ध अर्थात् महाकाव्य, (2) अभिनेयार्थ अर्थात् नाटक, (3) आख्यायिका, (4) कथा तथा (5) अनिबद्ध अर्थात् मुक्तक ये काव्य के पाँच भेद किये हैं। इनमें आख्यायिका तथा कथा को काव्य का अलग–अलग भेद माना है। किन्तु दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में इसका खण्डन करते हुए लिखा है –

'तत् कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञा द्वयाङ्किता।' –– 1–28

भामह ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य मेधावी के आधार पर उपमा के सात दोष बतलाये हैं। किन्तु दण्डी ने इस मत की आलोचना करते हुए लिखा है –

'न लिंगवचने भिन्न न हीनाधिकतापि वा।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्।। –– 2–51

भामह और दण्डी के ग्रन्थों में इस प्रकार के सारूप्य तथा वैरूप्य के उदाहरण बहुत अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। इससे प्रतीत होता है कि इनमें से किसी एक ने दूसरे के आधार पर ही अपने ग्रन्थ में उन प्रसङ्गों का उल्लेख किया है। इसी आधार पर भामह और दण्डी के पौर्वापर्य के विषय में विद्वानों में बड़ा तीव्र वाद–विवाद बहुत दिनों तक चलता रहा। सबसे पहले एम0टी0 नरसिंह अयङ्गर ने सन् 1905 में 'जरनल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी' (पृ0 355) में इस प्रश्न को उठाया और दण्डी को भामह का पूर्ववर्ती सिद्ध करने का यत्न किया। परन्तु इनके मत का बड़ा विरोध हुआ। डॉ0 त्रिवेदी ने 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' की भूमिका में, प्रो0 रङ्गाचार्य ने 'काव्यादर्श' की भूमिका में, गणपति शास्त्री ने 'स्वप्नवासवदत्ता' की भूमिका में और प्रो0 पाठक ने 'कविराजमार्ग' की भूमिका में दण्डी को भामह के पूर्व ठहराने वाले नरसिंह आयङ्ग के मत का विस्तार के साथ खण्डन किया। अपने देश में ही नहीं, डॉ0 जैकोबी ने भी (जेड0एस0एम0जी0, पृ0 134–139 पर) दण्डी की भामह का पूर्ववर्ती बतलाने वाले श्री नरसिंह आयङ्गर के मत का खण्डन किया। इन सब विवादों का अध्ययन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अधिकांश विद्वान् भामह को ही दण्डी का पूर्ववर्ती मानने के पक्ष में हैं।

भामह को दण्डी का पूर्ववर्ती मानने के विषय में एक युक्ति और है। दण्डी के 'अवन्तिसुन्दरीकथा' नामक एक नवीन ग्रन्थ का परिचय अभी हाल में प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के आरम्भ में जो श्लोक दिये गये हैं उनमें –

'भिन्नस्तीक्ष्णमुखेनापि चित्रं बाणेन निर्व्यर्थः।
व्याहारेषु जहौ लीलां न मयूरः ....।।'

आदि श्लोक में महाकवि बाणभट्ट तथा मयूरभट्ट का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त दण्डी ने अपने को महाकवि भारवि का प्रपौत्र घोषित किया है। इससे स्पष्ट

है कि दण्डी महाकवि बाण के बाद हुए हैं। बाणभट्ट के 'हर्षचरित' के आधार पर यह निश्चित बात है कि बाणभट्ट हर्षवर्धन की राजसभा में थे। हर्षवर्धन राज्यकाल 606–648 ई0 तक माना जाता है। इसलिए बाणभट्ट का काल भी सप्तम शताब्दी का मध्य भाग है। उस दशा में दण्डी का समय आठवीं शताब्दी में होना चाहिए। दण्डी बाणभट्ट के बाद हुए हैं और भामह बाणभट्ट के पहिले हुए हैं इसलिए भामह दण्डी के निश्चय ही पूर्ववर्ती हैं। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

भामह बाणभट्ट से पहिले हुए हैं इस बात की सिद्धि आनन्दवर्धनाचार्य के 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ के आधार पर होती है। 'ध्वन्यालोक' के चतुर्थ उद्योत में –

'दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्था काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः।।'

यह कारिका आयी है। इसका अभिप्राय यह है कि काव्य में पूर्व कवियों द्वारा वर्णित पुराने अर्थों में भी कवि रस का समावेश कर के उनमें नवीनता ला सकता है और वे पुराने अर्थ भी रस के सम्पर्क से ऐसे ही नवीन प्रतीत होने लगते हैं जैसे वसन्त में पुराने वृक्ष भी नवीन और आकर्षक हो जाते हैं। इसी का उदाहरण देते हुए आनन्दवर्धन ने लिखा है –

'तथा हि विवक्षितान्यपरवाच्यस्यैव शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यप्रकारसमाश्रयेण नवत्वं। यथा – धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः इत्यादौ ––
शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः। .... इत्यादिषु सत्स्वपि।'

अभिप्राय यह है कि 'शेषो हिमगिरिः' इत्यादि पूर्ववर्ती श्लोक में वर्णित पुराने अर्थ को ही 'अधुना धरणीधारणाय त्वं शेषः' इस नवीन वाक्य में कहा गया है, किन्तु उसमें शब्द–शक्त्युत्थ अलङ्कार ध्वनि के सन्निवेश से विशेष चमत्कार आ जाने से उसमें नवीनता प्रतीत होने लगी है। इसी प्रकार पूर्व कवियों द्वारा वर्णित पुराने अर्थों में नवीन चमत्कार का आधान कर के उनमें नूतनता उत्पन्न की जा सकती है। इस आशय से आनन्दवर्धनाचार्य ने यह उदाहरण दिया है।इस उदाहरण में जो दो वाक्य उद्धृत किये गये हैं वे विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

आनन्दवर्धनाचार्य ने 'शेषो हिमगिरिस्त्वं च' इत्यादि श्लोक को पुराना वर्णन माना है और उसी अर्थ को नवीन रूप में प्रस्तुत करने वाला 'धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः' इस वाक्य को नवीन वाक्य माना है। आनन्दवर्धनाचार्य जिस 'शेषो हिमगिरिस्त्वं च' आदि को पुराना वाक्य कहते हैं वह भामह के 'काव्यालङ्कार' में आया हुआ तीसरे परिच्छेद का 27वाँ श्लोक है। और 'धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः' रूप जिस वाक्य को वे नवीन वाक्य कहते हैं वह बाणभट्ट के 'हर्षचरित' के चतुर्थ उच्छ्वास के 15वें अनुच्छेद में आया है। अर्थात् बाणभट्ट का यह वाक्य भामह के वाक्य की अपेक्षा नवीन है। इसका अर्थ हुआ कि भामह बाणभट्ट से बहुत पहिले हुए हैं और दण्डी बाणभट्ट के बाद में हुए हैं। इसलिए भामह दण्डी के पूर्ववर्ती हैं इसमें कोई सन्देह रह ही नहीं जाता है।

भामह का धर्म

जिस प्रकार भामह के काल के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद पाया जाता है, उसी प्रकार उनके धर्म के विषय में भी पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। भामह के 'काव्यालङ्कार' के प्रथम श्लोक में–

'प्रणम्य सार्वसर्वज्ञं मनोवाक्कायकर्मभिः।
काव्यालङ्कार इत्येष यथाबुद्धि विधास्यते।।' –– का0 1–1

'''सार्वसर्वज्ञ' को नमस्कार किया गया है।'' 'सर्वज्ञः सुगतो बुद्धः' इत्यादि 'अमरकोश' के आधार पर कुछ लोगों ने 'सर्वज्ञ' पद को बुद्ध का नाम मानकर यह अर्थ लगा लिया है कि इसमें बुद्ध को नमस्कार किया गया है इसलिए भामह बौद्ध आचार्य जान पड़ते हैं। परन्तु यह कोई युक्ति नहीं है। 'कृशातुरेताः सर्वज्ञो धूर्जटिर्नीललतोहितः' इत्यादि 'अमरकोश' के अनुसार 'सर्वज्ञ' पद शिव के नामों में भी पढ़ा गया है। तब उससे शिव अर्थ न लेकर बुद्ध अर्थ ही कैसे लिया जा सकता है ? उसके साथ में 'सार्व' पद और है। उसका अर्थ सबके लिए हितकारी है। वह जैसे बुद्ध के साथ जुड़ सकता है वैसे ही शिव के साथ भी जुड़ सकता है। इसलिए इस पद के आधार पर

भामह को बौद्ध नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत उनके ग्रन्थ के भीतर वैदिक प्रक्रियाओं, वैदिक कथाओं का विशेष रूप में उल्लेख पाया जाता है, बौद्ध कथाओं या बौद्ध प्रक्रियाओं आदि का उल्लेख बिलकुल नहीं पाया जाता है। इसलिए उनको बौद्ध नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार कथाओं आदि के उदाहरण रूप में 'काव्यालङ्कार' ग्रन्थ के निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये जा सकते हैं जिनसे भामह के वैदिक धर्म के प्रति अनुरक्ति की ही सूचना मिलती है –

'भूभृतां पीतसोमानां न्याय्ये वर्त्मनि तिष्ठताम्।
अलङ्करिष्णुना वंशं गुरौ सति जिगीषुणा।। 4–48
युगादौ भगवान् ब्रह्म विनिर्मित्सुरिव प्रजाः।। 2–55
समग्रगगनायाममानदण्डो रथाङ्गिणः।
पादो जयति सिद्धस्त्रीमुखेन्दुनवदर्पणः।। 3–36
कान्ते इन्दुशिरोरत्ने आदधाने उदंशुनी।
पातां वः शम्भु–शर्वाण्याविति प्राहुर्विसन्ध्यदः।। 4–27
विदधानौ किरीटेन्दू श्यामाभ्रहिमसच्छवी।
रथाङ्गशूले बिभ्राणौ पातां वः शम्भुशार्ङ्गिणौ।। 4–21
उदात्तशक्तिमान् रामो गुरुवाक्यानुरोधकः।
विहायोपनतं राज्यं यथा वनमुपागमत्।।3–11
'भरतस्त्वं दिलीपस्त्वं त्वमेवैलः पुरूरवाः।
त्वमेव वीर प्रद्युम्नस्त्वमेव नरवाहनः।।' 5–56

इत्यादि श्लोकों में शिव, विष्णु, पार्वती, ब्रह्मा आदि देवताओं का वर्णन और सोमपान आदि याज्ञिक क्रियाओं का उल्लेख वैदिक धर्म के प्रति भामह का स्पष्ट रूप से अनुराग सूचित करता है। रामचन्द्र, भरत, दिलीप, प्रद्युम्न और पुरूरवा का उल्लेख भी वैदिक धर्म के प्रति उनके अगाध प्रेम को ही सूचित करता है। इसमें कहीं भी कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जिससे भामह को बौद्ध मानने का सङ्केत मिल सकता हो। अतएव भामह को बौद्ध सिद्ध करने का प्रयास असङ्गत है।

अपने वंश परिचय के रूप में केवल एक पंक्ति भामह के ग्रन्थ के अन्तिम भाग में पायी जाती है। उसमें उन्होंने अपने पिता का नाम 'रक्रिलगोमिन' बतलाया है –

अवलोक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्यम्।
सुजनावगमाय भामहेन ग्रथितं रक्रिलगोमिनसूनुनेदम्।।'

इस श्लोक में ग्रन्थकार ने अपना नाम 'भामह' और अपने पिता का नाम 'रक्रिलगोमिन' बतलाया है। इसके अतिरिक्त इनके जीवन का और कोई परिचय इनके ग्रन्थ में नहीं मिलता है।

भामह के ग्रन्थ

भामह का आज हमें केवल 'काव्यालङ्कार' ही एकमात्र ग्रन्थ उपलब्ध होता है। किन्तु साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों के देखने से विदित होता है कि उन्होंने इस 'काव्यालङ्कार' के अतिरिक्त छन्दः–शास्त्र और अलङ्कारशास्त्र के विषय में कुछ और ग्रन्थों की भी रचना की थी, किन्तु दुर्भाग्यवश वे ग्रन्थज्ञ अब तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं। उन ग्रन्थों के उद्धरण भामह के नाम से विविध ग्रन्थों में पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए, 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की टीका में राघव भट्ट ने –

'क्षेमं सर्वगुरुर्दत्ते मगणो भूमिदैवतः।' इति भामहोक्तेः

(अभि0शा0, टीका नि0सा0, पृ0 4) लिखकर भामह के किसी छन्दःशास्त्र विषयक ग्रन्थ से उसके उद्धृत किये जाने की सूचना दी है। इसी टीका में दूसरे स्थान (पृ0 10) पर राघव भट्ट ने उनके किसी अलङ्कार विषयक ग्रन्थ से निम्नलिखित वाक्य उद्धृत किया है –

'तल्लक्षणमुक्तं भामहेन –
पर्यायोक्तं प्रकारेण यदन्येनाभिधीयते।
वाच्य–वाचकशक्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना।। इति।
उदाहृतं च हयग्रीववधस्थं पद्यं –

यं प्रेक्ष्य विररूढापि निवासप्रीतिरुज्झिता।
मदेनैरावणमुखे मानेन ह्रदये हरेः।।'

पर्यायोक्त अलङ्कार के जिस लाक्षण और उदाहरण की राघव भट्ट ने यहाँ भामह के नाम से उद्धृत किया है, उन दोनों में से कोई भी भामह के वर्तमान 'काव्याङ्कार' में नहीं पाया जाता है। वर्तमान 'काव्यालङ्कार' में भामह के अनुसार पर्यायोक्त अलङ्कार के लक्षण और उदाहरण निम्नलिखित प्रकार दिये गये हैं –

'पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
उवाच रत्नाहरणे चैद्यं शाङ्‌र्गधनुर्यथा।।' –का0 3–8

लक्षण का पूर्वार्द्ध भाग तो थोड़े से अन्तर से भामह के लक्षण से मिल जाता है किन्तु उत्तरार्द्ध भाग का उल्लेख वर्तमान लक्षण में नहीं पाया जाता है और हयग्रीववधस्थ उदाहरण तो यहाँ बिलकुल ही नहीं पाया जाता है। उद्भट के 'काव्यालङ्कार' में पर्यायोक्त का यह लक्षण कुछ अन्तर से मिल जाता है और हयग्रीववधस्थ जिस श्लोक को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये जाने की चर्चा राघव भट्ट ने की है वह उदाहरण 'काव्यप्रकाश' में पाया जाता है।

ऐसा हो सकता है कि राघव भट्ट के पास भामह के 'काव्यालङ्कार' की जो प्रति रही हो उसमें पर्यायोक्त का लक्षण इसी रूप में दिया गया हो जिस रूप में उन्होंने उद्धृत किया है और हयग्रीववधस्थ श्लोक भी उदाहरण रूप में दिया गया है, किन्तु दूसरी किसी प्रति में जिसके आधार परवर्तमान काव्यालङ्कार का सम्पादन किया गया है, ये दोनों भाग लिखने से रह गये हों। लक्षण के विषय में तो इतना ही भेद है कि राघव भट्ट ने जो लक्षण उद्धृत किया है वह पूरा एक श्लोक है, किन्तु वर्तमान 'काव्यालङ्कार' में दिया हुआ लक्षण आधे श्लोक में ही आ गया है। वर्तमान 'काव्यालङ्कार' का लक्षण अपूर्ण सा भी जान पड़ता है। राघव भट्ट ने जो लक्षण दिया है वह पूर्ण लक्षण है। इसलिए ऐसा अनुमान होता है कि वर्तमान 'काव्यालङ्कार' की पाण्डुलिपि में लक्षण की एक पंक्ति लिखने से छूट गयी है। इसी प्रकार पर्यायोक्त के अनेक उदाहरण 'काव्यालङ्कार' में पाये जाते हैं। सम्भव है इनके साथ हयग्रीववधस्थ एक और भी उदाहरण रहा हो। परन्तु यह बात तभी सम्भव हो सकती है जब 'हयग्रीववध' के प्रणेता का काल भामह के पूर्व निश्चित किया जा सके अन्यथा नहीं। किन्तु यह बात निश्चित है कि केवल इस श्लोक के आधार पर भामह के अलङ्कार विषयक किसी अन्य ग्रन्थ की कल्पना नहीं की जा सकती है। उनका छन्दःशास्त्र विषयक तो दूसरा ग्रन्थ हो सकता है किन्तु अलङ्कार शास्त्र के विषय में तो 'काव्यालङ्कार' के रहते अन्य दूसरा ग्रन्थ लिखे जाने की कोई सङ्गति नहीं लगती है।

छन्दःशास्त्र के विषय में भामह ने किसी ग्रन्थ की रचना की थी यह बात अन्य साहित्य ग्रन्थों में भामह के नाम से उद्धृत किये गये उद्धरणों से प्रतीत होती है। उनमें से एक उदाहरण तो हम 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की राघव भट्ट कृत टीका में से ऊपर उद्धृत कर चुके हैं। उसी प्रकार का दूसरा उद्धरण 'वृत्त रत्नाकर' की टीका में नारायण भट्ट ने इस प्रकार दिया है –

'तदृक्तं भामहेन–

अवर्णात् सम्पत्तिर्भवति मुदिवर्णात् धनशता–
न्युवर्णाद् अख्यातिः सरभसमृवर्णाद्धरहितात्।।
तथा ह्येचः सौख्यं ङ–ञ–णरहितादक्षरगणात्
पदादौ विन्यस्ताद् भ–र–ब–ह–ल–हाहाविरहितात्।।'

–वृत्तरत्नाकर, पृ06

'तदुक्तं भामहेन –

देवतावाचकाः शब्दाः ये च भद्रादिवाचकाः।
ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोपि वा।।
कः खो गो घश्च लक्ष्मीं वितरति वियशो ङस्तथा चः सुखं छः
प्रीतिं यो मित्रलाभं भयमरणकरौ झ–ञौ ट–ठौ खेद दुःखे।

ङः शोभां ढो विशोभां भ्रमणमथ च णस्तः सुखं थश्च युद्धं
दो धः सौख्यं मुदं नः सुखभयमरणक्लेशदुःखं पर्वगः।।
यो लक्ष्मीं रश्च दाहं व्यसनमथ ल–वौ शः सुखं षश्च खेदं
सः सौख्यं हश्च खेदं विलयमपि च लः क्षः समृद्धिं करोति।
संयुक्तं चेह न स्यात् सुख–मरण–पटुर्वर्णविन्यासयोगः
पद्यादौ गद्यवक्त्रे वचसि च सकले प्राकृतादौ समोयम्।।' –वृत्तरत्नाकर, पृ0 7

यद्यपि ये सब उद्धरण बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हैं फिर भी इनके आधार पर यह सम्भावना मानी जा सकती है कि भामह ने सम्भव है छन्दःशास्त्र विषयक कोई अन्य ग्रन्थ लिखा हो।

भामह भट्ट के नाम से एक ग्रन्थ और मिलता है और वह है वररुचिके 'प्राकृत–प्रकाश' नामक प्राकृत–व्याकरण ग्रन्थ की 'प्राकृतमनोरमा' नामक टीका। प्राकृत–व्याकरण में इस टीका का बड़ा महत्त्व माना जाता है। पिशल आदि प्राकृत–व्याकरण के विद्वानों ने 'काव्यालङ्कार' और 'प्राकृतमनोरमा' दोनों के निर्माता एक ही भामह को माना है। इस प्रकार भामह के 1. 'काव्यालङ्कार' तथा 2. 'प्राकृतमनोरमा' दो ग्रन्थ तो उपलब्ध होते हैं और तीसरे छन्दःशास्त्र विषयक ग्रन्थ की भी रचना उन्होंने की थी इस बात का अनुमान किया जाता है। 'प्राकृतमनोरमा' 'प्राकृतप्रकाश' की टीका है। 'काव्यालङ्कार' स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इसमें 6 परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में 60 श्लोक हैं और उनमें काव्य के शरीर का वर्णन किया गया है; द्वितीय और तृतीय दोनों परिच्छेदों में अलङ्कारों का वर्णन किया गया है। चतुर्थ परिच्छेद में दोषों का निरूपण किया है और उसमें 50 श्लोक हैं। पञ्चम परिच्छेद के 70 श्लोकों में न्याय निर्णय का प्रतिपादन किया है और षष्ठ परिच्छेद के 60 श्लोकों में शब्दु शुद्धि का विवेचन किया गया है। इस प्रकार 'काव्यालङ्कार' में कुल मिलाकर 400 श्लोक हैं जो 6 परिच्छेदों में विभक्त हैं। भामह ने स्वयं इस सबका विवरण निम्नलिखित प्रकार दिया है –

'षष्ट्या शरीरं निर्णीतं शतषष्ट्या त्वलङ्कृतिः।
पञ्चाशता दोषदृष्टिः सप्तत्या न्यायनिर्णयः।।
षष्ट्या शब्दस्य शुद्धिः स्यादित्येवं वस्तुपञ्चकम्।
उक्तं षड्भिः परिच्छेदैः भामहेन क्रमेण वः।।'

आचार्य दण्डी

भामह के बाद दूसरे आचार्य, जिन्होंने अलङ्कार शास्त्र पर स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थ रचना की, दण्डी हैं। भामह और दण्डी के पौर्वापर्य के निरूपण के प्रसङ्ग में हम पीछे देख चुके हैं कि दण्डी का काल अष्टम शताब्दी में पड़ता है। दण्डी ने अपने 'अवन्तिसुन्दरी कथा' में अपने को महाकवि भारवि का प्रपौत्र बतलाया है और बाण तथा मयूर कवि की प्रशंसा की है। अतएव उनका समय सप्तम शताब्दी में राजा हर्षवर्धन (राज्यकाल 606–648 तक) की राजसभा में रहने वाले बाणभट्ट के बाद अर्थात् आठवीं शताब्दी में है।

दण्डी की रचनाएं

'शाङ्र्गधर पद्धति' में श्लोक संख्या 174 पर राजशेखर के नाम से निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया गया है –

'त्रयोग्नयस्त्रयो वेदा त्रयो देवास्त्रयो गुणाः।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः।।'

अर्थात् तीन अग्नि, तीन वेद, तीन देव और तीन गुणों के समान दण्डी कवि के तीन ग्रन्थ्ज्ञ सारे संसार में प्रसिद्ध हैं। इस श्लोक द्वारा राजशेखर ने दण्डी के तीन ग्रन्थों की विश्वविश्रुता बतलाया है। किन्तु अभी कुछ पूर्व तक विद्वानों को दण्डी के तीन ग्रन्थों के नामों का भी पता नहीं था। दण्डी के 1. 'काव्यादर्श' तथा 2. 'दशकुमारचरित' दो ग्रन्थ तो लोकप्रसिद्ध हैं किन्तु इनका तीसरा ग्रन्थ कौन सा है इसका पता इस 20वीं

शताब्दी के आरम्भ में विद्वानों को नहीं था। डॉ0 पिशल ने 'मृच्छकटिक' को दण्डी का तीसरा ग्रन्थ कहने का साहस कर डाला। 'दशकुमारचरित' की भूमिका में डॉ0 पीटर्सन ने तथा डॉ0 जैकोबी ने 'छन्दोविचित' नामक ग्रन्थ की दण्डी का तीसरा ग्रन्थ कहा है। किन्तु यह सिद्धान्त भी गलत निकला। उसके बाद कुछ लोगों ने 'कलापरिच्छेद' नामक किसी ग्रन्थ को दण्डी की तृतीय रचना माना। परन्तु यह बात भी केवल कल्पना मात्र ही ठहरी। उसमें कोई तत्त्व नहीं निकला। इस प्रकार दण्डी का तीसरा ग्रन्थ कौन–सा है इसके विषय में विद्वज्जन अभी तक अन्धकार में थे। 'प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्रान्जैक्शन्स ऑफ दि सेकेण्ड ओरिएण्टल कॉन्फ्रेंस', पृ0 198201 तथा 'जनरल ऑफ दि मिथिक सोसाइटी' भाग 13, पृ0 671–685 के अनुसार अभी दक्षिण भारत में स्थित मद्रास के हस्तलिखित ग्रन्थों के राजकीय पुस्तकालय में 'अवन्तिसुन्दरी कथा' नामक एक ग्रन्थ की पाण्डुलिपि मिली है। इसके प्रारम्भिक भाग के देखने से स्पष्ट रूप से विदित होता है कि यह ग्रन्थ दण्डी ने लिखा है। इसी में दण्डी ने अपने को भारवि का प्रपौत्र कहा है। इस प्रकार इस 'अवन्तिसुन्दरी कथा' को मिलाकर दण्डी के तीन ग्रन्थ बन जाते हैं।

एक बात को जानकर और आश्चर्य होगा कि अभी तक कुछ लोग ऐसे भी हैं जो 'दशकुमारचरित' के दण्डी कृत होने में सन्देह करते हैं। श्री त्रिवेदी ने अपने सम्पादित 'प्रतापरूद्रयशोभूषण' की भूमिका में तथा श्री आगाशे ने 'दशकुमारचरित' की भूमिका में इस प्रकार का सन्देह प्रदर्शित किया है। श्री आगाशे का कहना यह है कि 'काव्यादर्श' के प्रणेता दण्डी बड़े कठोर आलोचक हैं।

'तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।।' – काव्यादर्श 1–7

'काव्यादर्श' के इस सिद्धान्त के अनुसार दण्डी काव्य में एक तनिक से भी दूषण को सहन नहीं करते हैं। सुन्दर चेहरे पर यदि एक भी कोढ़ का दाग हो जाय तो जैसे मुख का सारा सौन्दर्य नष्ट हो जाता है उसी प्रकार सुन्दर काव्य में एक भी दोष आ जाने पर काव्य का सारा सौन्दर्य जाता रहता है। इसलिए काव्य में एक भी दोष की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। यह दण्डी का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के आधार पर आगाशे महोदय का कहना है कि 'दशकुमारचरित', जिसमें कि सैकड़ों दोष पाये जाते हैं, किसी भी अवस्था में दण्डी की रचना नहीं हो सकता है।

ग्राम्यत्व दोष के विवेचन में दण्डी ने –

'कन्ये कामयमानं मां न त्वं कामयसे कथम्।
इति ग्राम्योयमर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते।।'– काव्यादर्श 1–63

'हे कन्ये, मैं तुमको चाहता हूँ फिर तुम मुझको क्यों नहीं चाहती हो' इस बात को भी दण्डी ने ग्राम्य दोष का उदाहरण माना है और इस प्रकार की उक्ति को भी वैरस्यापादक माना है। परन्तु 'दशकुमारचरित' में इससे भी कहीं अधिक ग्राम्यता के उदाहरण पाये जाते हैं। इससे भी आगाशे महोदय ने अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि करने का यत्न किया है कि 'यशकुमारचरित' दण्डी की रचना नहीं है।

परन्तु इस बात को लिखते समय आगाशे महोदय ने सिद्धान्त और व्यवहार के सार्वत्रिक भेद की ओर ध्यान नहीं दिया है। सिद्धान्त और व्यवहार का यह भेद तो सब जगह पाया जाता है। सिद्धान्त या लक्ष्य बिन्दु तो सदा ऊँचा होता है और रखना भी चाहिये। किन्तु व्यवहार में उसका उतना शुद्ध रूप में पालन लगभग असम्भव है। इसलिए यदि दण्डी के सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर पाया जाता है तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। दण्डी ही क्यों, कोई भी महाकवि आज तक ऐसे निर्दोष काव्य की रचना नहीं कर सकहा है जिसके ऊपर अँगुली न उठायी जा सके। कोई भी कवि या कोई व्यक्ति किसी भी कार्य को करे, सिद्धान्ततः यही चाहता है कि उसके कार्य में कोई कमी न रहने पाये, कोई दोष न निकाल सके, परन्तु फिर भी मनुष्य के प्रत्येक काम में कोई–न–कोई दोष रह ही जाता है। व्यक्ति विवेककार ने लिखा है –

'स्वकृतिष्वयन्त्रितः कथमनुशिष्यादन्यमयमिति न वाच्यम्।
वारयति भिषगपथ्यादितरान् स्वयमाचरन्नपि तत्।।'

वैद्य स्वयं अपथ्य का सेवन करते हुए भी दूसरों को अपथ्य का निषेध करता है। दण्डी

ने 'काव्यादर्श' में तनिक से भी काव्य दोष की उपेक्षा न करने की बात लिखी है वह सब वैद्य के अपथ्य सेवन के निषेधक आदेश के समान हैं और 'कन्ये कामयमानं मां' आदि श्लोक में तो दण्डी ने यही दिखलाया है कि बात को इस प्रकार नग्न रूप में कहना सहृदयों के लिए रुचिकर नहीं होता है। उसी बात को यदि थोड़ी–सी शैली बदलकर यों कह दिया जाय कि –

'कामं कन्दर्पचाण्डालो मयि वामाक्षि निर्दयः।
त्वयि निर्मत्सरो दिष्ट्येत्यग्राम्योर्थो रसावहः।।'– काव्यादर्श 1–64

तो यह अर्थ ग्राम्यता दोष से रहित और रसावह हो जाता है। इसलिए 'दशकुमारचरित' में दोषों के विद्यमान होने से आगाशे महोदय ने जो यह परिणाम निकाला है कि वह दण्डी की रचना नहीं है वह अनुचित और असङ्गत है। दूसरी बात यह भी है कि 'दशकुमारचरित' दण्डी की अप्रौढ़ावस्थ्ज्ञा की रचना है इसलिए उसमें दोषों का होना स्वाभाविक है।

आगाशे महोदय ने 'दशकुमारचरित' को दण्डी की रचना न माने का दूसरा कारण यह बतलाया है कि 'दशकुमारचरित' की रचनाशैली बड़ी क्लिष्ट और समास बहुल है, जब कि 'काव्यादर्श' की रचना शैली बड़ी सरल समास रहित प्रसाद गुण युक्त है। इसलिए भी इन दोनों का रचयिता एक नहीं हो सकता है।किन्तु वह हास्यास्पद–सी बात है। 'दशकुमारचरित' गद्यग्रन्थ है। उसमें समास बाहुल्य गुण है, दोष नहीं। स्वयं 'काव्यादर्श' में दण्डी ने इस बात का समर्थन करते हुए लिखा है –

ःओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्।
पद्येप्यदाक्षिणात्यानामिदमेकं परायणम्।।'– काव्यादर्श 1–80

अर्थात् समास बाहुल्यात्मक ओज गुण ही तो गद्य की जान है और दाक्षिणात्य लोगों को छोड़कर अन्य लोग तो पद्य में भी समास बाहुल्य का प्रयोग पसन्द करते हैं। इसलिए गद्यात्मक 'दशकुमारचरित' में भी समास बाहुल्य पाया जाता है और वह उसमें सौन्दर्य का आधान कर रहा है। 'काव्यादर्श' तो गद्य–ग्रन्थ नहीं है; पद्यात्मक ग्रन्थ है। इसलिए उसमें समास का न होना या कम होना स्वाभाविक है। फिर 'काव्यादर्श' में समासभूयस्त्व नहीं है यह बात नहीं है।

'पयोधरतटोत्सङ्गलग्नसन्ध्यातपांशुका।
कस्य कामातुरं चेतो वारुणी न करिष्यति।।'– काव्यादर्श 1–84

इस पद्य में पूर्वार्द्ध भाग सारा का सारा मिलकर एक समस्त पद है। इसलिए 'दशकुमारचरित' के समास बाहुल्य के आधार पर उसको दण्डी की रचना न मानने का आगाशे मोदय का विचार किसी रूप में भी ग्राह्य नहीं हो सकता है।

एक बात और है, संस्कृत साहित्य में दण्डी एक महा कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं।

'जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि।।'

इस श्लोक में तो बाल्मीकि तथा व्यास के बाद तीसरे नम्बर पर दण्डी कवि को ही रखा गया है। सबसे पहिले जब वाल्मीकि इस जगत् में आये तो उनके लिए एकवचन 'कवि' शब्द का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। उस समय कोई दूसरा कवि नहीं कहलाता था। उसके बाद व्यास के आने पर 'कवी' यह द्विवचन में कवि शब्द का प्रयोग होने लगा, क्योंकि अब वाल्मीकि और व्यास दो कवि हो गये। किन्तु अभी तक 'कवयः' इस बहुवचन में कवि शब्द के प्रयोग का अवसर नहीं आया। कवि शब्द का बहुवचन में 'कवयः' प्रयोग दण्डी के बाद होना प्रारम्भ हुआ। यह तो कवि की प्रशंसा परक अतिशयोक्ति है। किन्तु इसका भाव इतना ही है कि दण्डी एक महाकवि के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनकी यह प्रसिद्धि मुख्य रूप से 'दशकुमारचरित' के आधार पर ही है। 'काव्यादर्श' के आधार पर कवित्व की प्रसिद्धि नहीं है। यदि उस 'दशकुमारचरित' को उनकी रचनाओं में से निकाल दिया जाय तो फिर उनकी इस प्रसिद्धि का आधार ही क्या रह जाता है। इसी प्रकार –

'उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।

दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः।।'

इस प्रसिद्ध लोकोक्ति में दण्डी अपने 'दशकुमारचरित' के पदलालित्य के आधार पर ही स्थान पा सके हैं। इसलिए 'दशकुमारचरित' दण्डी की रचना नहीं है, आगाशे महोदय का यह कथन सर्वथा असङ्गत है। पता नहीं उन्होंने इस प्रकार की असङ्गत बात लिखने का साहस कैसे किया।

'काव्यादर्श'

दण्डी के तीन ग्रन्थों में से अलङ्कारशास्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थ 'काव्यादर्श' ही है। भारत में इसके अनेक संस्करण निकल चुके हैं। सबसे पहिला संस्करण सन् 1863 में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। उसमें प्रेम चन्द्र तर्कवागीश की टीका भी साथ में मुद्रित थी। उसके बाद सन् 1910 में प्रो0 रङ्गाचार्य द्वारा सम्पादित एक 'तरुण वाचस्पति' कृत टीका तथा दूसरी 'हृदयङ्गमा' टीका जिसके निर्माता के नाम का पता नहीं है, इन दो टीकाओं सहित एक संस्करण मद्रास से प्रकाशित हुआ। उसके बाद पूना से डॉ0 बेलवलकर और .... रङ्गाचार्य रेड्डी द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ। 'काव्यादर्श' में सामान्यतः तीन परिच्छेद हैं। किन्तु मद्रास से प्रकाशित रङ्गाचार्य वाले संस्करण में चार परिच्छेद रखे गये थे। अन्य संस्करणों में जिसको तृतीय परिच्छेद के रूप में दिया गया है उसको रङ्गाचार्य वाले संस्करण में दो भागों में विभक्त कर दिया गया था। उसमें दोषों के निरूपण से चतुर्थ परिच्छेद का आरम्भ किया गया था। कलकत्ता और मद्रास वाले संस्करण में दूसरा अन्तर यह भी था कि कलकत्ता वाले संस्करण में कुल श्लोकों की संख्या 660 थी और मद्रास वाले संस्करण में वह संख्या 663 थी। यह तीन संख्याओं का अन्तर इस प्रकार है कि दो श्लोक तो तृतीय परिच्छेद के अन्त में अधिक पाये जाते हैं और एक श्लोक चतुर्थ परिच्छेद के आरम्भ में अधिक पाया जाता है। इसके अतिरिक्त कलकत्ता वाले संस्करण के तृतीय परिच्छेद के 190 वें श्लोक के बाद –

'आधिव्याधिपरीताय अद्य श्वो वा विनाशिने।

को हि नाम शरीराय धर्मापेतं समाचरेत्।।'

यह एक चौथा श्लोक मद्रास संस्करण में अधिक पाया जाता है। इस प्रकार मद्रास संस्करण में चार श्लोक अधिक हो जाते हैं। किन्तु इसके साथ ही 2 य परिच्छेद का 'लिम्पतीव तमोङ्गानि' वाला प्रसिद्ध श्लोक मद्रास वाले संस्करण में नहीं पाया जाता है। इसलिए इन दोनों संस्करणों में तीन श्लोकों का ही अन्तर रह जाता है। कलकत्ता वाले संस्करण में कुल 660 श्लोक थे और मद्रास वाले संस्करण में 663 श्लोक थे।

'काव्यादर्ष' के प्रथम परिच्छेद में काव्य का लक्षण, उसके गद्य, पद्य और मिश्रकाव्य रूप तीन भेद, सर्गबन्ध महाकाव्य का लक्षण देने के बाद गद्य काव्य के कथा तथा आख्यायि का रूप भामहाभिमत दो भेंदों का उल्लेख कर फिर उसका खण्डन कर दिया है। उन्होंने कथा और आख्यायिका को एक ही जाति माना है। उसके बाद साहित्य का भाषा के आधार पर 1. संस्कृत, 2. प्राकृत, 3. अपभ्रंश तथा 4. मिश्ररूप से चार भागों में विभाजन किया है। उसके बाद काव्य के दस गुणों के लिए 'वैदर्भ' तथा 'गौड' दो मार्गो का उल्लेख कर उसी प्रसङ्ग में अनुप्रास का लक्षण तथा उदाहरण दिये हैं। इसके बाद उत्तम कवि बनने के लिए आवश्यक 1. प्रतिभा 2. श्रुत तथा 3. अभियोग इन तीन गुणों का वर्णन किया है।

द्वितीय परिच्छेद में अलङ्कार का सामान्य लक्षण करने के बाद 35 अलङ्कारों के लक्षण तथा उदाहरण दिये हैं। वे 35 अलङ्कार, जिनका वर्णन दण्डी ने द्वितीय परिच्छेद में किया है, क्रमशः निम्नलिखित प्रकार है –

1. स्वभावोक्ति, 2. उपमा, 3. रूपक, 4. दीपक, 5. आवृत्ति, 6. आक्षेप, 7. अर्थान्तरन्यास, 8. व्यतिरेक, 9. विभावना, 10. समासोक्ति, 11. अशियोक्ति, 12. उत्प्रेक्षा, 13. हेतु, 14. सूक्ष्म, 15. लेश (या लव), 16. यथासंख्या (याक्रम), 17. प्रेय, 18. रसवत्, 19. ऊर्जस्वि, 20. पर्यायोक्त, 21. समाहित, 22. उदात्त, 23. अपह्नुति, 24. श्लेष, 25. विशेषोक्ति, 26. तुल्ययोगिता, 27. विरोध, 28. अप्रस्तुत प्रशंसा, 29. व्याजोक्ति, 30 निदर्शना, 31. सहोक्ति, 32. परिवृत्ति, 33. आशीः, 34. संसृष्ट और 35. भाविक।

'काव्यादर्श' के तृतीय परिच्छेद में ग्रन्थकार ने 'यमक' का विस्तार के साथ्ज्ञ वर्णन किया है और चित्रबन्ध के गोमुत्रिका, अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र, स्वरस्थानवर्णनियम आदि भेदों का तथा प्रहेलिका के दस भेदों का वर्णन करने के बाद दस प्रकार के काव्य दोषों का वर्णन किया है। मद्रास वाले संस्करण में इन दोषों के विवेचन को चतुर्थ परिच्छेद में दिखलाया गया है।

रुद्रट का परिचय

वामन के बाद अगले आचार्य रुद्रट हैं। ये साहित्य शास्त्र के इतिहास में एक अत्यन्त प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। इनका दूसरा नाम शतानन्द था। किन्तु वह नाम अधिक प्रसिद्ध नहीं है। इनकी प्रसिद्धि रुद्रट नाम से ही है। इनके पिता का नाम वामुक भट्ट था। नाम से प्रतीत होता है कि ये भी कश्मीरी थे। अपने वंश के परिचय रूप में इनके एक श्लोक को टीकाकार ने विशेष रूप से निम्नलिखित प्रकार उल्लिखित किया है –

'अत्र च चक्रे स्वनामाङ्कभूतोयं श्लोकः कविनान्तर्भावितो यथा –

शतानन्दपराख्येन भट्टवामुकसूनुना।

साधितं रुद्रटेनेदं सामाजा धीमतां हितम्।।'

– काव्यालङ्कार 5। 12–14 की टीका

इनके मत का उल्लेख धनिक, मम्मट, प्रतीहारेन्दुराज, राजशेखर आदि अनेक आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में किया है। किन्तु इनमें सबसे पूर्ववर्ती उल्लेख राजशेखर द्वारा किया गया है। राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में 'काकुवक्रोक्तिर्नाम शब्दालङ्कारोयमिति रुद्रटः' 'काव्यमीमांसा, (अध्याय 7, पृष्ठ 31) लिखकर रुद्रट के मत का उल्लेख किया है। राजशेखर का काल 920 ई0 के लगभग माना जाता है। इसलिए रुद्रट का काल उनके पहले नवम शताब्दी में 850 ई0 के लगभग पड़ता है।

ऐसा जान पड़ता है कि साहित्य शास्त्र के सारे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना कश्मीर में हुई और उनमें से अधिकांश लोगों ने अपने ग्रन्थों के नाम भी 'काव्यालङ्कार' ही रखे हैं। इस परम्परा के अनुसार कश्मीरवासी रुद्रट के ग्रन्थ का नाम भी 'काव्यालङ्कार' होना चाहिये और है भी। रुद्रट का 'काव्यालङ्कार' ग्रन्थ आर्या छन्द में लिखा गया है। इसमें कुल 714 आर्याएँ हैं। ग्रन्थ 16 अध्यायों में विभक्त है, जिनमें से 11 अध्यायों में अलङ्कारों का वर्णन है। अन्तिम अध्याय में रसों की मीमांसा की गयी है। इसमें नौ रसों के साथ एक 'प्रेय' नामक रस की और कल्पना कर के रसों की संख्या दस कर दी गयी है। नायक नायिका भेद का भी विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। अलङ्कारों के विवेचन में इन्होंने नयी बात यह की है कि वैज्ञानिक आधार पर अलङ्कारों का विभाजन करने का यत्न किया है। वास्तव में औपम्य, अतिशय तथा श्लेष इन चार को इन्होंने अलङ्कारों का विभाजक तत्त्व माना है और इसीके आधार पर अलङ्कारों को चार भागों में विभक्त किया है। यह इनका बिलकुल नया दृष्टिकोण है। रुद्रट ने अलङ्कार क्षेत्र में 1. मत, 2. साम्य, 3. पिहित और 4. भाव नाम के चार बिलकुल नवीन अलङ्कारों की कल्पना की है, जिनका उल्लेख प्राचीन और नवीन किन्हीं ग्रन्थों में नहीं मिलता है। कुछ प्राचीन अलङ्कारों का इन्होंने नवीन रूप में नया नामकरण किया है। जैसे भामह आदि के 'व्याजस्तुति' के लिए इन्होंने 'व्याजश्लेष' (10–11) शब्द का प्रयोग किया है। 'स्वभावोक्ति' के स्थान पर 'जाति' (9–3) और 'उदात्त' के स्थान पर 'अवसर' (7–103) आदि नामों का प्रयोग किया है।

अभ्यास प्रश्न –

1.प्रश्न–सन् 1825 में विलसन महोदय ने कुछ संस्कृत नाटकों का किस भाषा मे अनुवाद किया था ?

2–प्रश्न–'काव्यालङ्कार' ग्रन्थ के लेखक कौन है ?

3–प्रश्न–दशकुमारचरित ग्रन्थ के लेखक कौन है ?

4–प्रश्न– दण्डी के अलङ्कारशास्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थ कौन हैं ?

5–प्रश्न– दण्डी की कितनी कृतियाँ प्रसिद्ध हैं ?

1.4 सारांश

इस इकाई के अन्तर्गत भरत, भामह दण्डी एवं रुद्रट के जीवन वृत्त, समय, कृतित्त्व के विषय में आपने अध्ययन किया । भामह और दण्डी के बाद अगले आचार्य रुद्रट हैं। ये साहित्य शास्त्र के इतिहास में एक अत्यन्त प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। इनका दूसरा नाम शतानन्द था। किन्तु वह नाम अधिक प्रसिद्ध नहीं है। इनकी प्रसिद्धि रुद्रट नाम से ही है। इनके पिता का नाम वामुक भट्ट था। नाम से प्रतीत होता है कि ये भी कश्मीरी थे। अपने वंश के परिचय रूप में इनके एक श्लोक को टीकाकार ने विशेष रूप से उल्लिखित किया है। भामह के ग्रन्थ मे काव्यशास्त्रीय तत्वों का विवेचन किया गया है। इनका गन्थ काव्यालंकार है । आचार्य दण्डी नें काव्यादर्श में काव्य के लक्षण सहित अन्य काव्यशास्त्रीय तत्वों का सम्यक्तया विवेचन किया है ।आचार्य रूद्रट रसवादी आचार्य कहे जाते हैं। रुद्रट का 'काव्यालङ्कार' ग्रन्थ आर्या छन्द में लिखा गया है। इसमें कुल 714 आर्याएँ हैं। ग्रन्थ 16 अध्यायों में विभक्त है, जिनमें से 11 अध्यायों में अलङ्कारों का वर्णन है। अतः इस इकाई के अध्ययन के बाद आप इन आचार्यों का परिचय समझा सकेगें ।

1.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
कालिदासस्य	कालिदास का
भारवेः	भारवि का
अर्थगौरवम्	र्थगौरव
दण्डिनः	दण्डि ने
पदलालित्यम	पदलालित्य
माघे	माघ मे
सन्ति	होते हैं
यो गुणाः	तीन गुण

1. 6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.उत्तर –सन् 1825 में विलसन महोदय ने कुछ संस्कृत नाटकों का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया था।
2.उत्तर–'काव्यालङ्कार' ग्रन्थ के लेखक कौन भामह है।
3.उत्तर–'काव्यालङ्कार' ग्रन्थ के लेखक दण्डी है।
4.उत्तर–दण्डी के अलङ्कारशास्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थ 'काव्यादर्श' हैं ।
5.उत्तर– दण्डी की तीन कृतियाँ प्रसिद्ध हैं।

1. 7 सदर्भ ग्रन्थ सूची

1.–संस्कृत साहित्य का इतिहास .	बलदेव उपाध्याय	प्रकाशक शारदा निकेतन वी, कस्तूरवानगर सिगरा वाराणसी
2–काव्यप्रकाश	आचार्य मम्मट	चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी

1. 8 उपयोगी पुस्तकें

4–काव्यशास्त्र का इतिहास –पी 0 वी 0 काणे काव्यमाला सिरीज

1. 9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.दण्डी का विस्तृत परिचय दीजिये ।
2. भरत का परिचयात्मक वर्णन कीजिए ।
3.भामह और दण्डी का तुलनात्मक वर्णन प्रस्तुत कीजिए ।

इकाई.2 उद्भट, वामन, कुन्तक जीवन वृत्त, समय, कृतित्व

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 उद्भट, वामन, कुन्तक, जीवन वृत्त, समय, कृतित्व

2.4 सारांश

2.5 शब्दावली

2.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.8 उपयोगी पुस्तके

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1.प्रस्तावना

काव्यशास्त्र से सम्बन्धित खण्ड पाच की पहली इकाई है। इस इाकई के अध्ययन से आप बता सकते है कि दण्डी के समान उद्भट ने भी साहित्य शास्त्र के सम्बन्ध में तीन ग्रन्थ लिखे। उनके एक ग्रन्थ 'भामहविवरण' का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। यह ग्रन्थ भामह के 'काव्यालङ्कार' की व्याख्या के रूप में लिखा गया था, किन्तु इस समय उपलब्ध नहीं होता है। अनेक साहित्य ग्रन्थों में उसका उल्लेख आदर पूर्वक किया जाता है। उनके शेष दो ग्रन्थों में एक 'काव्यालङ्कार सारसंग्रह' है।

वामन रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं।वक्रोक्ति को काव्य में अलंकार मानने वाले आचार्य कुन्तक हैं, इन्होंने वक्रोक्तिजीवितम् की रचना की है ।इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में काव्यलक्षण, प्रयोजन आदि की विवेचना भी की गयी है।वक्रोक्तिः काव्य जीवितम् इनका सिद्धान्त है ।

अतः इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप उद्भट, वामन, कुन्तक, के जीवन वृत्त, समय व कृतित्त्व आदि पर प्रकाश डाल सकेगें ।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप उद्भट्ट, वामन, कुन्तक के जीवन वृत्त, समय, कृतित्त्व सम्बन्धी महत्त्व पूर्ण बातों को जानकर –

- उद्भट्ट, के व्यक्तित्व के विषय में बता सकेंगे।
- वामन के सिद्धान्त को समझा सकेंगे।
- कुन्तक के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए ,वक्रोक्ति सिद्धान्त का परिचय दे सकेंगे ।
- इन आचार्यों के सिद्धान्तों का परीक्षण कर सकेंगे ।

2.3 उद्भट्ट, वामन, कुन्तक का जीवन वृत्त, समय, कृतित्त्व

उद्भट्ट

दण्डी के बाद आचार्य भट्टोद्भट का नाम आता है जिन्होंने अलङ्कार शास्त्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। भट्ट उद्भट, जैसा कि उनके नाम से विदित होता है, कश्मीरी ब्राह्मण थे। वे कश्मीर के राजा जयादित्य की राजसभा के पण्डित नहीं, अपितु सभापति थे। उन्हें राज्य की ओर से प्रतिदिन एक लाख दीनार वेतन रूप में मिलता था। कल्हण की 'राज तरङ्गिणी' में उनका वर्णन करते हुए लिखा गया है –

'विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।

भट्टोभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः'।। 4–495

कश्मीर में महाराज जयापीड का शासनकाल 779 ई0 से लेकर 813 ई0 तक माना जाता है। इसलिए उद्भट का समय भी आठवीं शताब्दी का अन्तिम तथा नवम शताब्दी का प्रारम्भिक भाग पड़ता है।

दण्डी के समान उद्भट ने भी साहित्य शास्त्र के सम्बन्ध में तीन ग्रन्थ लिखे। अनेक साहित्य ग्रन्थों में भामहविवरण का उल्लेख आदर पूर्वक किया जाता है। उनके शेष दो ग्रन्थों में एक 'काव्यालङ्कार सारसंग्रह' और दूसरा 'कुमारसम्भव' काव्य है। इनमें से केवल 'काव्यालङ्कार सारसंग्रह' में साहित्यशास्त्र के तत्व पाये जाते हैं। 'काव्यालङ्कार सारसंग्रह' में उद्भट ने जितने भी उदाहरण दिये हैं वे सब अपने बनाये

हुए इस 'कुमारसम्भव' काव्य से ही दिये हैं। महाकवि कालिदास का भी 'कुमारसम्भव' नामक एक काव्य है किन्तु उद्भट का 'कुमारसम्भव' काव्य उससे बिलकुल भिन्न है। यद्यपि दोनों काव्यों की रचना एक ही कथानक को आधार मानकर की गयी है, किन्तु रामचरित को लेकर बनाये गये अनेक काव्यों और नाटकों के समान ये दोनों काव्य बिलकुल अलग हैं। फिर भी उन दोनों के कुछ श्लोकों की तुलना मनोरञ्जक होगी। 'कुमारसम्भव' के कथानक के अनुसार पार्वती जी जब शिव की प्राप्ति के लिए तपस्या कर रही थी तब उनकी परीक्षा लेने के लिए शिवजी ब्रह्मचारी का वेश बनाकर पार्वती के पास जाते हैं। उस समय पार्वती की तपस्या तथा शिव के जाने का वर्णन दोनों महाकवियों ने बड़े सुन्दर रूप में किया है। उस प्रसङ्ग के दो–तीन श्लोक दोनों कवियों के हम नीचे दे रहे हैं –

उद्भट का श्लोक – **'प्रच्छन्ना शस्यते वृत्तिः स्त्रीणां भावपरीक्षणे।**
प्रतस्थे धूर्जटिरतस्तनुं स्वीकृत्य बाटवीम्।।' 2–10

कालिदास का श्लोक – **विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं**
शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा।।' 5–30

उद्भट का श्लोक – **'अपश्यच्चातिकष्टानि तप्यमानां तपांस्युमाम्।**
असम्भाव्यपतीच्छानां कन्यानां का परा गतिः।।'

कालिदास का श्लोक – **'इयेष सा कर्तुमबन्ध्यरूपतां**
समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं
तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः।।' 5–2

उद्भट का श्लोक – **'शीर्णपर्णाम्बुवाताशकष्टेपि तपसि स्थिताम्।**
समुद्वहन्तीं नापूर्वं गर्वमन्यतपस्विवत्।। 2–1

कालिदास का श्लोक – **'स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता**
परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः।।' 5–28

'काव्यालङ्कार सार संग्रह'

भट्ट उद्भट का ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार सार संग्रह' है। यह ग्रन्थ 6 वर्गों में विभक्त है। इसमें कुल मिलाकर 79 कारिकाएँ हैं और उनमें 41 अलङ्कारों के लक्षण आदि दिये गये हैं।6 वर्गों में उन 41 अलङ्कारों का विभाजन निम्नलिखित प्रकार किया गया है –

प्रथम वर्ग – 1. पुनरुक्तवदाभास, 2. छेकानुप्रास, 3. त्रिविध अनुप्रास (परुषा, उपनागरिका, ग्राम्या या कोमला वृत्ति), 4. लाटानुप्रास, 5. रूपक, 6. उपमा, 7. त्रिविध दीपक (आदि दीपक, मध्य दीपक, अन्तदीपक), 8. प्रतिवस्तूपमा।

द्वितीय वर्ग – 1. आक्षेप, 2. अर्थान्तरन्यास, 3. व्यतिरेक, 4. विभावना, 5. समासोक्ति, 6. अतिशयोक्ति।

तृतीय वर्ग – 1. यथासंख्य, 2. उत्प्रेक्षा, 3. स्वभावोक्ति।

चतुर्थ वर्ग – 1. प्रेय, 2. रसवत्, 3. ऊर्जस्विन्, 4. पर्यायोक्त, 5. समाहित।

पञ्चम वर्ग – 1. अपहनुति, 2. विशेषोक्ति, 3. विरोध, 4. तुल्ययोगिता, 5. अप्रस्तुत प्रशंसा, 6. व्याजस्तुति, 7. निदर्शना, 8. उपमेयोपमा, 9. सहोक्ति 10. सङ्कर (चतुर्विध), 11. परिवृत्ति।

षष्ठ वर्ग – 1. अनन्वय, 2. ससन्देह, 3. संसृष्टि, 4. भाविक, 5. काव्यलिङ्ग, 6. दृष्टान्त।

इन सब अलङ्कारों का वर्णन 79 कारिकाओं में किया गया है और उनके उदाहरण रूप में लगभग 100 श्लोक ग्रन्थकार ने अपने 'कुमारसम्भव काव्य' में से ही उद्धृत किये हैं। इन 41 अलङ्कारों में से 1. पुररुक्तवदाभास, 2. काव्यलिङ्ग, 3. छेकानुप्रास, 4. दृष्टान्त

और 5. सङ्कर ये पाँच अलङ्कार ऐसे हैं जो भामह के 'काव्यालङ्कार' में नहीं पाये जाते हैं। किन्तु उद्भट ने एक रूप में उनकी स्थापना की है। ये पाँचों अलङ्कार दण्डी के 'काव्यादर्श' में भी नहीं पाये जाते हैं।

1. उत्प्रेक्षावयव, 2. उपमा रूपक औश्र 3. यमक ये तीन अलङ्कार ऐसे हैं जो भामह ने और दण्डी ने उत्प्रेक्षा के अन्तर्गत माने हैं किन्तु उद्भट ने उनको नहीं माना है।

1. लेश, 2. सूक्ष्म तथा 3. हेतु ये तीन अलङ्कार दण्डी ने माने हैं। भामह ने उनका निषेध किया है। भामह के समान उद्भट भी इन तीनों अलङ्कारों को नहीं मानते हैं, इसलिए उन्होंने अपने ग्रन्थ में इन तीनों अलङ्कारों की कोई चर्चा नहीं की है। 1. रसवत्, 2. प्रेय, 3. ऊर्जस्वि, 4. समाहित और 5. श्लिष्ट ये पाँच अलङ्कार ऐसे हैं जिनका वर्णन तो भामह और दण्डी ने किया है, किन्तु उनके लक्षण दोनों जगह अस्पष्ट हैं। उद्भट ने उनके लक्षण बहुत स्पष्ट रूप से प्रस्तुत कर दिये हैं। इस प्रकार पुनरुक्तवदाभासादि पाँच अलङ्कारों की स्थापना तथा रसवत् आदि पाँच अलङ्कारों के लक्षणों का स्पष्टीकरण साहित्यशास्त्र को उद्भट की अपनी विशेष देन है।

अचार्य वामन

अलङ्कारशास्त्र के आचार्यों में उद्भट के बाद वामन का नाम आता है। साहित्य शास्त्र के इतिहास में वामन का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। ये रीतिसम्प्रदाय नाम से प्रसिद्ध साहित्य शास्त्र के एक प्रमुख सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। 'रीतिरात्मा काव्यस्य' लिखकर इन्होंने रीति को काव्य की आत्मा माना है। इस सिद्धान्त के कारण इनका साहित्य शास्त्र के इतिहास में विशेष महत्त्व माना गया है। उद्भट के समान वामन भी कश्मीर के निवासी उद्भट के समकालीन और सहयोगी थे। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उद्भट कश्मीर राज जयादित्य की राजसभा के सभापति थे। आचार्य वामन उन्हीं जयादित्य के मन्त्री थे। 'राजतरङ्गिणी' में जहाँ उद्भभट के सभापति होने की बात लिखी है, वहीं वामन के जयादित्य के मन्त्री होने की बात भी इस प्रकार लिखी है –

'मनोरथः शङ्खदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः।।'
– राजतरङ्गिणी 4–497

जयादित्य का राज्यकाल 779 से 813 ई0 तक माना जाता है। अतएव इनका समय आठवीं शताब्दी के अन्त में और नवम शताब्दी के आरम्भ में पड़ता है।

वामन का एकमात्र ग्रन्थ 'काव्यालङ्कारसूत्र' है। अलङ्कार शास्त्र पर यह एक ऐसा ग्रन्थ है जो सूत्र शैली में लिखा गया है। यह ग्रन्थ पाँच अधिकरणों में विभक्त है। प्रत्येक अधिकरण दो या तीन अध्यायों में विभक्त किया गया है। इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में बारह अध्याय हैं। इन बारहों अध्यायों में मिलाकर सूत्रों की संख्या 312 है। ग्रन्थ के प्रथम अधिकरण में काव्य के प्रयोजन, अधिकारी का वर्णन कर के रीति को काव्य की आत्मा सिद्ध किया है। रीति को काव्य की आत्मा बतलाने वाले प्रसिद्ध सिद्धान्त का निरूपण कर, फिर रीति के तीन भेद तथा काव्य के अनेक प्रकार का वर्णन किया गया है। इस अधिकरण का नाम 'शरीराधिकरण' है और उसमें तीन अध्याय हैं। द्वितीयाधिकरण का नाम 'दोषदर्शनाधिकरण' है। इसमें दो अध्याय हैं जिनमें काव्य के दोषों का विवेचन किया गया है। तीसरे अधिकरण का नाम 'गुणविवेचनाधिकरण' है। इसमें दो अध्याय हैं, जिनमें काव्य के गुणों का विवेचन किया गया है। इसमें ग्रन्थकार ने गुण तथा अलङ्कारों का भेद भी दिखलाया है। ''काव्य–शोभायाः कर्तरो धर्मा गुणाः'' (3–1–1), ''तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः'' (3–1–2), इन सूत्रों में गुण तथा अलङ्कार के भेद निरूपण से ही इस अधिकरण का आरम्भ हुआ है। किन्तु उत्तरवर्ती मम्मटादि आचार्यों ने वामन के इस मत की बड़ी कटु आलोचना की है। वामन को गुण तथा अलङ्कार का यह भेद दिखलाने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि इनके पूर्ववर्ती उद्भट ने काव्य में गुण तथा अलङ्कारों का भेद नहीं माना है। उद्भट का कहना था कि लोक में तो शौर्यादि गुणों तथा हारादि अलङ्कारों में यह भेद किया जा सकता है कि

शौर्यादि गुण आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं और हारादि अलङ्कार संयोग सम्बन्ध से शरीर में रहते हैं, इसलिए वे दोनों भिन्न हैं। किन्तु काव्य में तो ओज आदि गुण तथा उपमादि अलङ्कार दोनों समवायसम्बन्ध से ही रहते हैं इसलिए उनमें कोई भेद नहीं है। उद्भट के इस मत का खण्डन करने के लिए वामन को गुण–निरूपण करने वाले तृतीय अधिकरण के आरम्भ में ही गुण तथा अलङ्कारों का यह भेद करना पड़ा।

चतुर्थ अधिकरण का नाम 'आलङ्ारिक अधिकरण' है। इसमें तीन अध्याय हैं। पाँचवे अधिकरण का नाम 'प्रायोगिकाधिकरण' है। इसमें दो अध्याय हैं और शब्द प्रयोग के विषय में विवेचन किया गया है।

इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं – 1. सूत्र, 2. वृत्ति तथा 3. उदाहरण। सूत्र और वृत्ति दोनों भागों की रचना वामन ने स्वयं की है।

'प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया।
काव्यालङ्कार सूत्राणां वृत्तिर्विधीयते।'

अर्थात् वामन ने अपने काव्यालङ्कार सूत्रों के ऊपर 'कविप्रिया' नाम की वृत्ति स्वयं ही लिखी है। इस प्रकार सूत्र तथा वृत्ति दो भागों की रचना तो स्वयं वामन ने की है। किन्तु उदाहरणस्वरूप तीसरे भाग में उन्होंने कुछ उदाहरण अपने भी दिये हैं और अधिकांश उदाहरण दूसरों के ग्रन्थों से लिये हैं। चतुर्थ अधिकरण के अन्त में उन्होंने स्वयं लिख है –

'एभिर्निदर्शनैः स्वीयैः परकीयैश्च पुष्कलैः।'

अन्य जिन ग्रन्थों से उदाहरण लेकर वामन ने अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किये हैं उनमें 'अमरुकशतक', 'उत्तररामचरित', 'कादम्बरी', 'किरातार्जुनीय', 'कुमारसम्भव', 'मालतीमाधव', 'मृच्छकटिक', 'मेघदूत', 'रघुवंश', 'विक्रमोर्वशीय', 'वेणीसंहार', 'अभिज्ञानशाकुन्तल', 'शिशुपालवध', 'हर्षचरित' आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'काव्यालङ्कारसूत्र' वामन का एकमात्र ग्रन्थ है किन्तु बीच में वह भी लुप्त हो गया था। प्रतीहारेन्दुराज के गुरु मुकुल भट्ट को कहीं से उसकी एक आदर्श प्रति मिली, उसके आधार पर इसका फिर प्रसार और प्रचार हो सका है। इस बात का उल्लेख 'काव्यालङ्कार' के टीकाकार सहदेव ने निम्नलिखित प्रकार किया है –

'वेदिता सर्वशास्त्राणां भट्टोभून्मुकुलाभिधः।
लब्ध्वा कुतश्चिदादर्शं भ्रष्टाम्नायं समुद्धृतम्।।
काव्यालङ्कारशास्त्रं यत् तेनैतद्वामनोदितम्।
असूया तत्र कर्तव्या विशेषालोकिभिः क्वचित्।।'

कुन्तक

कुन्तक साहित्य शास्त्र के एक प्रमुख आचार्य हैं। ये साहित्य के परम मान्य वक्रोक्ति सम्प्रदाय के संस्थापक माने जाते हैं। उनका समय आनन्दवर्धन के बाद राजशेखर तथा महिमभट्ट के बीच में पड़ता है। उन्होंने 'वक्रोक्तिजीवित' में (पृ0 196 पर) 'यस्मादत्र ध्वनिकारेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोत्र सुतरां समर्थितस्तत् किं पौनरुक्त्येन' लिखकर ध्वनिकार तथा (पृ0 156 पर) 'भवभूतिराजशेखरविरचितेषु बन्धसौन्दर्यसुमनेषु मुक्तकेषु परिदृश्यते' लिखकर राजशेखर का उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि वे आनन्दवर्धन और राजशेखर के भी बाद हुए हैं।

स्पष्ट रूप से कुन्तक के नाम का उल्लेख किया है इसलिए यह निश्चय है कि कुन्तक महिमभट्ट के पूर्ववर्ती हैं। राजशेखर का काल उनके शिष्य कन्नौज के राजा महेन्द्र पाल तथा उनके पुत्र महिपाल के काल के आधार पर दशम शतारब्दी का प्रारम्भिक भाग निर्धारित किया जाता है और महिमभट्ट का काल ग्यारहवीं शताब्दी के पहिले ही मानना होगा, क्योंकि ग्यारहवीं शताब्दी में अलङ्कार सर्वस्वकार रुय्यक ने महिमभट्ट के मत का उल्लेख किया है। इसलिए महिमभट्ट के पूर्ववर्ती होने के कारण कुन्तक का काल दशम शताब्दी का अन्तिम भाग मानना होगा। राजशेखर, कुन्तक और

महिमभट्ट ये सब थोड़े–थोड़े अन्तर से ही पूर्व–पश्चाद्वर्ती हैं, वैसे ये सब दशम शताब्दी के ही साहित्यक महापुरुष हैं।

कुन्तक का एकमात्र ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' है। किन्तु उस एक ही ग्रन्थ ने कुन्तक के नाम को अमर कर दिया है। महिमभट्ट के अतिरिक्त गोपालभट्ट ने 'साहित्यसौदामिनी' नामक ग्रन्थ के आरम्भ में कुन्तक की प्रशंसा करते हुए लिखा है –

'वक्रानुरञ्जिनीमुक्तिं शुक इव मुखे वहन्।
कुन्तकः क्रीडति सुखं कीर्तिस्फटिकपञ्जरे।।'

'ध्वन्यालोक' आदि ग्रन्थों के समान 'वक्रोक्तिजीवित' में भी कारिका, वृत्ति और उदाहरण, तीन भाग हैं। कारिका और वृत्ति दोनों के लेखक कुन्तक ही हैं। उदाहरण प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थों से लिये गये हैं। ग्रन्थ चार उन्मेषों में विभक्त किया गया है। प्रथम उन्मेष में काव्य के प्रयोजन, लक्षण तथा प्रतिपाद्य विषय षड्विधवक्रता का सामान्य उल्लेख किया गया है। द्वितीय उन्मेष में षड्विध–वक्रता में से 1. वर्णविन्यासवक्रता, 2. पदपूर्वार्द्धवक्रता तथा 3. प्रत्ययवक्रता इन तीन प्रकार की वक्रताओं का प्रतिपादन किया गया है। तृतीय उन्मेष में वाक्यवक्रता का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। उसी के भीतर अलङ्कारों का अन्तर्भाव हो जाता है। चतुर्थ उन्मेष में वक्रोक्ति के अन्तिम दो भेदों अर्थात् प्रकरणवक्रता तथा प्रबन्धवक्रता का निरूपण किया गया है।

कुन्तक अभिधावादी आचार्य हैं। वैसे ये लक्ष्य–व्यङ्ग्य अर्थ भी मानते हैं, किन्तु उनका अन्तर्भाव वाच्य में ही कर लेते हैं–'यस्मादर्थप्रतीतिकारित्वात् उपचारात् तावपि वाचकावेव। एवं द्योत्यव्यङ्ग्योर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्यदुपचारात् वाच्यत्वमेव' (का0 1–8 का0) और उस वाचकत्व का अर्थ 'कविविवक्षितविशेषाभिधानक्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षणम्' किया है।

अभ्यास प्रश्न –

1.प्रश्न आचार्य भट्टोद्भट ने किस शास्त्र के ऊपर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है ?
2–प्रश्न – भट्ट उद्भट, कौन से ब्राह्मण थे ?
3–प्रश्न – भट्ट उद्भट,किस राजसभा के सभापति थे ?
4–प्रश्न – कश्मीर में महाराज जयापीड का शासनकाल कबसे कब तक माना जाता है।
5–प्रश्न – उद्भट्ट की कितनी कृतियाँ प्रसिद्ध हैं ?

2.4 सारांश

इस इकाई में उद्भट्ट, वामन, कुन्तक जीवन वृत्त, समय, कृतित्त्व के विषय में वर्णन किया गया है।कुन्तक साहित्य शास्त्र के एक प्रमुख आचार्य हैं। ये साहित्य के परम मान्य वक्रोक्ति सम्प्रदाय के संस्थापक माने जाते हैं। उनका समय आनन्दवर्धन के बाद राजशेखर तथा महिमभट्ट के बीच में पड़ता है। उन्होंने 'वक्रोक्तिजीवित' में'यस्मादत्र ध्वनिकारेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोत्र सुतरां समर्थितस्तत् किं पौनरुक्त्येन' लिखकर ध्वनिकार तथा 'भवभूतिराजशेखरविरचितेषु बन्धसौन्दर्यसुमनेषु मुक्तकेषु परिदृश्यते' लिखकर राजशेखर का उल्लेख किया है। सभी आचार्य अलग अलग मतों के पोरूाक तो है किन्तु इन्होनें साहित्यशास्त्र को बढाने में अपूर्व योगदान दिया है । महिमभट्ट के पूर्ववर्ती होने के कारण कुन्तक का काल दशम शताब्दी का अन्तिम भाग मानना होगा। कश्मीर में महाराज जयापीड का शासनकाल 779 ई0 से लेकर 813 ई0 तक माना जाता है। इसलिए उद्भट का समय भी आठवीं शताब्दी का अन्तिम तथा नवम शताब्दी का प्रारम्भिक भाग है।'रीतिरात्मा काव्यस्य' लिखकर वामन नें रीति को काव्य की आत्मा माना है। इस सिद्धान्त के कारण इनका साहित्य शास्त्र के इतिहास में विशेष महत्त्व है। वामन का एकमात्र ग्रन्थ 'काव्यालङ्कारसूत्र' है। अलङ्कार शास्त्र पर यह एक ऐसा ग्रन्थ है जो सूत्र शैली में लिखा गया है। यह ग्रन्थ पाँच अधिकरणों में विभक्त है। प्रत्येक अधिकरण दो या तीन अध्यायों में विभक्त किया गया है। इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में बारह अध्याय हैं। इन बारहों अध्यायों में मिलाकर सूत्रों की संख्या 312 है।अतः इस

इकाई का अध्ययन करने के बाद आप उद्‌भट्‌ट, वामन, कुन्तक के जीवन वृत्त व समय, कृतित्त्व पर पर प्रकाश डालते हुए इनकी ऐतिहासिकता बता सकेंगे ।

2.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
वेदिता '	जानकर
सर्वशास्त्राणाम्	सभी शास्त्रों का
लब्ध्वा	प्राप्तकर
कुतश्चिदादर्शम्	कही आदर्श को
भ्रष्टाम्नाय	भ्रष्ट समूह को
समुद्‌धृतम्	अच्छी प्रकार से धारण किया
काव्यालङ्कारशास्त्रम्	काव्यालङ्कार शास्त्रों का
तेनैतद्वामनोदितम्।	इस प्रकार वामन के द्वारा कहा गया
असूया	कष्ट से
तन्न कर्तव्या	ऐसा नही करना चाहिये

2.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.उत्तर – आचार्य भट्टोद्भट ने अलङ्कारशास्त्र शास्त्र के ऊपर महत्त्वपूर्ण कार्य किया
2.उत्तर – भट्ट उद्भट, कौन से कश्मीरी ब्राह्मण थे।
3.उत्तर – भट्ट उद्भट, राजा जयादित्य की राजसभा के सभापति थे।
4.उत्तर – कश्मीर में महाराज जयापीड का शासनकाल 779 ई0 से लेकर 813 ई0 तक माना जाता है।
5.उत्तर – उद्‌भट्‌ट की तीन कृतियाँ प्रसिद्ध हैं।

2.7 सदर्भ ग्रन्थ सूची

1.–संस्कृत साहित्य का इतिहास . बलदेव उपाध्याय प्रकाशक शारदा निकेतन वी, कस्तूरवानगर सिगरा वाराणसी
2–काव्यप्रकाश आचार्य मम्मट विश्वेश्वर कृत हिन्दी व्याख्या सहित चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी

2. 8 उपयोगी पुस्तकें

4 .संस्कृत काव्यशस्त्र का इतिहास. पी0वी0 काणे .काव्यमाला सिरीज

2. 9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. कुन्तक का परिचय देकर उनके सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए ।
2. साहित्यशास्त्र के इतिहास में भट्‌टोद्‌भट का मूल्यांकन कीजिए ।
3. रीतिरात्मा काव्यस्य के प्रतिपादक का परिचय दीजिए ।

इकाई. 3 मम्मट, विश्वनाथ ,आनन्दवर्धन का जीवन वृत्त, समय, कृतित्त्व

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 मम्मट, विश्वनाथ एवं आनन्दवर्धन का जीवन वृत्त, समय, कृतित्त्व

3.4 सारांश

3.5 शब्दावली

3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.8 उपयोगी पुस्तकें

3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1.प्रस्तावना

काव्यशास्त्र से सम्बन्धित खण्ड चार की यह तीसरी इकाई है। इस इाकई के अध्ययन से आप बता सकते है कि 'काव्यप्रकाश' के कर्ता के रूप में साधारणतः मम्मट ही प्रसिद्ध हैं। भोजराज के बाद मम्मटाचार्य का काल आता है। अलङ्कार साहित्य के निर्माताओं की अब तक की धारा में दण्डी, राजशेखर और भोजराज के अतिरिक्त और सभी आचार्य कश्मीर निवासी थे। इसी प्रकार ये मम्मटाचार्य भी कश्मीर निवासी हैं यह बात उनके नाम से ही प्रतीत होती है।

विद्यानाथ के बाद विश्वनाथ कविराज का नाम आता है। इनका अलङ्कारशास्त्र विषयक 'साहित्यदर्पण' ग्रन्थ बड़ा लोकप्रिय है। उसके अन्तिम श्लोक में उन्होंने अपने को 'श्रीचन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनुः' कहा है, जिससे पता चलता है कि इनके पिता का नाम चन्द्रशेखर था। आनन्दवर्धनाचार्य साहित्य शास्त्र के प्रमुख ध्वनि सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक होने के नाते साहित्य शास्त्र के अत्यन्त प्रसिद्ध एवं प्रमुखतम व्यक्ति हैं। पूर्ववर्ती अन्य आचार्यों के समान यह भी कश्मीर के निवासी हैं।

अतः इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप मम्मट, विश्वनाथ एवं आनन्दवर्धन के जीवन वृत्त, समय, व कृतित्त्व पर विस्तार से वर्णन प्रस्तुत कर सकेंगे ।

3.2 उद्देश्य –

मम्मट, विश्वनाथ एवं आनन्दवर्धन जीवन वृत्त, समय, कृतित्त्व के वर्णन से सम्बद्ध इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- मम्मट के व्यक्तित्व और कृतित्व के विषय में बतायेंगे ।
- विश्वनाथ का समय व साहित्यशास्त्र में योगदान बता सकेगें ।
- आनन्दवर्धन के व्यक्तित्व के काल और योगदान का निरूपण कर सकेंगे ।
- इन सभी आचार्यों नें साहित्यशास्त्र के लिए क्या क्या किया है,यह भी समझा सकेंगे ।

3.1 मम्मट, विश्वनाथ एवं आनन्दवर्धन का जीवन वृत्त, समय, व कृतित्त्व

आचार्य मम्मट

अलङ्कार साहित्य के निर्माताओं की अब तक की धारा में दण्डी, राजशेखर और भोजराज के अतिरिक्त और सभी आचार्य कश्मीर निवासी थे। इसी प्रकार मम्मटाचार्य भी कश्मीर निवासी हैं यह बात उनके नाम से ही प्रतीत होती है। परन्तु इनके जीवन वृत्तादि का और कुछ अधिक परिचय नहीं मिलता है। कश्मीरी पण्डितों की परम्परागत प्रसिद्धि के अनुसार मम्मट 'नैषधीयचरित' के रचयिता महाकवि श्रीहर्ष के मामा माने जाते हैं। किन्तु यह प्रवाद मात्र जान पड़ता है, क्योंकि महाकवि श्रीहर्ष स्वयं कश्मीरी नहीं थे। 'काव्यप्रकाश' की 'सुधासागर' टीका के निर्माता भमसेन ने मम्मट के परिचय के रूप में कुछ पद्य लिखे हैं, उनसे यह प्रतीत होता है कि मम्मट कश्मीर देशीय जैयट के पूत्र थे। उन्होंने वाराणसी में जाकर विद्याध्ययन किया था। पतञ्जलि–प्रणीत 'महाभाष्य' के टीकाकार कैयट तथा यजुर्वेद भाष्यकार उव्वट दोनों मम्मट के छोटे भाई थे। इस भाव का वर्णन भीमसेन ने अपने श्लोकों में निम्नलिखित प्रकार किया है –

'शब्दब्रह्म सनातनं न विदितं शास्त्रैः क्वचित् केनचित्
तद्देवी हि सरस्वती स्वमभूत् काश्मीर–देशे पुमान्।
श्रीमज्जैयटगेहिनीसुजठराज्जन्माप्य युग्मानुजः
श्रीमन्मम्मटसंज्ञया श्रिततनुं सारस्वतीं सूचयन्।।
मर्यादां किल पालयन् शिवपुरीं गत्वा प्रपठ्यादरात्

शास्त्रं सर्वजनोपकाररसिकः साहित्यसूत्रं व्यधात्।
तत्वृत्तिं च विरच्य गूढमकरोत् काव्यप्रकाशं स्फुटं
वैदग्ध्यैकनिदानमर्थिषु चतुर्वर्गप्रदं सेवनात्।।
कस्तस्य स्तुतिमाचरेत् कविरहो को वा गुणान् वेदितुं
शक्तः स्यात् किल मम्मटस्य भुवने वाग्देवतारूपिणः।
श्रीमान् कैयट औव्वटो ह्यवरजौ यच्छात्रतामागतौ
भाष्याब्धिं निगमं यथाक्रममनुव्याख्याय सिद्धिं गतौ।।'

मम्मट का जन्म 'जैयटगेहिनी' के सुजठर से हुआ था। अर्थात् वे जैयट के पुत्र थे और 'श्रीमान् कैरूट औव्वटौ ह्यवरजौ' कैयट और औव्वट उनके छोटे भाई थे, जिन्होंने 'भाष्याब्धिं निगमं यथाक्रममनुव्याख्याय' महाभाष्य तथा वेदों पर व्याख्या लिखी थी। इस प्रकार मम्मट रूप में स्वयं सरस्वती देवी ने कश्मीर देश में पुरुष के रूप में अवतार लिया था और साहित्यशास्त्र पर सूत्रों का निर्माण, उस पर स्वयं काव्यप्रकाश–वृत्ति की रचना की थी।

यह विवरण सुधासागरकार भीमसेन ने मम्मटाचार्य के विषय में अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। किन्तु इसमें जो कैयट तथा औव्वट या उव्वट को मम्मट अनुज कहा है वह ठीक प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि उव्वट कृत वाजसनेय संहिता–भाष्य में उनका परिचय इस प्रकार मिलता है –

'आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना।
मन्त्रभाष्यमिदं क्लृप्तं भोजे पृथ्वीं प्रशासति।।'

उव्वट द्वारा स्वयं प्रदत्त इस विवरण के अनुसार उव्वट के पिता का नाम 'वज्रट' है, 'जैयट' नहीं, और उनका वेदभाष्य भोजराज के शासनकाल में लिखा गया है। किन्तु मम्मट का समय भोजराज के समकाल नहीं अपितु उनके बाद पड़ता है क्योंकि मम्मट ने स्वयं दशम उल्लास में उदात्त अलङ्कार के उदाहरण रूप में जो पद्य दिया है उसमें अन्त में 'भोजनृपतेस्तत् त्यागलीलायितम्', वह सब भोजराज के दान का फल है, इस रूप में भोजराज के नाम का उल्लेख किया है। भोजराज का शासनकाल, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, 996 ई0 से 1051 ई0 पर्यन्त माना जाता है। मम्मट उनके उत्तरवर्ती जान पड़ते हैं। किन्तु यदि कथञ्चित् मम्मट को भोजराज का समकालीन भी मान लिया जाय तो भी उव्वट को उनका अनुज कहना कठिन है। हाँ कैयट को उनका अनुज माना जा सकता है, क्योंकि कैयट भी 'कैयटो जैयटात्मजः' के अनुसार अपने को जैयट का पुत्र कहा है। किन्तु उव्वट तो वज्रट के पुत्र हैं। इसलिए उव्वट को मम्मट का अनुज बतलाने वाला भीमसेन का लेख सन्दिग्ध जान पड़ता है।

इसके अतिरिक्त 'शिवपुरीं गत्वा प्रपठ्यादरात्' लिखकर मम्मट को विद्याध्ययन के लिए कश्मीर से 'शिवपुरी' वाराणसी भेजा है। यह बात भी कुछ युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होती। कश्मीर तो स्वयं विद्या का केन्द्र था। साहित्य शास्त्र के अब तक जितने आचार्य हुए थे, उनमें से दण्डी, राजशेखर और भोजराज को छोड़कर सभी आचार्य कश्मीर में ही उत्पन्न हुए थे। जो तीन आचाग्र कश्मीर से बाहर के थे, काशी के साथ उनका भी कोई सम्बन्ध नहीं था। साहित्यशास्त्र की दृष्टि से काशी का कोई विशेष महत्त्व उस समय नहीं था। इसलिए मम्मट के लिए कश्मीर को छोड़कर काशी आने का र्को विशेष प्रयोजन या आकर्षण नहीं प्रतीत होता है। इन सब कारणों से भीमसेन का मम्मट विषयक उपर्युक्त परिचय अप्रामाणिक मालूम होता है। भीमसेन का यह लेख मम्मट के लगभग 600 वर्ष बाद सन् 1723 में लिखा गया है। इसलिए उसमें अधिकतर कल्पना से काम लिया गया है। उव्वट ने अपने ऋक्–प्रातिशाख्य में अपने को वज्रट का पुत्र लिखा है और वाजसनेय संहिताभाष्य में 'भोजे राज्यं प्रशासति' लिखा है; इन दोनों बातों से उव्वट का सम्बन्ध मम्मट से नहीं जुड़ता है।

'काव्यप्रकाश' के कर्ता के रूप में साधारणतः मम्मट ही प्रसिद्ध हैं। किन्तु वस्तुतः वे अकेले ही इस ग्रन्थ के निर्माता नहीं है। इसमें मम्मट के अतिरिक्त कश्मीर के विद्वान् 'अल्लर्ट' का भी सहयोग है। वह सहयोग कितने अंश में है इस विषय में कुछ मतभेद

पाया जाता है, किन्तु 'काव्यप्रकाश' केवल अकेले मम्मट की रचना नहीं है, उसकी रचना में अल्लट का भी हाथ है, इस विषय में मतभेद नहीं है। अधिकांश टीकाकार इस बात में एकमत हैं। 'काव्यप्रकाश' के अन्त में एक श्लोक निम्नलिखित प्रकार दिया गया है –

'इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत्।
न तद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग्विनिर्मिता सङ्घटनैव हेतुः।।'

'काव्यप्रकाश' के सबसे पूर्ववर्ती टीकाकार माणिक्य चन्द्र ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है–

'अथ चायं ग्रन्थोन्येनारब्धोपरेण च समापित इति द्विखण्डोपि सङ्घटनावशादखण्डायते।'
इसी प्रकार 'काव्यप्रकाश' की 'सङ्केत' टीका के निर्माता रुचक ने इसकी व्याख्या में लिखा है–

'एतेन महामतीनां प्रसरणहेतुरेष ग्रन्थो ग्रन्थकृतानेन कथमप्यसमाप्तत्वादपरेण च पूरितावशेषत्वात् द्विखण्डोपि।'

इन दोनों टीकाकारों ने इस बात की ओर सङ्केत तो किया है कि ग्रन्थ का आरम्भ अन्य विद्वान् के द्वारा अर्थात् मम्मटाचार्य के द्वारा किया गया, किन्तु किसी कारण से वे इसको समाप्त नहीं कर सके, तब इसकी समाप्ति दूसरे विद्वान् के द्वारा की गयी। किन्तु दो निर्माताओं के द्वारा बनाये जाने पर भी यह ग्रन्थ अखण्ड–सा प्रतीत होता है। परन्तु इन टीकाकारों ने न तो स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख किया कि पूर्व ग्रन्थकार अर्थात् मम्मट ने ग्रन्थ का कितना भाग लिखा और दूसरे ग्रन्थकार ने कितना भाग लिखा और न इस बात का ही सङ्केत किया कि वह दूसरा विद्वान्, जिसने अपूर्ण 'काव्यप्रकाश' को पूर्णता प्रदान की, कौन था। इन दोनों बातों का उल्लेख स्पष्ट रूप से सबसे पहिले 'काव्यप्रकाश निदर्शना' नामक टीका के निर्माता राजानक आनन्द ने (1685) निम्नलिखित प्रकार किया है–

'कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः।
ग्रन्थः सम्पूरितः शेषं विधायाल्लटसूरिणा।।'

इस श्लोक से यह स्पष्ट हो जाता है कि मम्मटाचार्य ने परिकर अलङ्कारपर्यन्त 'काव्यप्रकाश' की रचना की, उसके बाद कदाचित् उनका देहावसान हो गया या किसी अन्य कारण से वे ग्रन्थ को समाप्त नहीं कर सके तो शेष ग्रन्थ की रचना 'अल्लट' या 'अलट' नाम के विद्वान् ने करके इस ग्रन्थ को पूरा किया। इस प्रकार की घटना 'कादम्बरी' ग्रन्थ के विषय में भी हुई है। 'कादम्बरी' के निर्माता बाणभट्ट कादम्बरी के केवल पूर्वार्द्धभाग की ही रचना कर सके थे। उसके बाद उसके उत्तरार्द्ध भाग की रचना उनके पुत्र ने की थी। इस प्रकार मम्मटाचार्य के इस अपूर्ण 'काव्यप्रकाश' की समाप्ति अल्लट या अलकसूरि ने की।

यह एक मत हुआ। इसके अनुसार दशम उल्लास के परिकर अलङ्कार तक के अधिकांश ग्रन्थ की रचना मम्मट ने की है। उनके बाद जो थोड़ा–सा भाग रह गया था उसकी पूर्ति अलकसूरि या अल्लटसूरि ने की थी। पर इसके अतिरिक्त एक दूसरा मत भी पाया जाता है। उसके अनुसार 'काव्यप्रकाश' का एक भाग मम्मटाचार्य का और दूसरा भाग अल्लटसूरि का लिखा हुआ है यह बात नहीं है अपितु सारा का सारा ग्रन्थ दोनों विद्वानों की सम्मिलित रचना है। जैसे 'नाट्यदर्पण' नामक ग्रन्थ की रचना रामचन्द्र और गुणचन्द्र दोनों ने मिलकर की है। सम्पूर्ण 'नाट्यदर्पण' गुणचन्द्र और रामचन्द्र की सम्मिलित कृति है। इसी प्रकार सम्पूर्ण 'काव्यप्रकाश' मम्मट और अल्लट की सम्मिलित कृति है। इस दूसरी मत का उल्लेख भी उसी 'काव्यप्रकाशनिदर्शना' टीका में राजानक आनन्द ने अन्यों के मत को दिखलाते हुए निम्नलिखित प्रकार किया है –

'अन्येनाप्युक्तम्–

काव्यप्रकाशदशकेपि निबन्धकृद्भ्यां
द्वाभ्यां कृतेपि कृतिनां रसवत्त्वलाभः।'

श्री भण्डारकर ने संवत् 1215 (सन् 1118) में लिखी गयी 'काव्यप्रकाश' की एक पाण्डुलिपि के अन्त में पुष्पिका में 'इति राजानकमम्मटालकयोः' इस प्रकार का लेख पाया है। इससे भी सम्पूर्ण 'काव्यप्रकाश' मम्मट तथा अल्लट दोनों की सम्मिलित रचना है

इस मत की पुष्टि होती है। 'अमरुक–शतक' की टीका में उसके निर्माता अर्जुन वर्मदेव ने भी इसी मत की पुष्टि की है। उन्होंने 'भवतु विदितं' इत्यादि श्लोक की व्याख्या में पृष्ठ 29 पर लिखा है – 'यथोदाहृतं दोषनिर्णये मम्मटालकाभ्याम्–''प्रसादे वर्तस्व'' इत्यादि'। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे न केवल परिकरालङ्कार के बाद वाले भाग को ही अलक–विरचित मानते हैं अपितु सप्तम उल्लास को भी अर्थात सारे ग्रन्थ को ही दोनों की सम्मिलित कृति मानते हैं। 'अमरुकशतक' के टीकाकार अर्जुन वर्मदेव ने एक जगह और इसी बात का उल्लेख किया है। 'लीलातामरसाहत' आदि ('काव्यप्रकाश' उदाहरण संख्या 238) 'अमरुकशतक' का बड़ा सुन्दर श्लोक है। इसमें 'वायु' पद आया है। 'काव्यप्रकाश' ने उस 'वायु' पद को जुगुप्साव्यञ्जक अश्लीलता का उदाहरा मानकर इस श्लोक को अश्लीलता के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। इस पर टिप्पणी करते हुए अर्जुन वर्मदेव ने लिखा है –

'अत्र केचिद् वायुपदेन जुगुप्साश्लीलमिति दोषमाचक्षते। ... तदा वाग्देवतादेश इति व्यवसितव्य एवासौ। किन्तु ह्लादैकमयीवरलब्धप्रसादौ काव्यप्रकाशकारौ प्रायेण दोषदृष्टी।'
इसमें भी 'काव्यप्रकाशकारौ' यह द्विवचन का उल्लेख यह बतलाता है कि अर्जुन वर्मदेव की दृष्टि में 'काव्यप्रकाश' का सम्पूर्ण भाग मम्मट तथा अल्लट दोनों विद्वानों की सम्मिलित रचना है। 'अमरुकशतक' के टीकाकार अर्जुनवर्मदेव मालवाधीश और धारा नगरी के राजा भोजराज (जिनका उल्लेख पहिले किया जा चुका है) के वंशधर हैं। वे भोज के बआद धारा के राजसिंहासन को अलङ्कृत करने वाले 13वें राजा थे। 1211 से लेकर 1216 ई0 तक के उनके शिलालेख पाये जाते हैं, अर्थात् ये काव्यप्रकाशकार के लगभग 100 वर्ष बाद हुए हैं।

'काव्यप्रकाश' की 'सङ्केत' टीका के प्रथम तथा दशम उल्लास के अन्त की पुष्पिकाओं में एक और सङ्केत मिलता है। इसके प्रथम उल्लास के अन्त की और दशम उल्लास के अन्त की पुष्पिकाएँ निम्नलिखित प्रकार हैं –

'इति श्रीमद्राजानकमल्लमम्मटरुचकविरचिते निजग्रन्थकाव्यप्रकाशसङ्केते प्रथम उल्लासः।'

इसमें 'काव्यप्रकाश' के निर्माता रूप में राजानक मल्ल (अलक के स्थान पर), मम्मट और रुचक तीन नाम दिये हैं। इसी प्रकार दशम उल्लास की पुष्पिका में फिर 'राजानकमम्मट–अलक–रुचकानाम्' इन्हीं तीन नामों का उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि 'सङ्केत' टीका के निर्माता रुचक 'काव्यप्रकाश' को दो की नहीं, तीन की कृति मानते हैं। पर यह बात नहीं है। रुचक ने इस स्थल पर 'काव्यप्रकाश' मूल ग्रन्थ के साथ अपनी 'सङ्केत' टीका को भी सम्मिलित करके पुष्पिकाएँ दी हैं। इसलिए 'काव्यप्रकाश' के मम्मट तथा अलक निर्माताओं के साथ टीकाकार के रूप में अपने नाम का भी समावेश कर दिया है। यहाँ ग्रन्थकार जिस ग्रन्थ की पुष्पिका लिख रहे हैं वह ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ नहीं अपितु 'काव्यप्रकाशसङ्केत' ग्रन्थ है। उसके तीन रचयिता हो जाते हैं, 'काव्यप्रकाश' के नहीं। इसलिए 'काव्यप्रकाश' के विषय में युग्मकर्तुत्ववाला सिद्धान्त प्रायः सर्वसम्मत सिद्धान्त माना जाता है।

कारिकाकर्तृत्व का निर्णय

'काव्यप्रकाश' के युग्मकर्तृत्व–सिद्धान्त के दो पक्ष हमने ऊपर बताया। इनमें से एक पक्ष के अनुसार 'काव्यप्रकाश' का प्रारम्भ से लेकर परिकरालङ्कार तक का भाग मम्मटक का और शेष अन्तिम भाग अलकसूरि का लिखा हुआ है। दूसरे मत के अनुसार सारा का सारा 'काव्यप्रकाश' मम्मट तथा अलकसूरि की सम्मिलित रचना है। इस प्रकार 'काव्यप्रकाश' के युग्मकर्तृत्व विषयक ये दो सिद्धान्त बनते हैं। इसी प्रसङ्ग में एक और तीसरा सिद्धान्त भी है। वह भी 'काव्यप्रकाश' को दो व्यक्तियों की रचना मानता है। किन्तु उसकी विचारशैली भिन्न प्रकार की है। 'ध्वन्यालोक', 'व्यक्तिविवेक' आदि अन्य सभी ग्रन्थों के समान 'काव्यप्रकाश' में तीन भाग हैं – 1. कारिकाभाग, 2. वृत्तिभाग और 3. उदाहरणभाग। 'काव्यप्रकाश' के उदाहरण सब विभिन्न प्रसिद्ध काव्यों से लिये गये हैं इसलिए उनके कर्तृत्व के विषय में कोई विवाद नहीं है। किन्तु कारिका भाग और वृत्ति भाग की रचना के विषय में दो प्रकार के मत पाये जाते हैं। कुछ लो इन दोनों भागों

के कर्ता अलग–अलग मानते हैं। उनके मतानुसार कारिका भाग के निर्माता भरतमुनि हैं और वृत्ति भाग के निर्माता मम्मटाचार्य हैं। दूसरे लोग कारिका भाग तथा वृत्तिभाग दोनों का निर्माता एक ही मम्मटाचार्य को मानते हैं।

कारिका तथा वृत्ति भाग का भिन्नकर्तृकत्व बताने वाला पूर्वपक्ष

कारिका भाग तथा वृत्तिभाग दोनों के निर्माता अलग–अलग हैं इस सिद्धान्त का उदय बङ्ग देश में हुआ। साहित्यकौमुदीकार विद्याभूषण तथा 'काव्यप्रकाश' की 'आदर्श' टीका के निर्माता महेश्वर ने 'काव्यप्रकाश' के कारिका भाग का निर्माता भरतमुनि को माना है। विद्याभूषण ने 'साहित्यकौमुदी' में दो बार इस बात का उल्लेख किया है जो निम्नलिखित प्रकार है –

'मम्मटाद्युक्तिमाश्रित्य मितां साहित्यकौमुदीम्।
वृत्तिं भरतसूत्राणां श्रीविद्याभूषणो व्यधात्।।

इसमें विद्याभूषण ने 'काव्यप्रकाश' के सूत्रों को भरतसूत्र कहा है। दूसरी जगह उन्होंने फिर लिखा है –

'सूत्राणां भरतमुनीशवर्णितानां वृत्तीनां मितवपुषां कृतौ ममास्याम्।'

इन लेखों से विदित होता है कि साहित्यकौमुदी का विद्याभूषण के मत में 'काव्यप्रकाश' के सूत्र भरतमुनि–विरचित हैं। इसी प्रकार 'आदर्श' व्याख्या के निर्माता महेश्वर ने (जीवानन्द संस्करण पृ0 3 पर) 'काव्यप्रकाश' के सूत्रों को भरत निर्मित तथा वृत्ति भाग को मम्मटाचार्य कृत माना है।

इसके विपरीत जयराम ने अपनी 'तिलक' नामक 'काव्यप्रकाश' की टीका में इस मत का खण्डन किया है। उन्होंने पहिले पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रों को भरत कृत मानने वालों का पक्ष रखा है, फिर उसका खण्डन कर सूत्र तथा वृत्ति दोनों भागों का निर्माता मम्मट को ही सिद्ध किया है। 'काव्यप्रकाश' के सूत्र भाग को भरतमुनि कृत मानने वाले लोग अपने पक्ष के समर्थन में प्रायः तीन युक्तियाँ देते हैं।

उनकी पहली युक्ति यह है कि 'काव्यप्रकाश' में रसनिरूपण के विषय में जो सूत्र आये हैं वे स्पष्ट रूप से भरतमुनि के सूत्र हैं। 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' यह स्पष्ट ही भरतसूत्र है। इसके अतिरिक्त 'शृंङ्कार–हास्य–करुण–रौद्र–वीर–भयानकाः' इत्यादि सूत्र संख्या 44, जिसमें कि रसों के नाम गिनाये जाते हैं, 'रतिहसिश्च शेकश्च' इत्यादि सूत्र संख्या 45, जिसमें स्थायि भावों के नाम दिये गये हैं और 'निर्वेदग्लानिशङ्का' इत्यादि सूत्र संख्या 46, जिसमें व्यभिचारि भावों के नामों का निर्देश किया गया है ये सब भरतमुनि के सूत्र हैं। ये तीनों सूत्र भरतनाट्य–शास्त्र के छठे अध्याय में क्रमशः 14, 17 तथा 21 संख्या वाले हैं।

भेदवादियों की दूसरी युक्ति यह है कि 'काव्यप्रकाश' की प्रथम कारिका की वृत्ति आरम्भ करते समय ग्रन्थकार ने – 'ग्रन्थारम्भे विध्नविघाताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति' यह प्रथम पुरुष का प्रयोग किया है। इससे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार मम्मट जिस कारिका की व्याख्या करने जा रहे हैं उसका बनाने वाला उनसे भिन्न कोई दूसरा व्यक्ति है। तभी उसके लिए 'परामृशति' इस प्रथम पुरुष का प्रयोग बनता है। अन्यथा यदि वे अपनी बनायी कारिकाओं की स्वयं ही व्याख्या लिख रहे होते तो इस प्रकार प्रथम पुरुष का प्रयोग न कर के उत्तम पुरुष का प्रयोग करते। ऐसा नहीं किया है। इससे यही सिद्ध होता है कि कारिका कार भरतमुनि ही हैं।

तीसरी युक्ति यह है कि दशम उल्लास में रूपक के निरूपण में 'समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा' यह सूत्र (संख्या 139) आया है। इस सूत्र की व्याख्या में मम्मट ने लिखा है – 'बहुवचनमविवक्षितम्' अर्थात् बहुवचन के स्थान पर द्विवचन भी हो सकता है। भेदवादियों का कहना है कि यदि कारिका भाग के निर्माता मम्मट स्वयं ही होते तो पहिले सूत्रभाग में 'आरोपिताः' इस बहुवचन का प्रयोग कर के फिर स्वयं उसकी व्याख्या में 'बहुवचनमविवक्षितम्' ऐसा लिखने की क्या आवश्यकता थी। वे कारिका में स्वयं ही 'श्रोतावारोपितौ यदा' पाठ रख सकते थे। पर क्योंकि सूत्रभाग मम्मट का बनाया हुआ नहीं है, भरत का बनाया हुआ है, इसलिए उसकी व्याख्या में 'बहुवचनमविवक्षितम्' लिखा जाना सङ्गत हो सकता है।

मूल्याङ्कन

वाग्देवतावतार मम्मट और उनके ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' ने अलङ्कार शास्त्र के क्षेत्र में बड़ा गौरव तथा आदर प्राप्त किया है। उस गौरव का कारण ग्रन्थ की अपनी विशेषताएँ हैं। 'काव्यप्रकाश' की सबसे बड़ी विशेषता, जिसके कारण उसको इतना अधिक गौरव प्राप्त हुआ और उसका इतना अधिक प्रचार हो सका, उसकी सूत्रशैली और विषय–बाहुल्य है। मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में संक्षेप में काव्यशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले सारे विषयों का प्रतिपादन बड़े सुन्दर रूप में कर दिया है। भरतमुनि से लेकर भोजराज तक लगभग 1200 वर्षों में अलङ्कार शास्त्र के विषय में जिस विशाल साहित्य का निर्माण हुआ उसका दिग्दर्शन हम ऊपर करा चुके हैं। मम्मट ने इस सारे विशाल साहित्य का मन्थन कर उसका सारभूत जो 'नवीनतम' प्राप्त किया वह 'काव्यप्रकाश' है। अलङ्कार शास्त्र की दृष्टि से भरत के नाट्यशास्त्र का नवनीत है रस सिद्धान्त। भरतमुनि का रस सूत्र और उस पर गत 1200 वर्षों में जो कुछ ऊहापोह हुआ है उस सब का सार 'काव्यप्रकाश' में सुन्दर रूप में उपस्थित है। भामह का 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' वाला काव्यलक्षण और अधिक निर्दुष्ट, और अधिक सगुण, और अधिक अलङ्कृत, और परिमार्जित कर दिया है। भामह और दण्डी ने शब्द शक्तियों का विवेचन किया है, न रस औ ध्वनि का। इसलिए वे आज के अलङ्कारशास्त्र की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करते और विषय प्रतिपादन की दृष्टि से अपूर्ण हैं। मम्मट ने भामह और दण्डी की इस कमी को समझा और 'काव्यप्रकाश' में इन विषयों का समावेश कर के उस कमी को दूर करने का यत्न किया। उद्भट तो 'अलङ्कार सारसंग्रह' में ही रम गये हैं। गिने–चुने 41 अलङ्कारों के निरूपण के अतिरिक्त उनके पास काव्यशास्त्र का और कोई तत्त्व नहीं है। वामन रीति पर रीझ रहे हैं। उन्होंने यद्यपि गुण, दोष और अलङ्कारों का भी वर्णन किया है, किन्तु काव्य के आत्मभूत रस की नितान्त उपेक्षा कर दी है और रीति को असाधारण गौरव प्रदान कर दिया है। वे साहित्यिक तत्त्वों का यथार्थ मूल्याङ्कन नहीं कर सके हैं। मम्मट ने रीति, गुण, दोष और अलङ्कार सबका यथार्थ मूल्याङ्कन किया है और सबको अपनी योग्यता के अनुरूप स्थान दिया है। यह उनकी बड़ी विशेषता है। वामन के बाद रुद्रट आते हैं, पर वे भी काव्यलक्षण, शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के विवेचन में लगे हुए हैं। दस प्रकार के रस और नायक–नायिका भेद का वर्णन इन्होंने अवश्य किया है किन्तु उसके बाद भी साहित्य शास्त्र के अनेक अङ्ग छूट जाते हैं; शब्दशक्ति, ध्वनि आदि के विवेचन के बिना साहित्यिक गन्थ पूर्ण नहीं कहा जा सकता। रुद्रट के बाद आनन्दवर्धन आते हैं। आनन्दवर्धन सचमुच ही आनन्दवर्धन हैं। उन्होंने ध्वनि तत्त्व का ऐसा विशद और प्राञ्जल विवेचन उपस्थिति किया है कि सहृदयों का हृदय आनछनोल्लास से परिपूर्ण हो उठता है। पर अकेली मिठाई से ही तो कम नहीं चलता। भगवान् ने तो मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त षड्रस बनाये हैं। उन सबकी विविधता आस्वाद विशेष की उत्पन्न करती है। आनन्दवर्धन में वह विविधता कहाँ है ? उनका तो सब कुछ ध्वनि पर केन्द्रित हो रहा है। इसलिए वे भी साहित्य शास्त्र का समग्र चित्र अपने 'ध्वन्यालोक' में प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। काव्यप्रकाशकार ने तो 'ध्वन्यालोक' का सारा तत्त्वांश बड़े सुन्दर रूप में अपने ग्रन्थ में उपस्थित कर दिया है। या यों कहिये कि मम्मट ने आनन्दवर्धन को पुनः प्राणदान किया है अन्यथा ध्वनि विरोध भट्टनायक और महिमभट्ट ने मिलकर उनके ध्वनि सिद्धान्त को कुचल ही डाला था। यह तो मम्मट का ही सामर्थ्य था कि इस उग्र सङ्घर्ष के बीच से वे ध्वनि सिद्धान्त को बचा कर निकाल लाये हैं और अब वह सिद्धान्त 'ध्वन्यालोक' से भी अधिक सुन्दर रूप में और अधिक पुष्ट आधार पर 'काव्यप्रकाश' में उपस्थित है। इसीलिए मम्मटाचार्य को 'ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य' कहा जाता है।

आनन्दवर्धन के बाद अभिनव गुप्त आते हैं। वे बड़े उद्भट विद्वान् और प्रौढ़ लेखक थे। 'ध्वन्यालोकलोचन' और 'अभिनवभारती' दोनों साहित्य शास्त्र के लिए बड़ी देन हैं। परन्तु वे दोनों मिलकर भी साहित्य को पूर्ण नहीं कर रही हैं। काव्य के आवश्यक अङ्ग –

दोष और अलङ्कारों का विवेचन उनमें नहीं है। इसलिए वे अलङ्कार शास्त्र की दृष्टि से अपूर्ण और एकदेशी ही कहे जा सकते हैं। 'काव्यप्रकाश' ने उनकी इस अपूर्णता को पूर्ण किया है। 'लोचन' में अभिनव गुप्त ने ध्वनि सिद्धान्त का उद्धार करने का यत्न किया है और 'अभिनवभारती' में नाट्यशास्त्र का। अलङ्कार शास्त्र की दृष्टि से उनका जो सारभूत तत्त्व है वह सब 'काव्यप्रकाश' में उपस्थित है। इसलिए 'काव्यप्रकाश' इनकी अपेक्षा अधिक परिपूर्ण है और साहित्यिक आवश्यकता को अधिक सुन्दरता के साथ शान्त करने वाला है। इनके बाद राजशेखर आते हैं। यह तो बस 'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः' हैं। 'काव्यमीमांसा' साहित्य शास्त्र का विवेचन करने वाली होने पर भी अब तक की सारी विचार धारा से बिलकुल भिन्न है। इसलिए उपयोगी होने पर भी वह अलङ्कार शास्त्र विषयक जिज्ञासा की निवृत्ति में प्रायः असमर्थ है। अगले मुकुलभट्ट हैं। इनका 'अभिधावृत्तिमातृका' ग्रन्थ केवल शब्दशक्ति से सम्बन्ध रखता है। अलङ्कार शास्त्र के अन्य अङ्गों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। काव्यप्रकाशकार मम्मट ने उसकी उपेक्षा नहीं की है। साहित्य शास्त्र के एक आवश्यक भाग की पूर्ति उसके द्वारा होती है इसलिए उसका भी सारांश उन्होंने बड़े सुन्दर रूप में अपने ग्रन्थ में उपस्थित किया है। कुन्तक, क्षेमेन्द्र और भोजराज के सिद्धान्तों का भी यथार्थ मूल्याङ्कन कर उनका समुचित रूप में 'काव्यप्रकाश' में समावेश किया गया है और ध्वनि विरोधी महिमभट्ट को तो खूब मजा चखाया है। उनकी ध्वनि विरोधी युक्तियों की ऐसी छीछालेदर की है कि अब वह बिचारा सिकुड़–सिकुड़ाकर अपने 'व्यक्तिविवेक' के भीतर ही समा गया है, उसके बाहर उसका कहीं कोई आदर नहीं है। जिस ध्वनि सिद्धान्त को मिटा डालने का व्यक्तिविवेककार ने सङ्कल्प किया था, मम्मट की कृपा से वह अब पहले की अपेक्षा भी अधिक सुन्दर तथा सुदृढ़ सिद्धान्त के रूप में उपस्थित है।

आचार्य मम्मट की प्रतिभा, उनकी विशेषता और साहित्य शास्त्र के प्रति की गयी उनकी सेवा का मूल्याङ्कन एक सहस्र वर्ष से भी अधिक लम्बे काल में फैले हुए साहित्य शास्त्र के सिंहावलोकन के बिना नहीं यिका जा सकता है। इसलिए हमने बहुत संक्षेप में विगत एक सहस्र वर्षों की साहित्यिक, प्रवृत्तियों का विश्लेषण कर यह दिखलाने का यत्न किया है कि काव्यप्रकाश ने इन एक सहस्र वर्षों में साहित्योद्यान में खिले हुए समस्त पुष्पों का मधुसञ्चय करके अपने इस 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ का निर्माण किया है। यह उनकी सबसे बड़ी विशेषता है जिसके कारण उनको और उनके ग्रन्थ को इतना अधिक आदर प्राप्त हुआ है। 'काव्यप्रकाश' में अपने पूर्ववर्ती सारे अलङ्कार शास्त्रियों के गुणों सारी उत्तम बातों का एक साथ संग्रह कर दिया गया है और उनमें जो त्रुटियाँ या न्यूनताएँ थीं, उनको दूर कर एक सर्वाङ्गपूर्ण साहित्य ग्रन्थ उपस्थित करने का प्रयत्न मम्मट ने किया है। इसीलिए 'काव्यप्रकाश' इतना सारगर्भित, महत्त्वपूर्ण एवं उपादेय ग्रन्थ बन गया है कि उस एक ही ग्रन्थ का अध्ययन कर लेने से साहित्य शास्त्र का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए 'काव्यप्रकाश' वस्तुतः एक महती रचना है।

किसी भी महती कृति के लिए श्रम और कला दोनों की आवश्यकता होती है। मधुमक्षिका विविध पुष्पों का मधु सञ्चय करके लाती है यह उसका श्रम पक्ष है। पर उसको अपने छत्ते में किस प्रकार सजाकर, संभालकर रखती है यह उसका कला पक्ष है। मधुमक्खी के छत्ते की रचना उसके मधु से कम आनन्ददायक नहीं है। मधु रसना को तृप्त करता है तो छत्ता दृष्टि को। दोनों का अपना सौन्दर्य है, दोनों की अपनी उपयोगिता है और दोनों की अपनी कला है। मधुमक्षिका का यह श्रम और वह कलात्मक प्रवृत्ति दोनों ही सराहना प्राप्त करती हैं। 'काव्यप्रकाश' की मधुमक्षिका–मम्मट–की भी यही स्थिति है। उन्होंने एक सहस्र वर्ष के दीर्घकाल में फैले हुए विस्तीर्ण, साहित्योंद्यान के सैकड़ों सुन्दर पुष्पों से मधुसञ्चय करने में जो श्रम किया है वह उनकी कलात्मक प्रवृत्ति का परिचायक है। 'काव्यप्रकाश' में दस उल्लास हैं। उनमें प्रतिपाद्य विषय या सञ्चित मधु को इस प्रकार सजाकर रखा गया है कि बस देखते ही बनता है। सारा 'काव्यप्रकाश' 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' इस एक सूत्र के ऊपर घूम रहा है। इस सूत्र में आया हुआ 'तत्' पद काव्य का वाचक है। 'काव्यं यशसेर्थकृते' इत्यादि, काव्य प्रयोजनों का प्रतिपादन करने वाली पहली

कारिका के प्रारम्भ में'काव्यम्' यह संज्ञा पद आया है। उसके परामर्शक रूप में 'तददोषौ शब्दार्थौ' में 'तत्' यह सर्वनाम प्रयुक्त हुआ है। इसलिए 'तत्' यह सर्वनाम 'काव्यम्' का ग्राहक है। इसलिए पहिले उल्लास में काव्य का लक्षण करने के बाद उसके ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और चित्रकाव्य रूप तीन भेद भी दिखलाये हैं। इसके बाद 'शब्दार्थौ' पद के स्पष्टीकरण के लिए द्वितीय उल्लास में वाचक, लक्षक, व्यञ्जक तीन प्रकार के शब्द तथा वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य तीन प्रकार के अर्थों का वर्णन किया गया है। शब्द में जो अर्थ की प्रतीति होती है वह शब्द की शक्ति द्वारा ही होती है इसलिए तीन प्रकार के शब्दों से तीन प्रकार के अर्थों को बोधित करने वाली अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना तीनों प्रकार की शब्द शक्तियों का भी निरूपण इसी उल्लास में कर दिया है। प्रथम उल्लास में काव्य के भेदों का केवल सामान्य वर्णन किया था, उनके स्पष्टीकरण के लिए कुछ विशेष वर्णन की आवश्यकता थी। अतः चौथे, पाँचवे तथा छठे उल्लाव में क्रमशः ध्वनिकाव्य, गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य और चित्रकाव्य का विशेष वर्णन किया गया है। ध्वनिकाव्य के भीतर रसध्वनि का समावेश या मुख्यता होने के कारण चौथे उल्लास में ध्वनि काव्य के निरूपण के साथ ही इसका निरूपण भी कर दिया गया है। इसके पहिले तीसरे उल्लास में आर्थी व्यञ्जन का वर्णन किया है। काव्यप्रकाशकार 'ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य' कहलाते हैं। उद्भट और महिमभट्ट की उक्तियों का खण्डन कर के ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना करने में उनको बड़ा परिश्रम करना पड़ा है। इसलिए ध्वनि का विषय काफी विस्तृत भी हो गया है। द्वितीय उल्लास में अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त व्यञ्जना के केवल शाब्दी व्यञ्जना भेद का निरूपण किया था। इसलिए व्यञ्जना के दूसरे भेद आर्थी व्यञ्जना का निरूपण तृतीय उल्लास में किया गया है और पञ्चम उल्लास में गुणीभूव्यङ्ग्य काव्य के भेदों तथा उदाहरणों को दिखलाने के बाद फिर व्यञ्जना की सिद्धि का यत्न किया गया है। द्वितीय तथा तृतीय उल्लास में केवल व्यञ्जना के भेद दिखलाये गये थे और उनके उदाहरण दिये गये थे, अन्य मतों का खण्डन करके ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना का प्रयत्न वहाँ नहीं किया गया था। ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य दोनों प्रकार के व्यञ्जनाश्रित काव्य के भेदों तथा उदाहरणों का निरूपण करने के बाद उद्भट आदि साहित्यिकों, महिमभट्ट आदि नैयायिकों, मुकुलभट्ट आदि मीमांसकों, वैयाकरणों और वेदान्तियों, सब व्यञृजना—विरोधी मतों का खण्डन करके बड़ी विद्वत्ता के साथ व्यञ्जनावृत्ति की सत्ता पञ्चम उल्लास के अन्त में विस्तार के साथ सिद्ध की गयी है। इसके बाद काव्य लक्षण में 'अदोषौ', 'सगुणौ' और 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' पद व्याख्या के लिए शेष रह जाते हैं। इनकी व्याख्या के लिए ग्रन्थकार ने सात से लेकर दस तक चार उल्लास लिखे हैं। सप्तम उल्लास में दोषों का, अष्टम उल्लास में गुणों का, उनके साथ ही रीति तथा वृत्तियों का, नवम तथा दशम दो उल्लासों में अलङ्कारों का वर्णन किया है। नवम उल्लास में केवल शब्दालङ्कार तथा उभयालङ्कार और दशम उल्लास में अर्थालङ्कारों का वर्णन किया है। इस प्रकार दस उल्लासों में ग्रन्थकार ने कावयशास्त्र से सम्बद्ध सारे विषय को बड़ी सुन्दरता के साथ सजा दिया है। यह 'काव्यप्रकाश' की एक बड़ी विशेषता है जो उसको अन्य सब साहित्यिक ग्रन्थों की अपेक्षा उपादेय बनाती है। इस प्रकार 'काव्यप्रकाश' के गौरव और उपादेयता की वृद्धि करने वाले और उसे अन्य सबकी अपेक्षा अधिक गौरव एवं आदर प्राप्त कराने वाले कारणों का संग्रह हम निम्नलिखित पाँच भागों में कर सकते हैं –

1.काव्यप्रकाशकार ने साहित्य शास्त्र के एक सहस्र वर्ष के समस्त आचार्यों की कृतियों का अवगाहन और मनन कर के उनके सर्वोत्तम सार भाग का संग्रह कर अपने इस ग्रन्थ में उपस्थित करने का यत्न किया है और अपने उस प्रयत्न में उन्होंने यथेष्ट सफलता प्राप्त की है।

2.पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों में विषय प्रतिपादन की दृष्टि से न्यूनता या त्रुटियाँ रह गयी थीं उन सबको हृदयङ्गम करके मम्मट ने अपने ग्रन्थ में उन सबको दूर कर विषय की दृष्टि से ग्रन्थ को सर्वाङ्ग सुन्दर एवं परिपूर्ण बनाने का यत्न किया है और उस यत्न में पूर्ण सफलता प्राप्त की है।

3.मम्मट ने साहित्यशास्त्र के शक्ति, ध्वनि, रस, गुण, दोष, अलङ्कार आदि समग्र आवश्यक तत्त्वों का यथार्थ मूल्याङ्कन किया है और उसी के अनुसार उनको अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है।
4.संक्षिप्त सूत्र शैली का अवलम्बन कर परिमित शब्दों में अधिक से अधिक विषय देने का यत्न किया है।

आचार्य विश्वनाथ

विद्यानाथ के बाद विश्वनाथ कविराज का नाम आता है। इनका अलङ्कारशास्त्र विषयक 'साहित्यदर्पण' ग्रन्थ बड़ा लोकप्रिय है। उसके अन्तिम श्लोक में उन्होंने अपने को 'श्रीचन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनुः' कहा है, जिससे पता चलता है कि इनके पिता का नाम चन्द्रशेखर था। इनके पितामह का नाम नारायण दास था। इन्होंने 'काव्यप्रकाश' के ऊपर टीका भी लिखी है। उसका उल्लेख 'काव्यप्रकाश' की टीकाओं के प्रसङ्ग में किया जा चुका है। इसमें उन्होंने अपने पितामह श्री नारायण दास का परिचय देते हुए लिखा है –

'यदाहुः श्रीकलिङ्गभूमण्डलाखण्डलमहाराजाधिराजश्रीनरसिंहदेवसभायां धर्मदत्तं स्थगयन्तः ..... अस्मत्पितामहश्रीमन्नारायणदासपादाः'

'साहित्यदर्पण' में इन्हीं नारायण दास का उल्लेख इस प्रकार किया गया है –
'तत्प्रवणत्वंचास्मद्वृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितमुख्यश्रीमन्नरायणपादैरुक्तम्।'
इन दोनों में विश्वनाथ ने नारायण दास के साथ अपना जो सम्बन्ध दिखलाया है वह एक–सा नहीं है। पहिली जगह उनको साक्षात् पितामह कहा है और दूसरी जगह 'वृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठ' अर्थात् मित्रमण्डली के प्रमुख कहा है। इस विवरण से यह निकलता है कि यह कलिङ्ग के रहने वाले थे। 'साहित्यदर्पण' के प्रथम परिच्छेद के अन्त की पुष्पिका के अनुसार उन्होंने अपने को 'सान्धिविग्रहिक' और 'अष्टादशभाषावारविलासिनीभुगङ्ग' कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि वे 18 भाषाओं के ज्ञाता थे और किसी राज्य के 'सान्धिविग्रहिक' अर्थात् विदेशमन्त्री थे। किन्तु उस राज्य का कोई उल्लेख नहीं किया है।
'साहित्यदर्पण' के चतुर्थ परिच्छेद में 'अल्लावदीननृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः' (4–14) इन शब्दों में दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी का उल्लेख पाया जाता है। अलाउद्दीन खिलजी का शासनकाल 1296–1316 ई0 तक रहा है। उसने दक्षिणा भारत पर आक्रमण कर पिछले आचार्य विद्यानाथ के आश्रयदाता प्रताप रुद्र की राजधानी वारङ्गल (एकशिला) को जीत लिया था। उसका उल्लेख 'साहित्यदर्पण' में पाये जाने से विश्वनाथ का काल उसके बाद ही सम्भव है। इधर 'साहित्यदर्पण' की एक हस्तलिपि प्राप्त हुई है, उसका लेखनकाल सन् 1384 ई0 (सं0 1440) है। इसलिए विश्वनाथ का काल चौदहवीं शताब्दी स्थिर होता है।
विश्वनाथ का सबसे मुख्य और प्रसिद्धतम ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' है। 'काव्यप्रकाश' के समान इसमें भी दस परिच्छेद हैं और इन परिच्छेदों में प्रायः उसी क्रम से विषय का विवेचन किया गया है। किन्तु इसकी अपनी विशेषता यह है इसके छठे परिच्छेद में, जो इसका सबसे बड़ा परिच्छेद है, नाट्यशास्त्र–सम्बन्धी सम्पूर्ण विषय का समावेश कर दिया गया है, जिससे काव्य तथा नाट्य–सम्बन्धी सम्पूर्ण विषयों का ज्ञान एक ही ग्रन्थ द्वारा प्राप्त हो जाने से ग्रन्थ की उपयोगिता बढ़ गयी है। 'काव्यप्रकाश' में नाटक सम्बन्धी अंश नहीं है। प्रथम परिच्छेद में काव्य के प्रयोजन लक्षणादि प्रस्तुत करते हुए विश्वनाथ ने मम्मट के 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' इस काव्य लक्षण का बड़े संरम्भ के साथ खण्डन किया है और उसके स्थान पर 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' को काव्य का लक्षण स्थापित किया है। द्वितीय परिच्छेद में वाक्य और पद का लक्षण करने के बाद अभिधा–लक्षणा–व्यञ्जनादि शब्द शक्तियों का विस्तार के साथ विवेचन किया है। तृतीय उल्लास में रसनिष्पत्ति का बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। रसनिरूपण के साथ–साथ इसमें नायक नायिका भेद का प्रतिपादन किया है। यह विषय

भी 'काव्यप्रकाश' में नहीं आया है। चतुर्थ परिच्छेद में काव्य के ध्पवनिकाव्य, गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के भेदों का विवेचन किया है। पञ्चम परिच्छेद में ध्वनि सिद्धान्त के विरोधी समस्त मतों का खण्डन कर के ध्वनि सिद्धान्त का समर्थन बड़ी प्रौढ़ता के साथ किया है। इसलिए ग्रन्थकार परिच्छेदों के अन्त की पुष्पिकाओं में अपने को 'ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य' लिखते हैं। छठे परिच्छेद में नाट्यशास्त्र–सम्बन्धी विषयों का प्रतिपादन है। इस प्रकार यह ग्रन्थ सर्वाङ्गपूर्ण बन गया है। ग्रन्थ की लेखनशैली बड़ी सरल और सुबोध है। 'काव्यप्रकाश' की–सी जटिलता इसमें कहीं नहीं है।
'साहित्यदर्पण' के लिखने के बाद विश्वनाथ ने 'काव्यप्रकाश' के ऊपर 'काव्यप्रकाशदर्पण' नामक टीका लिखी। इनके अतिरिक्त अनेक काव्यों की भी रचना की है, जिनमें 1. 'राघवविलास' संस्कृत का महाकाव्य है; 2. 'कुलवयाश्वचरित' प्राकृत भाषा में निबद्ध काव्य है; 3. 'प्रभावतीपरिणय' नाटिका; 4. 'चन्द्रकला' नाटिका; 5. 'नरसिंहविजय' काव्य तथा 6. 'प्रशस्तिरत्नावली' इन 6 काव्य तथा नाटकों का उल्लेख इन्होंने स्वयं 'साहित्यदर्पण' तथा 'काव्यप्रकाश' की टीका में किया है। इनमें से अन्तिम 'प्रशस्तिरत्नावली' सोलह भाषाओं में लिखा हुआ 'करम्भक' है।

आचार्य आनन्दवर्धन

आनन्दवर्धनाचार्य साहित्य शास्त्र के प्रमुख ध्वनि सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक होने के नाते साहित्य शास्त्र के अत्यन्त प्रसिद्ध एवं प्रमुखतम आचार्य हैं। पूर्ववर्ती अन्य आचार्यों के समान यह भी कश्मीर के निवासी हैं। राजतरङ्गिणीकार ने इन्हें कश्मीराधिपति अवन्ति वर्मा का समकालीन बतलाते हुए लिखा है –

'मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येवन्तिवर्मणः।।'–राजतरङ्गिणी 5–4

कश्मीर नरेश अवन्ति वर्मा का समय 855–884 ई0 तक है। इसलिए आनन्दवर्धनाचार्य का समय नवम शताब्दी में ठहरता है। आनन्दवर्धनाचार्य ने 1. 'विषमबाणलीला', 2. 'अर्जुनचरित', 3. 'देवीशतक', 4. 'तत्त्वालोक' तथा 5. 'ध्वन्यालोक' इन पाँच ग्रन्थों की रचना की थी। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' है। इस ग्रन्थ में काव्य के आत्मभूत ध्वनि–तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। ग्रन्थ में चार 'उद्योत' हैं। कुछ लोग ध्वनि को मानते ही नहीं हैं, कुछ उसको गौण मानते हैं और कुछ उसको अनिर्वचनीय तत्त्व कहते हैं। ये तीन ध्वनि विरोधी सिद्धान्त हैं। इन तीनों सिद्धान्तों का खण्डन करके प्रथम उद्योत में ध्वनि की स्थापना की गयी है और उसका स्वरूप प्रतिपादन किया गया है–

'**काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व–**
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्।। – ध्वन्यालोक 1–1

द्वितीय उद्योत में अविवक्षितवाच्य अर्थात् लक्षणामूला ध्वनि तथा विवक्षितवाच्य अर्थात् अभिधामूला ध्वनि के भेदोपभोदों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है और उनके साथ गुणों का भी कुछ विवेचन किया गया है। तृतीय उद्योत में पदों, वाक्यों, पदांश और रचना आदि के द्वारा ध्वनि की प्रकाश्यता का प्रतिपादन और रसों के विरोध तथा अविरोधापादन के सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। चतुर्थ उद्योत में यह दिखलाया गया है कि ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रयोग के प्रभाव से कवि के काव्य में अनन्त चमत्कार की उत्पत्ति हो जाती है। जैसे मधु मास में पुराने जीर्ण–शीर्ण वृक्षों में अनन्त सौन्दर्य छा जाता है उसी प्रकार ध्वनि तथा रस के सम्बन्ध से पूर्व कवियों द्वारा वर्णित पुराने अर्थों में भी नवीन चमत्कार उत्पन्न किया जा सकता है। इस प्रकार आनन्दवर्धनाचार्य ने इस ग्रन्थ में ध्वनि विरोधी पक्षों का निराकरण कर बड़ी सुन्दरता एवं प्रौढ़ता के साथ ध्वनि–सिद्धान्त की स्थापना की है।
'**ध्वन्यालोक**' में तीन भाग हैं। एक मूलकारिका–भाग, दूसरा उनकी वृत्ति और तीसरा

भाग उदाहरणरूप है। कारिका और वृत्ति दोनों भागों के निर्माता स्वयं आनन्दवर्धनाचार्य ही हैं। उदाहरणों में कुछ उदाहरण उन्होंने स्वयं अपने बनाये 'विषमबाणलीला' और 'अर्जुनचरित' आदि ग्रन्थों से दिये हैं, किन्तु अधिकांश उदाहरण अन्य प्रसिद्ध कवियों के ग्रन्थों से दिये हैं। प्राचीन सभी आचार्य कारिका भाग तथा वृत्तिभाग दोनों का निर्माता आनन्दवर्धनाचार्य को ही मानते हैं। **किन्तु डॉ0 वुल्हर, प्रो0 जैकोबी, प्रो0 कीथ** आदि आधुनिक विद्वानों ने इन दोनों भागों को भिन्न व्यक्तियों की रचना सिद्ध करने का यत्न किया है। इन भिन्नता वादियों के मत में कारिका भाग के निर्माता कोई 'सहृदय' नाम के व्यक्ति हैं और वृत्ति भाग के निर्माता आनन्दवर्धनाचार्य हैं। अपने मत के समर्थन के लिए वे 'ध्वन्यालोक' के प्रथम तथा अन्तिम श्लोक में 'सहृदय' पद के प्रयोग को प्रस्तुत करते हैं। प्रथम श्लोक जो ऊपर उद्धृत किया जा चुका है उसके अन्तिम चरण में 'तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्' में जो 'सहृदय' पद आया है इसे भेदवादी लोग कारिकाकार का नाम मानते हैं। इसी प्रकार 'ध्वन्यालोक' के अन्तिम
श्लोक –

'सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्तकल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत्।
तद्व्याकरोत् सहृदयोदयलाभहेतोरानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः।।'

इसमें जो 'सहृदयोदयलाभहेतोः' पद आया है यह भी इन भेदवादियों की दृष्टि में मूल कारिकाकार के नाम का ग्राहक है। किन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। 'सहृदय' शब्द यहाँ किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं, अपितु 'सहृदय' व्यक्तियों का बोधक विशेषण पद है। 'ध्वन्यालोक' की टीका 'लोचन' में स्थान–स्थान पर 'वृत्तिकृत्' 'ग्रन्थकृत्' आदि शब्दों का जो प्रयोग आता है। वह व्याख्या के कारिका तथा वृत्ति भाग को सूचित करने की दृष्टि से ही आता है, किन्तु उसका यह अभिप्राय नहीं है कि वृत्तिकार और कारिकाकार दोनों अलग–अलक हैं। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक, व्यक्तिविवेककार महिम भट्ट, 'औचित्यविचार चर्चा' के निर्माता क्षेमेन्द्र आदि उत्तरवर्ती सभी आचार्य आनन्दवर्धन को ही कारिका तथा वृत्ति भाग दोनों का निर्माता मानते हैं। स्वयं आनन्दवर्धनाचार्य ने भी कहा है –

'इति काव्यार्थविवेको योयं चेतश्चमत्कृतिविधायी।
सूरिभिरनुसृतसारैरस्मदुपज्ञो न विस्मार्यः।।'

ऐसा लिखकर ध्वनि तत्त्व को 'अस्मदुपज्ञ' कहा है। अर्थात् स्वयं अपने आपको ही ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिष्ठापक बतलाया है। अतः कारिका भाग तथा वृत्ति भाग दोनों का निर्माता आनन्दवर्धनाचार्य को ही मानना उचित है।

आनन्दवर्धनाचार्य के 'ध्वन्यालोक' पर दो टीकाओं का पता चलता है। इनमें से एक अभिनव गुप्तपादाचार्य द्वारा विरचित 'लोचन' टीका उपलब्ध होती है। दूसरी टीका 'चन्द्रिका' नाम की थी। यह टीका 'लोचन' से पहले लिखी गयी थी और उसके निर्माता अभिनव गुप्त के पूर्व वंशज ही थी। अभिनव गुप्त ने 'लोचन' में जगह–जगह उसका खण्डन किया है। एक जगह खण्डन करते हुए लिखा है –

'चन्द्रिकाकारस्तु पठितमनुपठतीति न्यायेन गजनिमीलिकया व्याचचक्षे। .... इत्यलं पूर्ववंश्यैः सह विवादेन बहुना।' –– लोचन, पृ0 145

'चन्द्रिका' टीका के होने पर भी अभिनव गुप्त ने जो 'लोचन' टीका लिखी है इसका कारण दिखलाते हुए लपेचनकार ने लिखा है –

'किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि।
अतोभिनवगुप्तोत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात्।।'

इसमें प्रकारान्तर से ग्रन्थकार ने 'लोचन' की विशेषता सूचित की है।

अभ्यास प्रश्न –

1– प्रश्न – काव्यप्रकाश के लेखक कौन है ?
2– प्रश्न – मम्मट को विद्याध्ययन के लिए कश्मीर से 'शिवपुरी' कहा भेजा गया ?
3– प्रश्न – आनन्दवर्धनाचार्य साहित्य शास्त्र के प्रमुख किस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक थे
4– प्रश्न – 'ध्वन्यालोक' में कितने भाग हैं।
5– प्रश्न – 'ध्आनन्दवर्धनाचार्य के 'ध्वन्यालोक' पर कितने टीकाओं का पता चलता है।

3.4 सारांश

इस इकाई में मम्मट, विश्वनाथ एवं आनन्दवर्धन जीवन वृत्त, समय, कृतित्त्व के विषय में अध्ययन किया गया है। भोजराज के बाद मम्मटाचार्य का काल आता है। अलङ्कार साहित्य के निर्माताओं की अब तक की धारा में दण्डी, राजशेखर और भोजराज के अतिरिक्त और सभी आचार्य कश्मीर निवासी थे। विश्वनाथ का सबसे मुख्य और प्रसिद्धतम ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' है। 'काव्यप्रकाश' के समान इसमें भी दस परिच्छेद हैं और इन परिच्छेदों में प्रायः उसी क्रम से विषय का विवेचन किया गया है। किन्तु इसकी अपनी विशेषता यह है इसके छठे परिच्छेद में, जो इसका सबसे बड़ा परिच्छेद है, नाट्यशास्त्र –सम्बन्धी सम्पूर्ण विषय का समावेश कर दिया गया है, जिससे काव्य तथा नाट्य–सम्बन्धी सम्पूर्ण विषयों का ज्ञान एक ही ग्रन्थ द्वारा प्राप्त हो जाने से ग्रन्थ की उपयोगिता बढ़ गयी है। आनन्दवर्धनाचार्य साहित्य शास्त्र के प्रमुख ध्वनि सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक होने के नाते साहित्य शास्त्र के अत्यन्त प्रसिद्ध एवं प्रमुखतम आचार्य हैं। पूर्ववर्ती अन्य आचार्यों के समान यह भी कश्मीर के निवासी हैं।'**ध्वन्यालोक**' में तीन भाग हैं। एक मूल कारिका – भाग, दूसरा उनकी वृत्ति और तीसरा भाग उदाहरण रूप है। कारिका और वृत्ति दोनों भागों के निर्माता स्वयं आनन्दवर्धनाचार्य ही हैं। उदाहरणों में कुछ उदाहरण उन्होंने स्वयं अपने बनाये 'विषमबाणलीला' और 'अर्जुनचरित' आदि ग्रन्थों से दिये हैं, किन्तु अधिकांश उदाहरण अन्य प्रसिद्ध कवियों के ग्रन्थों से दिये हैं। प्राचीन सभी आचार्य कारिका भाग तथा वृत्तिभाग दोनों का निर्माता आनन्दवर्धनाचार्य को ही मानते हैं। आनन्दवर्धनाचार्य के 'ध्वन्यालोक' पर दो टीकाओं का पता चलता है। इनमें से एक अभिनव गुप्तपादाचार्य द्वारा विरचित 'लोचन' टीका उपलब्ध होती है। दूसरी टीका 'चन्द्रिका' नाम की थी। अतः इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप मम्मट, विश्वनाथ एवं आनन्दवर्धन जैसे काव्यशास्त्रियों का परिचय देकर साहित्यशास्त्र में उनके योगदान को भी समझा सकेंगे ।

3.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
काव्यस्यात्मा	काव्य की आत्मा
ध्वनिरिति	यह ध्वनि
बुधैर्यः	विद्वानों के द्वारा
जो	
तस्याभावं	उसका अभाव
केचिद्वाचां	कुछ वाणी
स्थितमविषय	स्थितविषय
तदीय	उसका यह
तेनब्रूम :	उसके द्वारा कहा गया
प्रीतये	प्रेम के लिये
तत्स्वरूपम्	उसका स्वरूप

3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. उत्तर – काव्यप्रकाश के लेखक आचार्य मम्मट है?
2. उत्तर – मम्मट को विद्याध्ययन के लिए कश्मीर से 'शिवपुरी' वाराणसी भेजा गया।
3. उत्तर – आनन्दवर्धनाचार्य साहित्य शास्त्र के प्रमुख ध्वनि सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक थे
4. उत्तर – 'ध्वन्यालोक' में तीन भाग हैं।
5. उत्तर – आनन्दवर्धनाचार्य के 'ध्वन्यालोक' पर दो टीकाओं का पता चलता है।

3.7 सदर्भ ग्रन्थ सूची

1.संस्कृत शास्त्रों का इतिहास .बलदेव उपाध्याय प्रकाशक शारदा निकेतन वी, कस्तूरवानगर सिगरा वाराणसी

2–काव्यप्रकाश आचार्य मम्मट,विश्वेश्वर कृत हिन्दी व्याख्या सहित चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी

3.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. आनन्दवर्धन के ग्रन्थ का परिचय दीजिए ।

2. आचार्य मम्मट का योगदान लिखिए ।

3.विश्वनाथ का परिचय दीजिए ।

इकाई 4.अभिनवगुप्त, राजशेखर, धनंजय ,भोजराज का जीवन वृत्त,समय

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 अभिनवगुप्त, राजशेखर, धनंजय एवं भोजराज जीवन वृत्त, समय, कृतितत्व

4.4 सारांश

4.5 शब्दावली

4.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4.8 उपयोगी पुस्तकें

4.9 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

काव्यशास्त्र से सम्बन्धित खण्ड चार की यह चौथी इकाई है। इस इाकई के अध्ययन से आप बता सकते है कि 'अभिनव गुप्त का पूरा नाम 'अभिनवगुप्तपाद' है। ''ध्वन्यालोक' की 'लोचन' टीका के निर्माता अभिनवगुप्त कश्मीर के एक प्रमुख विद्वान थे। वे स्वयं यद्यपि कश्मीरी ब्राह्मण थे, किन्तु उनके पूर्वज सदा कश्मीर के ही रहने वाले नहीं थे। अभिनव गुप्त के जन्म से लगभग 200 वर्ष पूर्व उनके पूर्वज उत्तर प्रदेश के प्रसिद्ध नगर कन्नौज में रहते थे, जो उन दिनों एक बड़ा समृद्ध एवं शक्तिशाली साम्राज्य था ।

दशम शताब्दी के आरम्भ में प्रसिद्ध नाटककार तथा काव्य शास्त्र के सूक्ष्म विवेचक राजशेखर का नाम उल्लेख योग्य है। अब तक हमने साहित्य शास्त्र के जिन आचार्यों का परिचय दिया है, उनमें एक दण्डी को छोड़कर शेष सभी आचार्य कश्मीरी थे। दण्डी के बाद यह दूसरे आचार्य हैं जो कश्मीर के बाहर के हैं। राजशेखर विदर्भवासी हैं। किन्तु इनका कार्यक्षेत्र विदर्भ में न होकर कन्नौज में रहा। कन्नौज के प्रतीहारवंशीय राजा महेन्द्र पाल और महिपाल इनके शिष्य थे। धनञ्जय भी दशम शताब्दी के एक महान् साहित्यिक हैं, किन्तु इनका सम्बन्ध मुख्यतः अलङ्कार शास्त्र से न होकर नाट्यशास्त्र से है। इनका एकमात्र ग्रन्थ 'दशरूपक' है। भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' के बाद इस विषय पर यह सबसे अधिक प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

अतः इस इकाई का अध्ययन के बाद आप अभिनवगुप्त, राजशेखर, धनंजय एवं भोजराज के विषय में विस्तार से बताते हुए साहित्यशास्त्र में उनके योगदान को बता सकेगें।

4.2 उद्देश्य

अभिनवगुप्त, राजशेखर, धनंजय एवं भोजराज जीवन के जीवनवृत्त, समय, व कृतित्त्व से सम्बद्ध इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- अभिनवगुप्त के व्यक्तित्व के विषय में बता सकेंगे ।
- राजशेखर का समय व पाण्डित्य समझा सकेंगे ।
- धनंजय के व्यक्तित्व और कृतित्व का वर्णन कर सकेंगे ।
- भोजराज की रनचा के सम्बन्ध में बता सकेंगे ।

4.3 अभिनवगुप्त, राजशेखर, धनंजय एवं भोजराज का जीवन वृत्त, समय, कृतित्त्व

अभिनवगुप्त

'ध्वन्यालोक' की 'लोचन' टीका के निर्माता अभिनवगुप्त कश्मीर के एक प्रमुख विद्वान हैं। वे स्वयं यद्यपि कश्मीरी ब्राह्मण थे, किन्तु उनके पूर्वज सदा कश्मीर के ही रहने वाले नहीं थे। अभिनव गुप्त के जन्म से लगभग 200 वर्ष पूर्व उनके पूर्वज उत्तर प्रदेश के प्रसिद्ध नगर कन्नौज में रहते थे, जो उन दिनों एक बड़ा समृद्ध एवं शक्तिशाली साम्राज्य था। उस समय कन्नौज साम्राज्य के अधिपति यशोवर्मा थे। यह आठवीं शताब्दी की बात है। कश्मीर में उस समय राजा ललितादित्य राज्य कर रहे थे। किसी कारणवश कश्मीर राज ने कन्नौज पर चढ़ाई कर दी और उस युद्ध में यशोवर्मा पराजित हो गये। उस समय यशोवर्मा के यहाँ अत्रिगुप्त नाम के एक बहुत बड़े विद्वान

थे। कश्मीर के राजा तो सदा से ही बड़े–बड़े विद्वानों का आदर एवं संग्रह करने वाले रहे हैं। इसलिए राजा ललितादित्य अत्रिगुप्त को बड़े आदर पूर्वक अपने यहाँ ले गये। उनके लिए मकान बनवा तथा एक बड़ी जागीर प्रदान कर अपने यहाँ रखा। इन्हीं अत्रिगुप्त के वंश में लगभग 200 वर्ष बाद अभिनवगुप्त उत्पन्न हुए। अभिनवगुप्त ने इस घटना का वर्णन अपने ग्रन्थ 'तन्त्रालोक' में निम्नलिखित प्रकार किया है –

'निःशेषशास्त्रसदनं किल मध्यदेश–
स्तस्मिन्नजायत गुणाभ्यधिको द्विजन्मा।
कोप्यत्रिगुप्त इति नाम निरुक्तगोत्रः
शास्त्राब्धिचर्वणकलोद्यदगस्त्यगोत्रः।।
तमथ ललितादित्यो राजा निजं पुरमानयत्।
प्रणयरभसात् कश्मीराख्यं हिमालयमूर्धगम्।।
तस्मिन् कुबेरपुरचारिसितांशुमौलि–
साम्मुख्यदर्शनविरूढ़पवित्रभावे।
वैतस्तरोधसि निवासममुष्य चक्रे
राजा द्विजस्य परिकल्पितभूरिसम्पत्।।'

इस प्रकार मध्य देश या अन्तर्वेदी गङ्गा–यमुना के मध्यवर्ती प्रदेश कन्नौज से अत्रिगुप्त को लाकर ललितादित्य ने कश्मीर में वितस्ता नदी के किनारे, जो कैलास (अलका) चारी भगवान् शिवजी के अति सम्मुख दर्शन से पवित्र है, पर मकान बनवाकर तथा 'परिकल्पितभूरिसम्पत्' जागीर आदि प्रचुर सम्पत्ति प्रदान कर आदरपूर्वक रखा। इस बात का वर्णन करने के बाद अभिनव गुप्त ने 'तन्त्रालोक' में ही फिर इसी वंश में अपने बाबा 'वराहगुप्त', अपने पिता 'चुलुखक' तथा अपनी उत्पत्ति का वर्णन निम्नलिखित प्रकार किया है –

'तस्यान्वये महति कोपि वराहगुप्तनामा बभूव भगवान् स्वयमन्तकाले।
गीर्वाणसिन्धुलहरीकलिताग्रमूर्धा यस्याकरोत् परमनुग्रहमाग्रहेण।।
तस्यात्मजः चुलुखकेति जने प्रसिद्धश्चन्द्रावदातधिषणो नरसिंहगुप्तः।
यं सर्वशास्त्ररसमज्जनशुभ्रचित्तं माहेश्वरी परमलङ्कुरुते स्म भक्तिः।।'

इन दो श्लोकों में अभिनव गुप्त ने अपने बाबा वराहगुप्त तथा अपने पिता नरसिंहगुप्त, जिनकी लोक में 'चुलुखक' नाम से प्रसिद्धि थी, की उत्पत्ति का वर्णन किया है। इन्हीं नरसिंह गुप्त के पुत्र अभिनव गुप्त थे। अभिनव गुप्त ने अपने 1. 'विवृतिविमर्शिनी', 2. 'क्रमस्तोत्र' तथा 3. 'भैरवस्तोत्र' इन तीन ग्रन्थों का रचनाकाल कश्मीर के प्रसिद्ध सप्तर्विसंवत्सर और उसके साथ कलिसंवत्सर का सम्बन्ध दिखलाते हुए दिया है। उसके अनुसार 'क्रमस्तोत्र' की रचना 990 ई0 में, 'भैरवस्तोत्र' की रचना 962 ई0 में और 'विवृतिविमर्शिनी' की रचना 1014 ई0 में की गयी है। 'विवृतिविमर्शिनी' में उसके रचनाकाल निर्देश अभिनवगुप्त ने इस प्रकार किया है –

'इति नवतिमिस्मिन् वत्सरान्त्ये युगांशे
तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने।
जगति विहितबोधामीश्वरप्रत्यभिज्ञां
व्यवृणुत परिपूर्णां प्रेरितः शम्भुपादैः।।'

'अन्त्ये युगांशे' अर्थात् कलियुग के तिथि अर्थात् 14 'शशि' अर्थात् 1 और 'जलधि' अर्थात् 4, 'अङ्कानां वामतो गतिः' इस सिद्धान्त के अनुसार 4114 कलि–संवत्सर में जब कि कश्मीर का प्रसिद्ध 'सप्तर्षिसंवत्सर' का 'नवतितमेस्मिन्; 90 संवत् अर्थात् 4090 'सप्तर्षिसंवत्' में मार्गशीर्षक के अन्त में इस ग्रन्थ की रचना हुई। इस कलिसंवत्सर और सप्तर्षि संवत्सर को जब हम ईसवी सन में लाते हैं तब यह मालूल होता है कि 1014 ईसवीं सन् में 'विवृतिविमर्शिनी' की रचना हुई। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अभिनवगुप्त का काल दशम शताब्दी के अन्तिम भाग तथा ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में था।

अभिनव गुप्त का पूरा नाम 'अभिनव गुप्तपाद' है। 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार वामन का कहना है कि यह नाम बाद को उनके गुरुओं ने उनकी अपने सहाध्यायी

बालकों को सताने और डराने की प्रवृत्ति के कारण दिया था। 'गुप्तपाद' का अर्थ है 'सर्प'। यह अपने साथियों के लिए सर्प के समान त्रासदायक थे इसलिए गुरुओं ने इनका 'अभिनव–गुप्तपाद' नाम रख दिया। इसके बाद इन्होंने अपने लिए गुरुप्रदत्त इसी नाम का व्यवहार आरम्भ कर दिया। इन्होंने 'तन्त्रालोक' (1–50) में स्वयं भी लिखा है–

'अभिनवगुप्तस्य कृतिः सेयं यस्योदिता गुरुभिराख्या।'

अभिनवगुप्त को विद्याध्ययन का बड़ा व्यसन था। इनके समय में कश्मीर में और कश्मीर के आस–पास जितने प्रसिद्ध विद्वान् थे उन सबके पास जाकर इन्होंने विद्या का अध्ययन किया था। जिस शास्त्र के विशेषज्ञ के रूप में जिस विद्वान् को उस समय प्रसिद्धि थी उस शास्त्र का अध्ययन इन्होंने उसी विशिष्ट विद्वान् के पास जाकर किया था। इसलिए इनके भिन्न–भिन्न शास्त्रों के भिन्न–भिन्न गुरु थे, जिनकी सूची निम्नलिखित है –

1.	नरसिंह गुप्त (अभिन्व गुप्त के पिता)	व्याकरण शास्त्र के गुरु
2.	वामनाथ द्वैताद्वैत	तन्त्र के गुरु
3.	भूतिराजतनय	द्वैतवादी शैव सम्प्रदाय के गुरु
4.	लक्ष्मण गुप्त	प्रत्यभिज्ञा, क्रम तथा त्रिक दर्शन के गुरु
5.	भट्ट इन्दुराज	ध्वनि सिद्धान्त के गुरु
6.	भूतिराज	ब्रह्म विद्या के गुरु
7.	भट्ट तोत	नाट्य शास्त्र के गुरु

इन सात गुरुओं का तो अभिनव गुप्त ने शास्त्र के सहित उल्लेख किया है। इनके अअतिरिक्त अपने 13 गुरुओं का उल्लेख भी एक श्लोक में इस प्रकार किया है –

'श्रीचन्द्रशर्मभवभक्तिविलासयोगान्दाभिनन्दशिवशक्तिविचित्रनाथाः।
अन्येपि धर्मशिववामनकोद्भटश्रीभूतेशभास्करमुखप्रमुखा महान्तः।।'

अभिनवगुप्त की रचनाएं

अभिनवगुप्त के गुरुओं के समान उनके ग्रन्थों की भी एक बड़ी लम्बी सूची है। उनमें 'तन्त्रालोक' जैसे विशालकाय ग्रन्थ भी है और 'क्रमस्तोत्र', 'भैरवस्तोत्र' जैसे 10–12 श्लोकों की कृतियाँ भी। इन सबको मिलाकर उनकी रचनाओं की संख्या 41 तक पहुँच जाती है। रचनाकाल के क्रमानुसार उनके नाम निम्नलिखित प्रकार हैं –

1. बोधपश्चदशिका, 2. परात्रिंशिकाविवृतिः, 3. मालिनीविजयवार्तिक,
4. तन्त्रालोक, 5. तन्त्रसार, 6. तन्त्रवटधानिका, 7. ध्वन्यालोक–लोचन,
8. अभिनवभारती, 9. भगवद्गीतार्थ संग्रह, 10. परमार्थसार, 11. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी,
12. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी (बृहती), 13. क्रमस्तोत्र, 14. देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र,
15. भैरवस्तोत्र, 16. परमार्थद्वादशिका, 17.अनुभवनिवेदन,18.परमार्थचर्चा,
19.महोपदेकशविंशतिका, 20.अनुक्रारशतिका, 21.न्त्रोच्चय, 22.घटकर्परकुलकविवृति,
23.क्रमकेलि, 24.शिवदृष्ट्यालोचन, 25.पूर्वपश्चिका, 26.पदार्थप्रवेशनिर्णयटीका,
27.प्रकीर्णकविवरण, 28.प्रकरणविवरण, 29.काव्यकौतुकविवरण,30. कथामुखटीका,
31. लध्वी प्रक्रिया, 32. भेदवादविदारण, 33. देवीस्तोत्रविवरण,34. तत्त्वार्थप्रकाशिका,
35. शिशक्त्यविनाभावस्तोत्र, 36. बिम्बप्रतिबिम्बवाद, 37.परमार्थसंग्रह, 38.अनुत्तरशतक,
39.प्रकरणस्तोत्र, 40.नाट्यलोचन, 41. अनुत्तरतत्त्वविमर्शिनी।

अन्तिम 6 कृतियाँ ऐसी हैं जिनके केवल नामों का उल्लेख सूची पत्रों में मिलता है। ग्रन्थ नहीं मिलते हैं। इसी प्रकार ऊपर दिये 35 ग्रन्थों में से कुछ ऐसे हैं जिनका उल्लेख अभिनव गुप्त ने स्वयं अपने उपलब्ध ग्रन्थों में किया है, किन्तु वे प्राप्त नहीं हैं।

इन 41 कृतियों में से साहित्य शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले केवल तीन ग्रन्थ हैं। एक 'ध्वन्यालोकलोचन' जो 'ध्वन्यालोक' की टीका के रूप में लिखा गया है, दूसरा 'अभिनव भारती' जो भरत–नाट्य शास्त्र की टीका के रूप में लिखा गया है और तीसरा 'घटकर्पर–विवरण' जो 'मेघदूत' के सदृश एक दूतकाव्य पर टीका रूपमें लिखा गया है। शेष सब ग्रन्थ शैवदर्शन आदि से सम्बन्ध रखने वाले हैं।

राजशेखर

दशवीं शताब्दी के आरम्भ में प्रसिद्ध नाटककार तथा काव्य शास्त्र के सूक्ष्म विवेचक राजशेखर का नाम आता है। अब तक हमने साहित्य शास्त्र के जिन आचार्यो का परिचय दिया है, उनमें एक दण्डी को छोड़कर शेष सभी आचार्य कश्मीरी थे। दण्डी के बाद यह दूसरे आचार्य हैं जो कश्मीर के बाहर के हैं। राजशेखर विदर्भवासी हैं। किन्तु इनका कार्यक्षेत्र विदर्भ में न होकर कन्नौज में रहा। कन्नौज के प्रतीहारवंशीय राजा महेन्द्र पाल और महिपाल इनके शिष्य थे। 'बालरामायण' नाटक में अपने इन शिष्यों की प्रशंसा करते हुए राजशेखर ने लिखा है –

'आपन्नार्तिहरः पराक्रमधनः सौजन्यवारन्निधिः
त्यागी सत्यसुधाप्रवाहशशभृत् कान्तः कवीनां गुरुः।
वर्ण्यं वा गुणरत्नरोहणगिरेः किं तस्य साक्षादसौ
देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणीः।।'– बा०रा० 1–18

राजशेखर अपने को 'यायावरीयः' लिखते हैं। इसका अर्थ यह है कि वे 'यायावर' वंश में उत्पन्न हुए थे। वे महाराष्ट्र के प्रसिद्ध कवि 'अकालजलद' के पौत्र थे। उनके पिता का नाम 'दुर्दुक' और माता का नाम 'शीलवती' था। 'यायावर' वंश में इनके पितामह अकालजलद और उनके अतिरिक्त सुरानन्द, तरल आदि अनेक कविराज हो चुके हैं। इसलिए इनमें कवित्व तथा शास्त्रीय प्रतिभा वंश परम्परागत थी। सौभाग्य से पत्नी भी इनको बड़ी विदुषी और कवित्वप्रतिभाशालिनी प्राप्त हुई थी। उसका नाम 'अवन्तिसुन्दरी' था। राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में कई स्थानों पर 'इति अवन्तिसुन्दरी' लिखकर उसके साहित्य विषयक मतों का उल्लेख किया है। इससे उसके पाण्डित्य का परिचय मिलता है। यह अवन्तिसुन्दरी चौहान वंश में उत्पन्न हुई थी। अपने 'कर्पूरमञ्जरी सट्टक' में राजशेखर ने अपनी पत्नी का परिचय निम्नलिखित प्रकार दिया है –

'चाहुमानकुलमौलिमालिका राजशेखरकवीन्द्रगेहिनी।
भर्तुः कृतिमवन्तिसुन्दरी या प्रयोक्तुमेवमिच्छति।।'–कर्पूरमञ्जरी (संस्कृत) 1–11

राजशेखर की रचनाएं

राजशेखर मुख्य रूप से कवि और नाटककार हैं। उन्होंने चार नाटकों की रचना की है – 1. 'बालरामायण', 2. 'बालभारत', 3. 'विद्धशालभञ्जिका' और 4. 'कर्पूरमञ्जरी'। 'कर्पूरमञ्जरी' संस्कृत भाषा में न लिखकर प्राकृत भाषा में लिखा गया 'सट्टक' है। इनका पाँचवाँ ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' है। यह ग्रन्थ साहित्य समीक्षा से सम्बन्ध रखता है। इसी ग्रन्थ के कारण अलङ्कार शास्त्र के इतिहास में उनको गौरवमय स्थान प्राप्त हुआ है। अब तक हम साहित्य शास्त्र के ग्रन्थों की जो रूप–रेखा देखते आये हैं, राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' की रूपरेखा उस सबसे एकदम विलक्षण है। इसमें अठारह अध्याय हैं। प्रथम अध्याय का नाम 'शास्त्र संग्रह' है। इसमें बतलाया गया है कि 'काव्यमीमांसा' की शिक्षा शिव ने ब्रह्मा आदि को किस प्रकार प्रदान की और फिर ब्रह्मा से शिष्य परम्परा द्वारा इसके 18 विषयों को 18 लेखकों ने 18 ग्रन्थों में अलग–अलग लिखाऔर उन सबको यायावर वंशोत्प" राजशेखर ने एक ही ग्रन्थ में 18 अध्यायों में किस प्रकार संक्षेप में दे दिया है। इसलिए इस अध्याय का नाम 'शास्त्र–संग्रह' अध्याय रखा है। दूसरे अध्याय का नाम 'शास्त्रनिर्देश' है। इसमें वाङ्मय को दो भागों में विभक्त किया है – एक 'शास्त्र' और दूसरा 'काव्य'। 'शास्त्र' को फिर पौरुषेय तथा अपौरुषेय रूप से दो भागों में विभक्त किया है। 4 वेद, 4 उपवेद और 6 वेदाङ्ग ये अपौरुषेय शास्त्र के वर्ग में आते हैं। राजशेखर ने अपना मत दिया है कि 6 वेदाङ्गों के साथ अलङ्कारों को भी सातवाँ वेदाङ्ग मानना चाहिये। पौरुषेय शास्त्र में पुराण, आन्वीक्षिकी, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, 18 स्मृति, 14 या 18 प्रकार की जो विद्याएँ मानी जाती हैं उन सबका समावेश होता है। तीसरे अध्याय का नाम 'काव्यपुरुषोत्पत्ति' है। इसमें सरस्वती

से 'काव्यपुरुष' की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। उस काव्यपुरुष के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है – 'शब्दार्थौ ते शरीरम्, संस्कृतं मुखम्, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम् समःप्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि। उक्तिलक्षणं च ते वचो, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि प्रश्नोत्तरप्रवहिलकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलअंकुर्वन्ति। साहित्य विद्या वधू के साथ 'वत्सगुल्म' नगर में इस काव्य पुरुष के विवाह का वर्णन भी किया है।

चतुर्थ अध्याय का नाम 'पदवाक्यविवेक' है। इसमें कवि बनने के लिए किन–किन बातों की आवश्यकता है इस बात का वर्णन विशेष रूप से किया गया है। इसमें राजशेखर ने कहा है कि 'यायावरीय' के मत में केवल एक शक्ति ही काव्य का हेतु है। उसी से प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति आती है। अन्यों के मत में समाधि तथा अभ्यास की भी आवश्यकता होती है।

इसी प्रकार आगे अध्यायों के नाम तथा विषय हैं – 1. काव्यपादकल्प, 6. पदवाक्यविवेक, 7. पाठप्रतिष्ठा, 8. काव्यार्थयोनि, 9. अर्थव्याप्ति, 10. कविचर्या तथा राजचर्या। इसके बाद 11–13 अध्यायों में यह दिखलाया है कि कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों के अभिप्राय को कैसे और कहाँ तक समझ सकता है। 14–16 अध्यायों में देश, काल, प्रकृति आदि के वर्णन में प्रसिद्ध कवि समय का वर्णन किया गया है। 17वें अध्याय में देश विभाग तथा 18वें अध्याय में काल विभाग का वर्णन है।

इस विषय सूची के देखने से विदित होता है कि 'काव्यमीमांसा' अपने पूर्ववर्ती अलङ्कार ग्रन्थों से एकदम विलक्षण ग्रन्थ है। वह कवि के लिए उपयोगी जानकारी देने वाला एक विश्वकोश सा प्रतीत होता है। इसलिए राजशेखर एक स्वतन्त्र 'कविशिक्षा सम्प्रदाय' के प्रवर्तक माने जा सकते हैं। राजशेखर के बाद क्षेमेन्द्र, अरिसिंह, अमर चन्द्र तथा देवेश्वर आदि ने भी इसी प्रकार 'कविशिक्षा' के विषय में ग्रन्थों की रचना की है। इसलिए साहित्यशास्त्र, रससम्प्रदाय, ध्वनिसम्प्रदाय, अलङ्कारसम्प्रदाय आदि प्रसिद्ध सम्प्रदायों से भिन्न यह 'कविशिक्षा सम्प्रदाय' अलग ही माना जाना चाहिये।

धनञ्जय

धनञ्जय दशवीं शताब्दी के ही एक महान् साहित्यिक हैं, किन्तु इनका सम्बन्ध मुख्यतः अलङ्कार शास्त्र से न होकर नाट्यशास्त्र से है। इनका एकमात्र ग्रन्थ 'दशरूपक' है। भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' के बाद इस विषय पर यह सबसे अधिक प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। भरत का 'नाट्यशास्त्र' एक विश्व कोश है। उसमें जितना वर्णन नाट्य के मुख्य विषयों का है उससे कहीं अधिक विस्तृत वर्णन उउसे सम्बद्ध अन्य विषयों का है। नाट्य के पारिभाषिक शब्दों और विशेष विषयों का यदि कोई मूल 'नाट्यशास्त्र' से अध्ययन करना चाहे तो उसे बड़ कठिनाई होगी। इसलिए धनञ्जय ने 'नाट्ययशास्त्र' के आधार पर नाटक के भेदोपभेद सहित इस प्रकार के रूपकों से सम्बन्ध रखने वाली सारी बातों का संग्रह करके इस सरल ग्रन्थ का निर्माण कर दिया है। इससे नाटक सम्बन्धी सारी बातें बड़ी सरलता से समझ में आ जाती हैं। इसीलिए इस ग्रन्थ का द्विानों में बड़ा आदर हुआ और पठन–पाठन में सर्वत्र प्रचार होने से इसकी बड़ी ख्याति हुई।

'दशरूपक' ग्रन्थ कारिका रूप में लिखा गया है। इसमें लगभग 300 कारिकाएँ हैं। ग्रन्थ चार प्रकाशों में विभक्त है। प्रथम प्रकाश में ग्रन्थ के प्रयोजन आदि को दिखलाते हुए ग्रन्थकार ने नाट्यानां किन्तु 'किञ्चित् प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि', नाटकों के लक्षण आदि को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करना इस ग्रन्थ का प्रयोजन बतलाया है। उसके बाद नाटकों की पञ्चसन्धियों, अर्थोपक्षेपकों आदि के लक्षण और आख्यान वस्तु के भेद आदि का वर्णन किया गया है। द्वितीय प्रकाश में नायक – नायिका भेद तथा कैशिकी आदि वृत्तियों के भेदों का वर्णन किया गया है। तृतीय प्रकाश में नाटक के लक्षण, प्रस्तावना, अङ्कमंविधान, कथाभाग के औचित्यानुसार परिवर्तन, नाटक के प्रधान रस, पात्रों की संख्या, प्रवेश और निर्गम के नियम आदि का वर्णन

किया गया है। चतुर्थ प्रकाश मुख्यतः रसों से सम्बन्ध रखता है। रस के स्थायिभाव, व्यभिचारि भाव आदि सामग्री का विवेचन, रसनिष्पत्ति सामाजिक में होती है, रसास्वादन के प्रकार, नाट्य में शान्त रस की अनुपयोगिता, अन्य रसों की स्थिति आदि रस सम्बन्धी समस्त विषयों का विवेचन किया गया है।
ग्रन्थ के अन्त में अपना परिचय देते हुए धनञ्जय ने लिखा है –

'विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः।

आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठीवैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत्।।'

इससे प्रतीत होता है कि धनञ्जय के पिता का नाम 'विष्णु' था। इन्होंने मालवा के परमार वंश के राजा 'मुञ्ज', जिनको 'वाक्पतिराज द्वितीय' भी कहा जाता है, की राजसभा में रहने का सौभाग्य प्राप्त किया था और वहीं रहकर इस ग्रन्थ की रचना की थी। मुञ्ज का राज्यकाल 974–994 ई0 तक माना जाता है। अतः यही धनञ्जय का काल है। रसनिष्पत्ति के विषय में धनञ्जय व्यञ्जनावादी नहीं हैं। चतुर्थ प्रकाश में उन्होंने इसका खण्डन किया है। धनञ्जय के 'दशरूपक' पर उनके छोटे भाई धनिक ने 'अवलोक' नाम की टीका लिखी है। यह टीका बड़ी विद्वत्तापूर्ण है। धनिक के अतिरिक्त नृसिंह भट्ट, देवपाणि, कुरविराम और बहुरूप मिश्र ने भी दशरूपक के ऊपर टीकाएँ लिखी हैं। इनमें से बहुरूप मिश्र की टीका विशेष महत्त्वपूर्ण है। ये चारों टीकाएँ हस्त लिखित रूप में उपलब्ध हैं। अभी प्रकाशित नहीं हुई हैं।

भोजराज

भोजराज भारतीय इतिहास में विद्वानों के आश्रयदाता एवं उदार दानशील राजा के रूप में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनका शासनकाल ग्यारहवीं शताब्दी में माना जाता है। इनकी विद्वत्सेवा एवं दानशीलता की सारे देश में ख्याति थी। यहाँ तक कि कश्मीर राज्य के इतिहास 'राजतरङ्गिणी' में भी इनके इन गुणों की प्रशंसा की गयी है। कश्मीर के राजा अनन्तराज की चर्चा हम अभी कर चुके हैं, भोजराज उन्हीं अनन्तराज के समकालीन हैं। 'राजतरङ्गिणी' की सप्तम तरङ्ग में कश्मीर नरेश अनन्तराज तथा मालवाधीश भोजराज दोनों की समान रूप से विद्वत्प्रियता का उल्लेख ग्रन्थकार ने निम्नलिखित प्रकार से किया है –

'स च भोजनरेन्द्रश्च दानोत्कर्षेण विश्रुतौ।
सूरी तस्मिन् क्षणे तुल्यं द्वावास्तां कविबान्धवौ।।'' 7–259

इसमें 'स च' इस सर्वनाम 'स' पद से प्रकृत वर्ण्यमान कश्मीराधिपति अनन्तराज का ग्रहण होता है। अनन्तराज का समय ग्यारहवीं शताब्दी में था, इसी प्रकार भोजराज का समय भी ग्यारहवीं शताब्दी में निश्चित माना जाता है। भोजराज के समय के निर्णय के लिए इस प्रमाण के अतिरिक्त उनका स्वयं एक शिला–दानपत्र संवत्, 1078 सन् 1021 का पाया जाता है। इसमें भोजराज ने गोविन्द भट्ट के पुत्र धनपतिभट्ट नामक किसी ब्राह्मण को ग्रामदान करने का उल्लेख किया है। उसके अन्त में उस दान पत्र की तिथि आदि इस प्रकार दी है –
'इति। संवत् 1078 चैत्र सुदी 14 स्वयमाज्ञा मंगलं महाश्रीः। स्वहस्तोयं भुजदेवस्य।'
इस दानपत्र में अपने उत्तराधिकारी अन्य सब लोगों से प्रार्थना की है कि जो दान दे दिया गया है उसको कोई वापस लेने का यत्न न करे। उनमें से दो श्लोक निम्नलिखित प्रकार हैं –

'सर्वानेतान् भाविनः पार्थिवेन्द्रान् भूयो भूयो याचते रामभद्रः।
सामान्योयं धर्मसेतुर्नराणाँ काले काले पालनीयो भवद्भिः।।
इति कमलदलाम्बुबिन्दुलोलां श्रियमनुचिन्त्य मनुष्यजीवितं च।
सकलमिदमुदाहतं च बुद्ध्वा हि पुरुषैः परकीर्तयो विलोपनीयाः।।

राजा भोज केवल विद्वानों का आदर करने वाले ही नहीं थे अपितु स्वयं भी एक महान्

विद्वान् और अच्छे साहित्यिक थे। अलङ्कार शास्त्र के विषय में उनके लिखे हुए दो ग्रन्थ मिलते हैं – 1. 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 2. 'शृङ्गारप्रकाश'। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' पाँच परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में दोष और गुण का विवेचन है। इसमें इन्होंने पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ तीनों के 16–16 दोष माने हैं और शब्द तथा अर्थ दोनों के 24–24 गुण माने हैं। द्वितीय परिच्छेद में 24 शब्दालङ्कारों तथा चतुर्थ परिच्छेद में 24 उभयालङ्कारों का वर्णन किया है। पञ्चम परिच्छेद में रस, भाव, पञ्चसन्धि तथा चारों वृत्तियों का वर्णन किया है। इसके ऊपर 14वीं शताब्दी में तिरहुत के राजा रामसिंह देव के आग्रह से महामहोपाध्याय रत्नेश्वर ने 'रत्नदर्पण' नामक टीका लिखी थी। इस टीका के सहित यह ग्रन्थ काव्यमाला सीरीज में निर्णय सागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित हो चुका है।

भोज राज का दूसरा ग्रन्थ 'शृङ्गारप्रकाश' है। यह बड़ा विशालकाय ग्रन्थ है। इसमें 36 'प्रकाश' हैं। ग्रन्थ हस्तलिखित रूप में पूरा उपलब्ध है। परन्तु अभी पूरा प्रकाशित नहीं हुआ है। इस ग्रन्थ पर प्रथम आठ प्रकाशों में शब्द तथा अर्थ विषयक अनेक वैयाकरणों के मत दिये गये हैं। नवम–दशम प्रकाशों में गुण तथा दोषों का विवेचन है। ग्यारहवें–बारहवें प्रकाश में महाकाव्य तथा नाटक का वर्णन है। शेष 24 प्रकाशों में उदाहरण सहित रसों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसमें, जैसा कि ग्रन्थ नाम से ही प्रतीत होता है, शृङ्गार रस को ही प्रधान रस अथवा एकमात्र रस माना है –

'शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य–
वीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियो वयं तु
शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः।।'

किन्तु भोजराज का यह शृङ्गार सामान्य शृङ्गार नहीं है, उसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों का समावेश हो जाता है। 'मन्दारमरन्दचम्पू' (बिन्दु 7, पृ0 107) में लिखा है ''अथ भोजनृपादीनां मतमत्र प्रकाश्यते। 'रसो वैसः' इति श्रुत्वा रस एकः प्रकीर्त्तितः। अतो रसः स्याच्छृङ्गार एक एवेतरे तु न। धर्मार्थकाममोक्षाख्यभेदेन स चतुर्विधः।'' 'शृङ्गारप्रकाश' अलङ्कारशास्त्र के ग्रन्थों में कदाचित् सबसे अधिक विशालकाय ग्रन्थ है। भोजराज की इस उत्तम रचना ने साहित्यिक जगत् में उनका नाम चिरकाल के लिए अमर कर दिया है।

अभ्यास प्रश्न –

1–प्रश्न –'ध्वन्यालोक' की किस टीका के निर्माता अभिनवगुप्त कश्मीर के एक प्रमुख विद्वान हैं ?

2–प्रश्न – अभिनवगुप्त यद्यपि कहा के ब्राह्मण थे ?,

3–प्रश्न – धनञ्जय किस शताब्दी के एक महान् साहित्यिक हैं

4–प्रश्न – धनञ्जय का सम्बन्ध मुख्यतः अलङ्कार शास्त्र से न होकर किस शास्त्र से है।

5–प्रश्न–धनञ्जय का एक मात्र ग्रन्थ क्या है ?

4.4 सारांश

इस इकाई में अभिनवगुप्त, राजशेखर, धनंजय एवं भोजराज जीवन वृत्त, समय, कृतित्त्व के विषय में अध्ययन किया गया है। 'ध्वन्यालोक' 'लोचन' टीका के निर्माता अभिनवगुप्त कश्मीर के एक प्रमुख विद्वान हैं। 'ध्वन्यालोकलोचन' जो 'ध्वन्यालोक' की टीका के रूप में लिखा गया है, दूसरा 'अभिनव भारती' जो भरत–नाट्य शास्त्र की टीका के रूप में लिखा गया है और तीसरा 'घटकर्पर–विवरण' जो 'मेघदूत' के सदृश एक दूतकाव्य पर टीका रूप में लिखा गया है। शेष सब ग्रन्थ शैवदर्शन आदि से सम्बन्ध रखने वाले हैं। राजशेखर ने चार नाटकों की रचना की है – 1. 'बालरामायण',

2. 'बालभारत', 3. 'विद्धशालभञ्जिका' और 4. 'कर्पूरमञ्जरी'। 'कर्पूरमञ्जरी' संस्कृत भाषा में न लिखकर प्राकृत भाषा में लिखा गया 'सट्टक' है। इनका पाँचवाँ ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' है।धनञ्जय दशवीं शताब्दी के ही एक महान् साहित्यिक हैं, किन्तु इनका सम्बन्ध मुख्यतः अलङ्कार शास्त्र से न होकर नाट्यशास्त्र से है। इनका एकमात्र ग्रन्थ 'दशरूपक' है। भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' के बाद इस विषय पर यह सबसे अधिक प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। भरत का 'नाट्यशास्त्र' एक विश्व कोश है। उसमें जितना वर्णन नाट्य के मुख्य विषयों का है उससे कहीं अधिक विस्तृत वर्णन उउसे सम्बद्ध अन्य विषयों का है। नाट्य के पारिभाषिक शब्दों और विशेष विषयों का यदि कोई मूल 'नाट्यशास्त्र' से अध्ययन करना चाहे तो उसे बड़ कठिनाई होगी। इसलिए धनञ्जय ने 'नाट्ययशास्त्र' के आधार पर नाटक के भेदोपभेद सहित इस प्रकार के रूपकों से सम्बन्ध रखने वाली सारी बातों का संग्रह करके इस सरल ग्रन्थ का निर्माण कर दिया है। अलङ्कार शास्त्र के विषय में उनके लिखे हुए दो ग्रन्थ मिलते हैं – 1. 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 2. 'शृङ्गारप्रकाश'। भोजराज का 'सरस्वतीकण्ठाभरण' पाँच परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में दोष और गुण का विवेचन है। इसमें इन्होंने पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ तीनों के 16–16 दोष माने हैं और शब्द तथा अर्थ दोनों के 24–24 गुण माने हैं। द्वितीय परिच्छेद में 24 शब्दालङ्कारों तथा चतुर्थ परिच्छेद में 24 उभयालङ्कारों का वर्णन किया है। पञ्चम परिच्छेद में रस, भाव, पञ्चसन्धि तथा चारों वृत्तियों का वर्णन किया है। इसके ऊपर 14 वीं शताब्दी में तिरहुत के राजा रामसिंह देव के आग्रह से महामहोपाध्याय रत्नेश्वर ने 'रत्नदर्पण' नामक टीका लिखी थी। अतः इस इकाई के अध्ययन के बाद आप अभिनवगुप्त, राजशेखर, धनंजय एवं भोजराज जीवन वृत्त, समय, व कृतित्त्व से परिचित होकर साहित्यशास्त्र में उनका स्थान व महत्व निर्धारित कर सकेंगे ।

4.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
'सर्वानेतान्	इन सभी को
भाविनः	होने वाले
पार्थिवेन्द्रान्	पार्थिव इन्द्र को
भूयो भूयो	बार बार
याचते	मांगते है
रामभद्रः	रामभद्र
सामान्योयं	यह सामान्य
काले काले	काला काला
पालनीयो	पालन करने योग्य
भवद्भिः	आप लोगों के द्वारा

4. 6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.उत्तर–'ध्वन्यालोक' की 'लोचन' टीका के निर्माता अभिनवगुप्त कश्मीर के एक प्रमुख विद्वान हैं।

2.उत्तर – अभिनवगुप्त यद्यपि कश्मीरी ब्राह्मण हैं,

3.उत्तर – धनञ्जय दशम शताब्दी के एक महान् साहित्यिक हैं

4.उत्तर – धनञ्जय सम्बन्ध मुख्यतः अलङ्कार शास्त्र से न होकर नाट्यशास्त्र से है।

5.उत्तर – धनञ्जयएकमात्र ग्रन्थ 'दशरूपक' है।

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.–संस्कृत शास्त्रों का इतिहास बलदेव उपाध्याय प्रकाशक शारदा निकेतन कस्तूरवानगर सिगरा वाराणसी

3–काव्यप्रकाश आचार्य मम्मट विश्वेश्वर कृत हिन्दी व्याख्या सहित चौखम्भा

4. 8 उपयोगी पुस्तकें

1.–काव्यशास्त्र का इतिहास पी0वी0 काणे – काव्यमाला सिरीज

4. 9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.धनञ्जय के विषय में विस्तार से परिचय दीजिये ।

2.भोजराज के मत का उल्लेख कर उनकी रचना पर प्रकाश डालिए ।

3.अभिनव गुप्त का विस्तार से परिचय दीजिए ।

इकाई 5.रामचन्द्र, गुणचन्द्र, शारदातनय, रूपगोस्वामी पंडितराज जगन्नाथ का जीवन वृत्त, समय, कृतित्व

इकाई की रूपरेखा

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 रामचन्द्र, गुणचन्द्र, शारदातनय, रूपगोस्वामी पंडितराज जगन्नाथ जीवन वृत्त, समय, कृतित्व
5.4 सारांश
5.5 शब्दावली
5.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
5.8 उपयोगी पुस्तके
5.9 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

काव्यशास्त्र से सम्बन्धित खण्ड चार की यह पॉचवी इकाई है। इस इाकई के अध्ययन से आप बता सकते है कि आचार्य हेमचन्द्र के बाद उनके प्रमुख शिष्य रामचन्द्र और गुणचन्द्र का स्थान आता है। आचार्य हेमचन्द्र के समान ये दोनों भी जैन धर्म के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान हैं। वैसे रामचन्द्र गुणचन्द्र एक नहीं, दो अलग–अलग व्यक्ति हैं, किन्तु दोनों हेमचन्द्राचार्य के शिष्य हैं।

दोनों ने मिलकर 'नाट्यदर्पण' नामक एक नाट्यविषयक ग्रन्थ की रचना की है इसलिए इन दोनों के नाम का उल्लेख प्रायः साथ–साथ ही किया जाता है। गुणचन्द्र का अपना अलग से कोई और ग्रन्थ नहीं पाया जाता है, किन्तु रामचन्द्र के अलग भी बहुत–से ग्रन्थ पाये जाते हैं जो प्रायः नाटक हैं।'शारदातनय, अलङ्कार शास्त्र के साथ नाट्यशास्त्र के आचार्य हैं। इनके ग्रन्थ का नाम 'भावप्रकाशन' है। रूपगोस्वामी के साहित्य शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले तीन ग्रन्थों में से 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' ये दोनों ग्रन्थ रस विषय पर हैं। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण विभाग नाम से चार 'विभाग' हैं।पण्डितराज जगन्नाथ ने बहुत से ग्रन्थों की रचना की, जिनमें 1. 'भामिनीविलास', 2. 'गङ्गालहरी', 3. 'करुणालहरी', 4. 'अमृतलहरी', 5. 'लक्ष्मीलहरी', 6. 'आसफविलास', 7. 'जगदाभरण', 8. 'प्राणाभरण', 9. 'सुधाहलहरी', 10. 'यमुनावर्णनचम्पू' ये सब काव्यग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

अतः इस इकाई के अध्ययन के बाद आप रामचन्द्र, गुणचन्द्र, शारदातनय, रूपगोस्वामी पंडितराज जगन्नाथ के जीवन वृत्त, समय,व कृतित्त्व को जानकर इनके विविध पक्षों पर विस्तार से बता सकेंगे ।

5.2 उद्देश्य

रामचन्द्र, गुणचन्द्र, शारदातनय, रूपगोस्वामी पंडितराज जगन्नाथ जीवन वृत्त, समय, कृतित्त्व से सम्बद्ध इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- रामचन्द्र के व्यक्तित्व और कृतित्व के विषय में बता सकेंगे।
- शारदातनय की कृतियों के विषय में बता सकेंगे।
- रूपगोस्वामी के व्यक्तित्व के विषय में समझा सकेंगे।
- पंडितराज जगन्नाथ के विषय में बता सकेंगे।

5.3 रामचन्द्र, गुणचन्द्र, शारदातनय, रूपगोस्वामी पंडितराज जगन्नाथ का जीवन वृत्त, समय, कृतित्त्व

रामचन्द्र–गुणचन्द्र

आचार्य हेमचन्द्र के बाद उनके प्रमुख शिष्य रामचन्द्र और गुणचन्द्र का स्थान आता है। आचार्य हेमचन्द्र के समान ये दोनों भी जैन धर्म के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान हैं। वैसे रामचन्द्र गुणचन्द्र एक नहीं, दो अलग–अलग व्यक्ति हैं, किन्तु दोनों हेमचन्द्राचार्य के शिष्य हैं। इन दोनों ने मिलकर 'नाट्यदर्पण' नामक एक नाट्यविषयक ग्रन्थ की रचना की है इसलिए इन दोनों के नाम का उल्लेख प्रायः साथ–साथ ही किया जाता है। गुणचन्द्र का अपना अलग से कोई और ग्रन्थ नहीं पाया जाता है, किन्तु रामचन्द्र के अलग भी बहुत–से ग्रन्थ पाये जाते हैं जो प्रायः नाटक हैं। उन्हें 'प्रबन्धकर्ता' कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि उन्होंने लगभी 190 ग्रन्थों की रचना की थी। उनके 11 नाटकों के उद्धरण 'नाट्यदर्पण' ग्रन्थ में पाये जाते हैं। अनेक दुर्लभ नाटकों के उद्धरण

भी इसमें दिये गये हैं, जिनमें विशाखदत्तविरचित 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक भी है। अन्य साहित्य ग्रन्थों के समान 'नाट्यदर्पण' की रचना भी कारिका शैली में हुई है। उस पर वृत्ति भी ग्रन्थकारों ने स्वयं ही लिखी है। ग्रन्थ में चार 'विवेक' हैं, जिनमें क्रमशः नाटक, प्रकरणादि रूपक, रस, भावाभिनय तथा रूपक सम्बन्धी अन्य बातों का विवेचन किया गया है। इन्होंने रस को केवल सुखात्क न मानकर दुःखात्मक भी माना है। आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य होने के नाते ये गुजरात के सिद्धराज (1093–1143), कुमारपाल (1143–1172) तथा अजयपाल (1172–1174) तीन राजाओं के समय में विद्यमान थे। कहते हैं कि अन्तिम राजा अजयपाल ने किसी कारणवश क्रुद्ध होकर इन्हें प्राणदण्ड दिलवा दिया था। इनका समय 12वीं शताब्दी में निश्चित होता है।

शारदातनय का परिचय (13वीं शताब्दी)

शारदातनय अलङ्कार शास्त्र के नहीं, अपितु नाट्यशास्त्र के आचार्य हैं। इनके ग्रन्थ का नाम 'भावप्रकाशन' है। ग्रन्थ में दस 'अधिकार' अथवा अध्याय हैं। इनमें क्रमशः 1. भाव, 2. रसस्वरूप, 3. रसभेद, 4. नायक–नायिका, 5. नायिकाभेद, 6. शब्दार्थसम्बन्ध, 7. नाट्येतिहास, 8. दशरूपक, 9. नृत्यभेद तथा 10. नाट्य–प्रयोग का वर्णन किया गया है। शारदातनय का नाम उनका राशिनाम नहीं है अपितु वे अपने को शारदा देवी का पुत्र मानकर अपने को 'शारदातनय' कहने–लिखने लगे, इसलिए उनको यही नाम प्रसिद्ध हो गया। उन्होंने अपने 'भावप्रकाशन' ग्रन्थ में भोज के 'शृङ्गारप्रकाश' तथा मम्मट के 'काव्यप्रकाश' से अनेक श्लोकों को उद्धृत किया है। आगे 1320 ई0 के लगभग होने वाले शिङ्गभूपाल ने अपने 'रसार्णवसुधाकर' ग्रन्थ में इन शारदातनय के मत का उल्लेख किया है, इसलिए शारदातनय का समय उनसे पूर्व अर्थात् तेरहवीं शताब्दी माना जा सकता है।

रूपगोस्वामी का परिचय (15–16वीं शताब्दी)

रूपगोस्वामी चैतन्य महाप्रभु के शिष्य प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य हैं। इन्होंने वैष्णव दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं विशाल साहित्य की रचना की है। रूपगोस्वामी तथा सनातन गोस्वामी ये दो भाई थे। दोनों चैतन्य महाप्रभु के शिष्य थे और उन्हीं की प्रेरणा से अपनी जन्मभूमि बंगाल को छोड़कर वृन्दावन में जाकर बसे थे। इनके साथ इनके एक भतीजे जीवगोस्वामी भी हैं। ये तीनों ही वैष्णव धर्म के प्रसिद्ध आचार्य हैं। इनके कारण वृन्दावन को साहित्यिक क्षेत्र में अपूर्व गौरव प्राप्त हुआ है। जीवगोस्वामी ने सनातन गोस्वामी की भागवत–टीका का संक्षिप्त रूप 'लघुतोषिणी' के नाम से प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ में उन्होंने सनातन गोस्वामी तथा रूप गोस्वामी के सभी ग्रन्थों की सूची दी है। इस सूची के अनुसार रूप गोस्वामी के 17 ग्रन्थ हैं। इनमे 1. 'हंसदूत' काव्य, 2. 'उद्धवसन्देश' काव्य, 3. 'विदग्धमाधव' नाटक, 4. 'ललितमाधव' नाटक, 5. 'दानकेलिकौमुदी' भाणिका, 6. 'भक्तिरसामृतसिन्धु', 7. 'उज्ज्वलनीलमणि' (रसशास्त्र) तथा 8. 'नाटकचन्द्रिका' ये आठ ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से भी अन्तिम तीन ग्रन्थ अलङ्कारशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले हैं। इन्हीं ग्रन्थों के कारण अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में इनको महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। इनमें से 'विदग्धमाधव' का रचनाकाल 1533 ई0 तथा 'उत्कलिकावल्लरी' (जिसका उल्लेख ऊपर नहीं आया) का रचनाकाल 1550 ई0 दिया गया है। इससे इनके कालनिर्धारण में सहायता मिलती है। चैतन्य महाप्रभु का समय 15वीं शताब्दी का अन्तिम भाग है। रूपगोस्वामी उनके शिष्य हैं और 1550 में उन्होंने 'उत्कलिकावल्लरी' की रचना की है, इसलिए उनका समय हमने 15–16वीं शताब्दी रखा है।

रूपगोस्वामी के साहित्य शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले तीन ग्रन्थों में से 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' ये दोनों ग्रन्थ रस विषय पर हैं। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण विभाग नाम से चार 'विभाग' हैं। प्रत्येक विभाग अनेक लहरियों में विभक्त हैं। इसमें भक्तिरस को सर्वोत्तम रस सिद्ध करने

का यत्न किया गया है। पूर्व विभाग में भक्ति का सामान्य स्वरूप, लक्षणादि दिये हैं। दक्षिण विभाग में उसके विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव, व्यभिचारि भाव तथा स्थायि भावों का वार्णन किया गया है। पश्चिम विभाग में शान्त भक्तिरस, प्रीत भक्ति रस, प्रेयो भक्ति रस, वत्सल भक्ति रस तथा मधुर भक्ति रस आदि भक्ति रस के विशेष भेदों का निरूपण किया है। उत्तर विभाग में हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, वीभत्स और भयानक रसों का वर्णन और रसों के विरोधाविरोध आदि का दिग्दर्शन कराया गया है। इस ग्रन्थ की रचना 1541 ई0 (1433 शाके) में हुई थी। 'उज्ज्वलनीलमणि' इसका पूरक ग्रन्थ है। उसमें मधुर शृङ्गार का विवेचन है।

रूपगोस्वामी का साहित्य शास्त्र विषय तीसरा ग्रन्थ 'नाटकचन्द्रिका' है। इसकी रचना उन्होंने भरत–नाट्यशास्त्र तथा शिङ्गभूपाल के 'रसार्णवसुधाकर' के आधार पर की है। इसमें विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' में किये हुए नाट्यनिरूपण को भरतमुनि के विपरीत बतलाया गया है।

रूपगोस्वामी के भतीजे जीवगोस्वामी ने उनके 'भक्तिरसामृतसिन्धु' पर 'दुर्गमसङ्गमिनी' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' पर 'लोचनरोचनी' टीकायें लिखी हैं। रूपगोस्वामी तथा सनातन गोस्वामी के समान जीवगोस्वामी भी बड़े उच्च कोटि के विद्वान् थे। ये तीनों आचार्य वृन्दावन के गौरवभूत हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ

अप्पय्यदीक्षित के बाद पण्डितराज जगन्नाथ का नाम आता है। वैसे ये दोनों समकालीन और दक्षिण भारत के परस्पर प्रतिद्वन्द्वी विद्वान् हैं : पण्डितराज जगन्नाथ के पिता का नाम पेरुभट्ट तथा माता का नाम लक्ष्म देवी था। ये तैलङ्ग ब्राह्मण थे। यों इनका जन्म दक्षिण भारत में हुआ था किन्तु इनका यौवन दिल्ली के शाहजहाँ बादशाह के यहाँ बीता था ('दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः')।

'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा
मनोरथान् पूरयितुं समर्थः।
अन्येन केनापि नृपेण दत्तं
शाकाय वा स्याल्लवणाय वा स्यत्।।'

शाहजहाँ के यहाँ रहकर ये दाराशिकोह को संस्कृत पढ़ाते थे। उसके संस्कृत और भारतीय अध्यात्म विद्या के प्रति अनुपम अनुरागादि गुणों को देखकर पण्डितराज ने द्वाराकशिकोह के ऊपर 'जगदाभरण' नाम का एक पूरा काव्य ही बना डाला था। शाही दरबार के सरदार आसफअली इनके मित्र थे। 1641 ई0 में उनकी मृत्यु हो जाने पर उनकी स्मृति में इन्होंने 'आसफविलास' नामक काव्य की रचना की थी।

पण्डितराज कवि होने के नाते बड़े रसिक थे। दिल्ली में आकर वे लवङ्की नामकी यवन कन्या के चक्कर में फँस गये थे। यह यवन कन्या बहुत सामान्य परिवार की थी। सिर पर पानी का घड़ा लेकर जाती हुई उस नवयुवती को देखकर मुग्ध हो गये और बादशाह से प्रार्थना की कि –

'न याचे गजालिं न वा वाजिराजि
न वित्तेषु चित्तं मदीयं कदाचित्।
इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तकुम्भा
लवङ्गी कुरङ्गीदृगङ्गीकरोतु।।'

लवङ्गी के ऊपर यह इतने आसक्त थे कि उसके बिना इन्हें तनिक भी चैन नहीं था और स्वर्ग का सुख भी तुच्छ प्रतीत होता था –

'यवनी नवनीतकोमलाङ्गी शयनीये यदि नीयते कदाचित्।
अवनीतलमेव साधु मन्ये न वनी माधवनी विनोदहेतुः।।
यवनी रमणी विपदः शमनी कमनीयतया नवनीतसमा।
उहि–ऊहि वचोमृतपूर्णमुखी स सुखी जगतीह यदङ्कगता।।'

इत्यादि अनेक श्लोक पण्डितराज ने इस यवन कन्या के विषय में की है। अपना यौवनकाल इन्होंने इस यवन कन्या के साथ दिल्ली में बिताया। ढलती उमर में यौवन का नशा उतरने पर इस पाप का प्रायश्चित करने के लिए 'मधुपुरीमध्ये हरिः सेव्यते',

मथुरा आकर कृष्ण की आराधना में लग गये और अन्म समय में काशी में पश्वगङ्गा घाट पर बैठकर गङ्गा की स्तुति में 'गङ्गालहरी' की रचना की। कहते हैं कि गङ्गालहरी का एक एक श्लोक भक्ति भाव से गाते जाते थे और गङ्गा की धारा इनके पास बढ़ती आती थी (अथवा ये स्वयं गङ्गा की धारा की ओर बढ़ते जाते थे)। 'गङ्गालहरी' के अन्तिम श्लोक के पाठ के साथ गङ्गा ने इनको अपनी गोद में ले लिया और इनकी जीवन लीला समाप्त हो गयी। यह इनके यवनीप्रणय का अन्तिम प्रायश्चित था।

यवनी प्रणय की घटना को लेकर इनके प्रतिद्वन्द्वी अप्पय्यदीक्षित ने इनको जाति बहिष्कृत करा दिया था। इसलिए ये अप्पय्यदीक्षित से और भी अधिक नाराज हो गये थे और अप्पय्यदीक्षित की 'चित्रमीमांसा' के खण्डन में 'चित्रमीमांसाखण्डन' ग्रन्थ लिखा, जिसमें अप्पय्यदीक्षित के लिए अनेक दुर्वाक्यों का प्रयोग किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने बहुत से ग्रन्थों की रचना की, जिनमें 1. 'भामिनीविलास', 2. 'गङ्गालहरी', 3. 'करुणालहरी', 4. 'अमृतलहरी', 5. 'लक्ष्मीलहरी', 6. 'आसफविलास', 7. 'जगदाभरण', 8. 'प्राणाभरण', 9. 'सुधाहलहरी', 10. 'यमुनावर्णनचम्पू' ये सब काव्यग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। भट्टोजिदीक्षित की 'मनोरमा' के खण्डन में 'मनोरमाकुचमर्दन' नामक व्याकरण ग्रन्थ की भी रचना की थी।

अलङ्कारशास्त्र के सम्बन्ध में इन्होंने जो ग्रन्थ लिखा, उसका नाम 'रसागङ्गाधर' है। यह बड़ा प्रौढ़ और विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है। इसमें सारे उदाहरण इन्होंने स्वयं अपने बनाकर दिये हैं। इस बात का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है –

'निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं
काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किञ्चित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः
कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण।।'

किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि पण्डितराज का यह ग्रन्थ अधूरा है। इसमें केवल दो 'आनन' हैं। प्रथम आनन में अन्य सब काव्य लक्षणों का खण्डन करके 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' को काव्य का लक्षण स्थापित किया है। काव्य के हेतुओं में 'प्रतिभा' को ही मुख्य हेतु ठहराया गया है और 1. उत्तमोत्तम, 2. उत्तम, 3. मध्यम तथा 4. अधम, ये चार काव्य के भेद बतलाये हैं। द्वितीय आनन में ध्वनि के भेदों को दिखलाकर अभिधा तथा लक्षणा का विवेचन किया है। उसके बाद 70 अलङ्कारों का वर्णन किया है। उत्तरालङ्कार के विवेचन के बाद यह ग्रन्थ बीच में ही समाप्त हो गया है।

'रसगङ्गाधर' पर नागेशभट्ट कृत 'गुरुमर्मप्रकाशिका' टीका प्रकाशित हो चुकी है। नागेशभट्ट ने गोविन्द ठक्कुर की 'काव्यप्रकाश' पर लिखी 'काव्यप्रदीप' टीका पर वृहत् तथा लघु दो 'उद्योत' भी लिखे हैं। 'उदाहरणदीपिका' मम्मट के ग्रन्थ का विवरण है। उन्होंने अप्पय्यदीक्षित के 'कुवलयानन्द' पर भी 'अलङ्कारसुधा' तथा 'विषमपदव्याख्यानषटपदानन्द' टीका लिखी है। भानुदत्त की 'रसमञ्जरी' की 'प्रकाश' टीका तथा 'रसतरङ्गिणी' व्याख्या भी नागेश भट्ट ने लिखी है।

अभ्यास प्रश्न –

1– प्रश्न –'आचार्य हेमचन्द्र के बाद उनके प्रमुख शिष्य किस–किस का स्थान आता है।
2– प्रश्न –'आचार्य हेमचन्द्र के समान ये दोनों भी किस धर्म के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान हैं।
3– प्रश्न –'रामचन्द्र और गुणचन्द्र इन दोनों ने मिलकर किस नामक एक नाट्यविषयक ग्रन्थ की रचना की है
4– प्रश्न –'शारदातनय किस शास्त्र के आचार्य हैं
5– प्रश्न –'शारदातनय ग्रन्थ का नाम क्या है।

5.4 सारांश

इस इकाई में रामचन्द्र, गुणचन्द्र, शारदातनय, रूपगोस्वामी, पंडितराज जगन्नाथ का जीवन वृत्त, समय, कृतित्त्व के विषय में अध्ययन किया गया है। अप्पय्यदीक्षित के बाद

पण्डितराज जगन्नाथ का नाम आता है। वैसे ये दोनों समकालीन और दक्षिण भारत के परस्पर प्रतिद्वन्द्वी विद्वान् हैं : पण्डितराज जगन्नाथ के पिता का नाम पेरुभट्ट तथा माता का नाम लक्ष्म देवी था। ये तैलङ्ग ब्राह्मण थे। यों इनका जन्म दक्षिण भारत में हुआ था किन्तु इनका यौवन दिल्ली के शाहजहाँ बादशाह के यहाँ बीता था।रामचन्द्र गुणचन्द्र एक नहीं, दो अलग–अलग व्यक्ति हैं, किन्तु दोनों हेमचन्द्राचार्य के शिष्य हैं। इन दोनों ने मिलकर 'नाट्यदर्पण' नामक एक नाट्यविषयक ग्रन्थ की रचना की है इसलिए इन दोनों के नाम का उल्लेख प्रायः साथ–साथ ही किया जाता है। गुणचन्द्र का अपना अलग से कोई और ग्रन्थ नहीं पाया जाता है, किन्तु रामचन्द्र के अलग भी बहुत–से ग्रन्थ पाये जाते हैं जो प्रायः नाटक हैं।शारदातनय अलङ्कार शास्त्र के नहीं, अपितु नाट्यशास्त्र के आचार्य हैं। इनके ग्रन्थ का नाम 'भावप्रकाशन' है। ग्रन्थ में दस 'अधिकार' अथवा अध्याय हैं। इनमें क्रमशः 1. भाव, 2. रसस्वरूप, 3. रसभेद, 4. नायक–नायिका, 5. नायिकाभेद, 6. शब्दार्थसम्बन्ध, 7. नाट्येतिहास, 8. दशरूपक, 9. नृत्यभेद तथा 10. नाट्य–प्रयोग का वर्णन किया गया है।रूपगोस्वामी के साहित्य शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले तीन ग्रन्थों में से 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' ये दोनों ग्रन्थ रस विषय पर हैं। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण विभाग नाम से चार 'विभाग' हैं। प्रत्येक विभाग अनेक लहरियों में विभक्त हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने अलङ्कारशास्त्र के सम्बन्ध में इन्होंने जो ग्रन्थ लिखा, उसका नाम 'रसागङ्गाधर' है। यह बड़ा प्रौढ़ और विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है।अतः इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप रामचन्द्र, गुणचन्द्र, शारदातनय, रूपगोस्वामी पंडितराज जगन्नाथ जीवन वृत्त, समय, कृतित्त्व की जानकारी प्रप्त कर साहित्यशास्त्र के इतिहास में उनके स्थान को समझा सकेंगे ।

5.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
'दिल्लीश्वरः	दिल्ली का राजा
जगदीश्वरः	संसार का ईश्वर
मनोरथान्	मनोरथों को
पूरयितुम्	पूर्ण करने में
समर्थः	समर्थ है
अन्येन	दूसरे के द्वारा
केनापि	किसी से भी
नृपेण दत्तम्	राजा के द्वारा दिया गया

5.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.उत्तर – आचार्य हेमचन्द्र के बाद उनके प्रमुख शिष्य रामचन्द्र और गुणचन्द्र का स्थान आता है।

2.उत्तर – आचार्य हेमचन्द्र के समान ये दोनों भी जैन धर्म के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान हैं।

3.उत्तर – रामचन्द्र और गुणचन्द्र इन दोनों ने मिलकर 'नाट्यदर्पण' नामक एक नाट्यविषयक ग्रन्थ की रचना की है

4.उत्तर – शारदातनय नाट्यशास्त्र के आचार्य हैं

5.उत्तर – शारदातनय के ग्रन्थ का नाम 'भावप्रकाशन' है।

5. 7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.–संस्कृत शास्त्रों का इतिहास बलदेव उपाध्याय प्रकाशक शारदा निकेतन कस्तूरवानगर सिगरा वाराणसी

2– काव्यप्रकाश आचार्य मम्मट विश्वेश्वर कृत हिन्दी व्याख्या सहित चौखम्भा

4. 8 उपयोगी पुस्तकें

1.–काव्यशास्त्र का इतिहास पी0वी0 काणे – काव्यमाला सिरीज

5. 9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. शारदातनय का विस्तार से परिचय दीजिये ।
2. रूपगोस्वामी के मत का उल्लेख कीजिए ।
3.पण्डितराज जगन्नाथ का विस्तार से परिचय दीजिए ।